काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक १४ भाग (१) अक्टूबर १९६८

Subscription Rates (per issue) :—

U.S.A.	...	...	...	$ 1
U.K.	...	...	...	sh. 10
India	...	...	...	Rs. 5.00
B.H.U.	...	...	...	Rs. 3.00

RULES

(1) The "Prajñā", shall, so far as possible, be published twice a year : one issue immediately after the Dipawali, the other immediately before the Holi.

(2) All subscriptions should be sent to the Assistant Editor, "Prajñā", B.H.U. Journal, Varanasi-5.

(3) Articles intended for publication in this Journal by B.H.U. scholars should be submitted to the Faculty Editor before July 20 for the first issue and November 20 for the next issue and should reach the Editorial Board on July 30 and Nov. 30 respectively.

(4) Articles should ordinarily be type-written on foolscap paper on one side only and should not ordinarily cover more than 10 pages. Teacher-authors contributing original articles to the Journal are entitled to receive 50 off-prints gratis and the students will get 25 off-prints.

(5) Article of a highly technical nature will not be entertained.

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक १४ भाग (१) अक्टूबर १९६८

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक

पूज्य महामना

हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृतां
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ।
प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठः हिन्दूनां मानवर्धनः ॥
हिन्दूराज्याधिपतिभिर्धनिकैर्धार्मिकैस्तथा
मिलित्वा स्थापितः सद्भिर्विद्याधर्मविवृद्धये ॥

जन्म :—वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)
मोक्ष :—वि० सं० २००३ मार्गशीर्षकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

विषय-सूची

१. भूमा
रामाधीन चतुर्वेदी १

२. स्याद्वाद
दरबारी लाल कोठिया ३

३ भास्कर के अनुसार मोक्ष का स्वरूप
शिवशंकर ६

4. *The Cancer—A Study in Medical Geography*
Dr. M. N. Nigam 13

5. *Paradise lost and the Waste Land—A Study of Mythical Technique*
Dr. V. Rai 29

6. *Industrial Dynamics and Design of production control system*
Mukund Lal 37

7. *Relation between Population & Economic Development*
R. M. Singh Vishen 51

8. *The Gene Concept*
Dr. B. Rai 59

9. *Planned Change and Individual Freedom*
Dr. Satyendra Tripathi 68

10. *On the Theory of Poetic Belief and Poetic Appreciation*
V. Prasad 77

11. *The Essential Problem*
R. K. Shringy 85

12. *Antibiosis of Soil Micro-Organism*
Dr. R. S. Dwivedi 90

13. *The Nature of Sovereignty in Medieval India*
Dr. J. Chaube ... 97

14. *Man in Nature*
Dr. R. Misra 112

15. *Industry and the Sedimentary Petrology*
Ram Murti 119

16. *Albiruni on Child Marriage*
M. P. Singh 126

17. *Some Introductory Aspects of Modern Algebra*
Dr. P. B. K. Sankar 134

१८. भारत में खनिज उत्पादन की प्रगति
प्रो० निरंजनलाल शर्मा १४८

१९. भारतेन्दु की निरुक्ति
डॉ० श्याम तिवारी १६३

20. *Fertiliser Complex in India*
G. Sukumar 190

21. *Industrialisation and Rural Regional Development*
Dr. D. P. N. Singh 197

22. *Improvement of Essay Type of Examination*
Dr. Lalmani Misra 207

23. *Jean Paul Sartre*
R. K. Tripathi 214

24. *Both Hell & Heaven are Within Us*
U. A. Asrani 220

२५. भारतीय मनोविज्ञान : अध्ययन का एक उपेक्षित क्षेत्र
चन्द्रभाल द्विवेदी २४७

२६. लोक और विश्व
(स्व०) ललित किशोर सिंह २५६

२७. बाढ़ : एक भूवैज्ञानिक विवेचन
उमाशंकर दूबे २६३

२८. नेत्र-रक्षा
डॉ० हरिवल्लभ नेमा २६८

२९. प्रामाण्यविचारः
सुब्रह्मण्यम् शास्त्री २७४

३०. उपमा-विमर्शः
जगदीश चन्द्र शास्त्री २७९

३१. साधना के रूप
गोपाल भट्ट २८५

३२. काव्यप्रकाशोत्कर्षहेतूपादानम्
गोपराजु राम २८९

३३. अवतार-निरूपणम्
रामेश्वर प्रसाद त्रिपाठी २९२

३४. परम्परा और प्रतिभा
मैनेजर पाण्डेय २९६

३५. पूर्वमध्ययुगीन अरब लेखकों द्वारा बौद्धधर्म सम्बन्धी विवरण
डॉ० जयशंकर मिश्र २९९

३६. समाचार-पत्र और जनमत
गिरिजा शंकर सिंह ३०२

३७. परम्परा और आधुनिकता
डॉ० नन्दकुमार राय ३०७

38. *Dr. U. C. Nag—A Tribute*
T. N. S. 310

———

भूमा

रामाधीन चतुर्वेदी

व्याकरण-शास्त्र के अनुसार 'भूमा' शब्द बहु शब्द से इमनिच् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है—जिसका अर्थ है बहुत्व या बड़ा। किससे बड़ा और कितना बड़ा—इसकी चर्चा यहाँ नहीं है; केवल शब्द की सिद्धि का निर्देश है। फिर भी इतना चमत्कार तो अवश्य है कि महर्षि पाणिनि ने भी "बहोर्लोपो भू च बहोः" (६।४।१५८) इस सूत्र संकेत से बहु प्रकृति के स्थान में भू-भाव दिखा कर भूमा की व्यापकता प्रकट कर ही दी है। अस्तु !

भूमा की परिभाषा वेद में स्पष्ट है। छान्दोग्योपनिषद् में सनत्कुमार का नारद से कथन है—"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्ये सुखमस्ति" (७।२३।१) अर्थात् जो 'भूमा' है वही सुख है, अल्पता में सुख नहीं है, अतः उसी को जानना चाहिये। इसके आगे उन्होंने भूमा का परिचय दिया है कि "यत्रनान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा", अर्थात् जिस समय मनुष्य न दूसरी वस्तु को देखता है, न सुनता है, न तो जानता है वही भूमा है। तात्पर्य यह है कि भूमा वह व्यापक भाव है, जिसे प्राप्त कर लेने पर मनुष्य के समक्ष किसी अन्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं रहती, प्रकृति का सारा प्रपञ्च उस समय बिलकुल गायब हो जाता है। द्रष्टा-दृश्य, श्रोता-श्रव्य तथा ज्ञाता-ज्ञेय का भी भेद मिट जाता है; केवल चित्प्रकाश ही शेष रह जाता है। श्रुति का उद्घोष है कि—

> "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं,
> नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
> तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
> तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥"

(कठोपनिषद २।२।१५)

अर्थात् जहाँ सूर्य, चन्द्रमा, तारागण तथा विद्युत् का प्रकाश काम नहीं करता, वहाँ अग्नि के प्रकाश की कथा ही क्या है ? बल्कि वस्तुस्थिति तो यह है कि उसी के प्रकाश से ये सब भासित हो रहे हैं। भाव यह है कि जैसे सूर्योदय होने पर आकाश-मण्डल में रहते हुए भी तारागण नहीं दिखाई देते, उसी प्रकार चित्प्रकाशरूप भूमा की अनुभूति में ये छोटे-बड़े सभी प्रकाश तिरोहित हो जाते हैं और यह संसार स्वप्न के समान मिथ्या हो जाता है। तभी—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का वास्तविक बोध होता है।

यह भूमा भाव ही परमपद है, जिसकी प्राप्ति गुरु कृपा, ईश्वरानुग्रह, सत्सङ्ग तथा प्राक्तन पुण्य पुञ्ज से ही होती है। जो मानव अपने जीवन में इस पद की अनुभति से वञ्चित रह जाते हैं, वे ही शोक-मोह तथा भय से ग्रस्त होकर विषयानन्द के पीछे मृगतृष्णा के समान चक्कर काटते

फिरते हैं। सांसारिक विषयों की तृष्णा तभी छूटती है, जब शिव-भाव प्राप्त होता है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

"निस्वी वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो,
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति ।
चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपति ब्राह्मि पदं याचते,
ब्रह्मा विष्णुपदं हरिः शिवपदं तृष्णावधिं को गतः ॥"

अर्थात् जिसके पास कुछ नहीं है, बहुत गरीब है, वह पहले सौ रुपये की ही प्राप्ति की इच्छा करता है, किसी प्रकार जब उसके पास सौ रुपये हो जाते हैं, तब वह उससे सन्तुष्ट न होकर हजार के लिए उत्सुक होता है, हजार की सिद्धि हो जाने पर लाख की चाहना उसे व्यग्र करती है। इस प्रकार जब वह लखपति बन जाता है तो पुनः सम्पूर्ण पृथ्वी-मण्डल का मालिक बनने की उसकी अभिलाषा जाग उठती है। यों तृष्णा आगे बढ़ती ही जाती है, क्योंकि सार्वभौम राजा के मन में भी यह इच्छा होती है कि इन्द्र-पद के सामने यह पद तुच्छ है, अतः मुझे स्वर्ग का इन्द्र-पद प्राप्त हो जाय। इसी प्रकार इन्द्र को ब्रह्मा के पद की, और ब्रह्मा को विष्णु-पद की तथा विष्णु को भी शिव-पद की अभिलाषा रहती ही है। अतः तृष्णा की अवधि पार करना बड़ा ही कठिन है। इस तृष्णा समुद्र की अवधि तो तब मिलती है, जब मनुष्य नित्य प्रकाश भूमा रूप शिव-पद की अनुभूति में अपने आपको समर्पित कर देता है।

वस्तुतः यह 'भूमा' ही सुख है; और मानव-जीवन की सार्थकता भी इसकी उपलब्धि में ही है।

———

स्याद्वाद

डॉ० दरबारीलाल जैन कोठिया

'स्याद्वाद' जैन दर्शन का एक मौलिक एवं विशिष्ट सिद्धान्त है। 'स्याद्वाद' पद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों से बना है। यहाँ 'स्यात' शब्द अव्यय निपात है, 'क्रिया' शब्द या अन्य शब्द नहीं है। इसका अर्थ कथंचित्, किंचित्, किसी अपेक्षा, कोई एक दष्टि, कोई एक धर्म की विवक्षा, कोई एक ओर, है। और 'वाद' शब्द का अर्थ है मान्यता अथवा कथन। जो 'स्यात्' (कथंचित्) का कथन करने वाला अथवा 'स्यात्' को लेकर प्रतिपादन करने वाला है वह 'स्याद्वाद' है। अर्थात् जो विरोधि धर्म का निराकरण न करके अपेक्षा से वस्तु-धर्म का प्रतिपादन (विधान) करता है उसे 'स्याद्वाद' कहा गया है।[1] कथंचित्वाद, अपेक्षावाद आदि इसी के नामान्तर हैं—इन नामों से उसी का बोध किया जाता है।

स्मरण रहे कि वक्ता अपने अभिप्राय को यदि सर्वथा के साथ प्रकट करता है तो उससे सही वस्तु का बोध नहीं हो सकता और यदि 'स्यात' के साथ वह अपने अभिप्राय को प्रकट करता है तो वह वस्तु-स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन करता है। क्योंकि कोई भी धर्म वस्तु में 'सर्वथा'—ऐकान्तिक नहीं है। सत्व, असत्व, नित्यता, अनित्यता, एकत्व, अनेकत्व आदि भी धर्म वस्तु में हैं और वे सभी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उसमें विद्यमान हैं। सत्व असत्व का, नित्यत्व अनित्यत्व का, एकत्व अनेकत्व का और वक्तव्यत्व अवक्तव्यत्व का नियम से अविनाभावी है। वे एक-दूसरे को छोड़कर नहीं रहते। हाँ, एक की प्रधान विवक्षा होने पर दूसरा गौण हो जायेगा। पर वे धर्म रहेंगे सभी। इसी से वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। इस विषय को जैन विचारक आचार्य समन्तभद्र ने[2] बहुत स्पष्टता के साथ समझाया है। अतः प्रत्येक वक्ता जब कोई बात कहता है तो वह 'स्याद्वाद' की भाषा में कहता है। भले ही वह स्याद्वाद का प्रयोग करे या न करे।

स्याद्वाद का सार्वत्रिक उपयोग

लौकिक या पारलौकिक कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जिसमें स्याद्वाद का उपयोग न किया जाता हो। जीवन के दैनिक व्यवहार से लेकर मुक्ति तक के सभी विषयों में स्याद्वाद का उपयोग होता है और हर व्यक्ति उसे करता है। टोपी, कुरता, धोती आदि जितने शब्द और संकेत हैं वे सब विवक्षित अभिप्रायों को प्रकट करने के साथ ही अविवक्षित गौण अभिप्रायों की भी सूचना करते हैं। यह दूसरी बात है कि उन्हें कहते समय या सुनते समय उन गौण अभिप्रायों की ओर वक्ता या श्रोता का ध्यान न जाय, क्योंकि उसका काम विवक्षित अभिप्राय से सम्पन्न

---

[1] स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः॥
—समन्तभद्र, आप्तमी. का. १०४।

[2] सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहिते॥
सर्वथा-नियम-त्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम्॥
—समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र १०४, १०५।

हो जाता है। पर यह बात नहीं कि वे अविवक्षित अभिप्राय उसमें विद्यमान न हों। स्याद्वाद इसी ऐकान्तिकता का निषेध करता है और अनेकान्त का विधान करता है। और तो क्या, वह अनेकान्त में भी अनेकान्त की योजना करता है और यह अचरज करने की बात नहीं है। जिसे हमने अनेकान्त कहा है वह समष्टि को ध्यान में रखकर ही तो कहा है, पर व्यष्टि (एक-एक धर्म-अभिप्राय) की अपेक्षा से तो वह अनेकान्त नहीं है, एक-एक अभिप्राय है। इस तरह अनेकान्त को भी स्याद्वाद ने समष्टि और व्यष्टि की अपेक्षाओं से अनेकान्त बतलाया है।[1] और यह अतात्त्विक या व्यर्थ जैसी चीज नहीं है। वस्तु ही जब वैसी स्वभावतः हो तो उसकी वैसी ही व्याख्या होनी चाहिए। हमें जो ऐकान्तिक दृष्टि से देखने की लत पड़ी हुई है उसी से हम उक्त प्रकार के प्रतिपादन को अतात्त्विक या व्यर्थ कहने लगते हैं। अतः वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देखना है तो हमें इस एकान्त दृष्टि के सदोष चश्मे को दूर कर स्याद्वाद-दृष्टि के निर्दोष सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र को लगाकर ही वस्तु के स्वरूप को देखना चाहिए और वैसी ही उसकी व्यवस्था करनी चाहिए।

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद

कुछ विद्वानों का कथन है कि स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों एक हैं—एक ही अर्थ के प्रतिपादक दो शब्द हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। इन दोनों में उसी तरह का भारी अन्तर है जिस तरह का प्रमाणवाद और प्रमेयवाद में, या ज्ञानवाद और ज्ञेयवाद में है। वस्तुतः स्याद्वाद व्यवस्थापक है और अनेकान्तवाद व्यवस्थाप्य। अथवा स्याद्वाद वाचक (प्रतिपादक) है और अनेकान्तवाद प्रतिपाद्य। दोनों स्वतंत्र हैं। पर व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक या वाच्य-वाचक सम्बन्ध से वे परस्पर में ऐसे सम्बद्ध हैं, जैसे शब्द और अर्थ, प्रमाण और प्रमेय, ज्ञान और ज्ञेय। इस तरह इन दोनों में बड़ा अन्तर है और दोनों ही भिन्नार्थक हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि स्याद्वाद जब भी वस्तु की व्यवस्था करेगा, तब 'सप्तभङ्गी' के द्वारा करेगा। अतः स्याद्वाद वक्ता का वचनस्थानीय है, अनेकान्तवाद वस्तुस्थानीय है और सप्तभंङ्गीवाद प्रयोग साधनस्थानीय है। चूँकि अनेकान्तस्वरूप वस्तु स्वयं अपने आप में समष्टि और व्यष्टि की अपेक्षा तथा प्रमाण और नयकी विवक्षा से अनेकान्त तथा एकान्त दोनों रूप है। इसलिए उसकी साधन-प्रक्रिया—सप्तभङ्गी भी दो प्रकार की कही गई है। एक प्रमाणसप्तभङ्गी और दूसरी नयसप्तभङ्गी। प्रमाणसप्तभङ्गी के द्वारा स्याद्वाद अनेकान्तस्वरूप वस्तु की अनेकान्तात्मकता का और नय-सप्तभङ्गी द्वारा उसी अनेकान्तस्वरूप वस्तु की एकान्तात्मकता का प्रतिपादन करता है। यहीं इन तीनों—स्याद्वाद, सप्तभङ्गीवाद और अनेकान्तवाद में मौलिक भेद है। यहाँ सप्तभङ्गीवाद से उन सात भङ्गों (उत्तर वाक्यों) के समुच्चय से अभिप्राय है, जिनके माध्यम से वक्ता अपने अभिप्राय को प्रकट करता है और प्रश्नकर्ता के प्रश्नों का समाधान करता है।

अनेकान्तवाद और सप्तभङ्गीवाद

यद्यपि ऊपर के विवेचन से अनेकान्तवाद और सप्तभङ्गीवाद का स्वरूप ज्ञात हो जाता है तथापि उनके सम्बन्ध में थोड़ा प्रकाश और डालना आवश्यक है। 'अनेकान्तवाद' पद में

---

[1] अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

—समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तो० श्लो० १०६

तीन शब्द हैं—अनेक, अन्त और वाद। अनेक का अर्थ नाना है और अन्त का अर्थ यहाँ उसके नानार्थक होते हुए भी धर्म विवक्षित है और वाद का अर्थ मान्यता अथवा कथन है। पूरे पद का अर्थ हुआ नाना-धर्मात्मक वस्तु की मान्यता अथवा कथन। इस तरह नानाधर्मात्मक वस्तु का नाम अनेकान्त और उसके स्वीकार का नाम अनेकान्तवाद है। वस्तु में सामान्य, विशेष, गुण, पर्याय आदि अनन्त धर्म भरे पड़े हैं। उनमें से एक ही धर्म को या एक धर्मात्मक ही वस्तु को स्वीकार करना एकान्तवाद है। सामान्यैकान्त, विशेषैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, नित्यैकान्त अनित्यैकान्त आदि एकान्तवाद हैं। एकान्तवाद के स्वीकार करने में जो सबसे बड़ा दोष है वह यह है कि उन सामान्य-विशेष आदि में से केवल उसी एक को मानने पर दूसरे धर्मों का तिरस्कार हो जाता है और उनके तिरस्कृत होने पर उनका अभिमत वह धर्म भी नहीं रहता, जिसे वे मानते हैं, क्योंकि उनका परस्पर अभेद्य सम्बन्ध अथवा अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु विवक्षित और अविवक्षित धर्मों को मुख्य तथा गौण दृष्टि से स्वीकार करने में उक्त दोष नहीं आता। अतएव अन्तिम तीर्थंकर महावीर ने बतलाया कि यदि अविकल पूरी वस्तु देखना चाहते हो तो उन एकान्त-वादों के समुच्चयस्वरूप अनेकान्तवाद को स्वीकार करना चाहिए—उनकी परस्पर सापेक्षता में ही वस्तु का स्वरूप स्थित रहता और निखरता है। यही अनेकान्तवाद है, जिसकी व्यवस्था स्याद्वाद के द्वारा बतायी जा चुकी है।

सात उत्तरवाक्यों के समुदाय का नाम सप्तभङ्गी है। यहाँ 'भङ्ग' शब्द का अर्थ उत्तर-वाक्य अथवा वस्तुधर्म विवक्षित है। जिसमें सात उत्तरवाक्य या धर्म हों, उसे सप्तभंगी कहते हैं। यह वक्ता की प्रतिबोध्य को समझाने की एक प्रक्रिया है।[१] इसके स्वीकार का नाम सप्तभङ्गीवाद है। इस सप्तभंगी में सात ही उत्तरवाक्यों का नियम इसलिए है कि प्रश्नकर्ता के द्वारा सात ही प्रश्न किये जाते हैं, और उन सात ही प्रश्न किये जाने के कारण उसकी सात ही जिज्ञासाएँ है तथा सात जिज्ञासाओं का कारण भी वस्तु के विषय में उठने वाले उसके सात ही सन्देह हैं और इन सात सन्देहों का कारण वस्तुनिष्ठ सात ही धर्म हैं।[२] यों तो वस्तु में अनन्त धर्म हैं। किन्तु प्रत्येक धर्म को लेकर विधि-निषेध (है, नहीं) की अपेक्षा से सात ही धर्म उसमें व्यवस्थित हैं। वे सात धर्म इस प्रकार हैं—सत्त्व, असत्त्व, सत्त्वासत्त्वोभय, अवक्तव्यत्व (अनुभय), सत्त्वावक्तव्यत्व, असत्त्वावक्तव्यत्व और सत्त्वासत्वोभयावक्तव्यत्व। इन सात से न कम है और न ज्यादा। इन सात में तीन भङ्ग (सत्त्व, असत्त्व और अवक्तव्यत्व) मूलभूत हैं, तीन (उभय, सत्त्वावक्तव्यत्व और असत्त्वावक्तव्यत्व) द्विसंयोगी हैं और एक (सत्त्वासत्वोभयावक्तव्यत्व) त्रिसंयोगी है। उदाहरणस्वरूप नमक, मिर्च और खटाई इन तीन मूल स्वादों के संयोगज स्वाद चार और बन सकते हैं और कुल सात ही हो सकते हैं। उनसे न कम और न ज्यादा।

अतः इन सात धर्मों के विषय में प्रश्नकर्ता के द्वारा किये गये सात प्रश्नों का उत्तर सप्त-भङ्गों—सात उत्तरवाक्यों के द्वारा दिया जाता है। यही सप्तभंगीन्याय अथवा शैली या प्रक्रिया है, जो वस्तुसिद्धि के लिए स्याद्वाद का अमोघ साधन है।

●

---

१ न्यायदीपिका पृ० १२७, तत्त्वार्थवार्तिक १–६, जैनतर्कभाषा, पृ० १९।
२ अष्टसहस्री पृ० १२५, १२६।

भास्कर के अनुसार मोक्ष का स्वरूप

शिवशंकर

शोध छात्र, भारतीय दर्शन एवं धर्म विभाग

मनुष्य मात्र का जीवन जिन ध्येयों को आगे रखकर प्रवृत्त होता है, उन्हें शास्त्रीय भाषा में 'पुरुषार्थ' कहते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार पुरुषार्थ चार होते हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इनमें मोक्ष सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि मनुष्य जीवन के शेष तीनों प्रयोजन विषयों की प्राप्ति कराते हैं, जो बन्धन में डालते हैं, जबकि मोक्ष इन विषयों से छुटकारा दिलाता है। अतएव मोक्ष जीवन का अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है।

इस मोक्ष को प्राप्त करने के मार्ग में अज्ञान ही एकमात्र प्रतिबन्ध है। भास्कर कहते हैं कि शरीर आदि जो आत्मा नहीं है, उनको ही आत्मा मान लेना और ब्रह्म के स्वरूप को न समझना ही 'अविद्या' या 'अज्ञान' है।[1]

जब तक यह अज्ञान दूर नहीं होता, तब तक जीव विविध दुःख-पूर्ण जन्म-मरण चक्र स्वरूप संसार के आवर्तन से युक्त रहता है। आत्म-ज्ञान से ही यह अज्ञान दूर होता है। तदनन्तर जीव का वास्तविक स्वरूप अभिव्यक्त होता है।

जीव अपने कर्मों से ही बन्धन में पड़ता है। उसने जो कर्म पूर्व-जन्म में किये हैं, उन्हीं का फल भोगने के लिए वह इस संसार में विभिन्न योनियों में अवतीर्ण होता है। भास्कर के अनुसार 'यह संसार ही बन्धन है'[2] जो अज्ञान से प्राप्त होता है; इसके विपरीत मोक्ष है, जो तत्त्वज्ञान से प्राप्त होता है। संसार में पड़ा हुआ जीव संचित एवं क्रियमाण कर्मों को करके ही संसार-सागर को पार कर पाता है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) संचित (पूर्वकाल के वे कर्म, जो जमा हैं); (२) प्रारब्ध—(पूर्वकाल के वे कर्म, जिनका फल-भोग हो रहा है); और (३) क्रियमाण या संचीयमान (वे नये कर्म, जो इस जीवन में जमा हो रहे हैं।) जीवन के संचित एवं क्रियमाण कर्मों का क्षय ज्ञान से होता है, जबकि प्रारब्ध-कर्मों का क्षय भोग से होता है।

जीव का कर्मों के साथ संबंध अनादि काल से है, फलस्वरूप जीव जो कर्मजन्य जन्म-मरण चक्र स्वरूप आवृत्ति या संसार दशा को प्राप्त करता है, वह भी अनादि काल से है।

यहाँ पर साधक के मन में शंका हो सकती है कि जो वस्तु अनादिकाल से चली आ रही है, उससे छूटने का तो कोई उपाय नहीं हो सकता। परन्तु ऐसी बात नहीं है। इस विषय में भास्कर कहते हैं कि वर्तमान आवृत्ति दशा से मुक्ति पाने का एकमात्र साधन ब्रह्म-ज्ञान है। ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होते ही जीव इस पंचभौतिक स्थल शरीर को छोड़ देता है और अर्चिरादि मार्ग से जाकर

---

[1] देहादिष्वनात्मसु विपरीतज्ञानं ब्रह्मस्वरूपाप्रतिपत्तिश्च तदुभयं ग्रहणाग्रहणमविद्या।
—ब्र० सू०, भा० भा० १।१।४

[2] संसारबन्धात्। गी० भा० भा० ५।३, ९।१ और ३।२।५ भा० भा०

कार्य जगत् को पार करके परतत्व से मिल जाता है। उस समय जीव अपने वास्तविक स्वरूप से अभिव्यक्त होता है। अपने कथन के समर्थन में वे श्रुति से उद्धरण देते हैं—"जब जीव इस स्थूल शरीर से निकलता है, तब वह परम प्रकाशमान ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त करके अपने वास्तविक स्वरूप से स्थित होता है।[1]

यद्यपि जीव का स्वरूप ब्रह्म का ही स्वरूप है, परन्तु अविद्या के कारण जीव ब्रह्म के स्वरूप को नहीं समझ पाता। अविद्या के दूर होने पर ही जीव का सही रूप झलकता है। जैसे मनुष्य स्वर्गलोक में दिव्य शरीर से स्वर्ग के फलों को भोगते हैं, वैसे ही जीव अपने वास्तविक रूप से ब्रह्म के साथ ऐक्य प्राप्त करता है।

भास्कर कहते हैं कि मुक्त होने के पहले जीव जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति में अविद्या से कलुषित रहता है। परन्तु मुक्त होने के पश्चात् वह समस्त बन्धनों से रहित हो जाता है, और इस संसार से जाने के बाद शुद्ध परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उनके अनुसार अविद्या, काम, कर्म में बीजाङ्कुर संबंध है और ये तीनों मिलकर ही जीव के लिए बन्धन का काम करते हैं। इसी बन्धन से छूट जाना ही मोक्ष-प्राप्ति में सहायक होता है।

जीवात्मा मुक्त होकर परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर उसी से मिलकर स्थित होता है। इस विषय में उन्होंने श्रुति उद्धृत की है—"छान्दोग्य उपनिषद में उद्दालक ने श्वेतकेतु को बताया,—'हे श्वेतकेतु ! तुम वही हो'।"[2]

जीव परमात्मा में मिलकर किस प्रकार स्थित होता है, भास्कर ने इस विषय में कुछ दृष्टान्त दिये हैं—"जिस तरह शुद्ध जल में शुद्ध जल मिलाने से वह जल शुद्ध ही होता है, उसी तरह जीवात्मा परमात्मा में मिलकर परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।"[3] अथवा जैसे घट के फूटने पर घट में प्रतिबिम्बित घटाकाश महाकाश ही हो जाता है, क्योंकि घट फूटने पर उपाधि नष्ट हो जाती है और निरुपाधिक महाकाश शेष रहता है। इसी प्रकार जीव भी शरीर, इन्द्रियादि उपाधियों से रहित होकर परमात्म रूप हो जाता है।

मोक्षावस्था में जीव अपनी अलग सत्ता नहीं रखता, बल्कि परमात्मा से मिलकर स्थित होता है, ऐसा उनका मन्तव्य है। जीवात्मा और परमात्मा में स्वाभाविक रूप से अभेद है, परन्तु औपाधिक दृष्टिकोण से भेद है।

आचार्य भास्कर का अभीष्ट मत है कि मोक्ष ससम्बोध है। मोक्षावस्था में जीव सल्लक्षण, बोध स्वरूप, सत्, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं भिन्नाभिन्न होता है और उसका ज्ञान उससे भिन्न नहीं है।[4]

---

[1] एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसम्पद्यते। —छा० ८।२।२

[2] तत्त्वमसि श्वेतकेतो। —छा० ३।१२।३

[3] पयोदके शुद्धे शुद्धमाशितुं तादृशोभवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।। —क० २।१।१५

[4] ससम्बोधे पुनर्मोक्षे सर्वमुत्पन्नं सल्लक्षणं बोधस्वरूपं सत्सर्वज्ञं सर्वशक्तिर्भिन्नाभिन्नरूपं हि तद्वस्तु नातोऽन्यथा तदवगतिरिति। —भा० भा० ब्र० सू० ४।४।१४

अपने कथन की पुष्टि के लिए भास्कर ने दूसरे के मतों का खण्डन किया है :

आचार्य जैमिनि मानते हैं कि ब्रह्मज्ञानी मुक्तावस्था में ब्रह्मके समान रूप से सम्पन्न होता है । वे कहते है कि मुक्त होकर जीव सत्यकाम एवं सत्य संकल्प युक्त हो जाता है । वे मोक्ष को ससम्बोध मानते है अर्थात् मुक्तावस्था में जीव को ज्ञान बना रहता है । जैसे पक्षी अपने क्रीड़ास्थल में जाते हैं, उसी तरह मुक्त जीव सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होकर ब्रह्मलोक में गमन करता है ।[१]

इसके विपरीत आचार्य औडुलोमि अपना मत प्रकट करते हैं कि जीव मुक्तावस्था में केवल ब्रह्म के चैतन्य स्वरूप से युक्त होता है । वे मोक्ष को सुषुप्ति के समान निःसम्बोध मानते हैं; अर्थात् जैसे जीव को सुषुप्ति में कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, वैसे ही मोक्षावस्था में भी वह निः-सम्बोध या ज्ञानशून्य रहता है ।[२]

इसके अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन के लोग भी ससम्वोध मोक्ष नहीं मानते । उनके अनुसार सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त होने पर दुःख की निवृत्ति ही मोक्ष है । क्योंकि आनन्दादि शब्द दुःख की निवृत्ति बताते हैं । वे कहते हैं कि यदि मोक्ष को सुख रूप मान कर उसमें राग होने के कारण कोई प्रवृत्त हो, तब तो वह बन्धन में ही पड़ेगा, क्योंकि राग बन्धन का हेतु होता है । उनके अनुसार जीवमुक्त होने पर पाषाण तुल्य चेतनाशून्य होता है ।[३]

भास्कर ने वैशेषिक का खण्डन किया है । वैशेषिक मतानुयायी यह मानते हैं कि यदि मोक्ष में सुख-प्राप्ति माना जाय तो, उसमें रहग होने के कारण, जीव पुनः बन्धन में पड़ेंगे, क्योंकि राग बन्धन का हेतु है । उनका वह मत ठीक नहीं ।

शास्त्रों ने राग और बन्धनादि का अच्छी तरह विवेचन किया है । जैसे अपनी पत्नी का गमन करना धर्म है, एवं दूसरे की पत्नी का गमन करना अधर्म है, उसी तरह विषय से सम्बन्धित राग बन्धन का हेतु है, जबकि निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म के विषय में राग मुक्ति का हेतु होता है ।[४]

भास्कर का वैशेषिक मत के विरोध में कहना है कि यदि मोक्षावस्था में मुक्त जीव पाषाण के सदृश चेतनाशून्य एवं आनन्द रहित रहता है और जीव को कोई बोध नहीं रहता तो उस वैशेषिकी मुक्ति की अपेक्षा वृन्दावन में शृगाल बनकर रहना श्रेयस्कर है, परन्तु उस तरह मुक्त होना अच्छा नहीं ।[५] उस आचार्य का यह अभिप्राय है कि साधक मुक्ति के लिए महान् प्रयत्न करता है, और यदि सारे प्रयास के फलस्वरूप उसे एक निर्गुण अवस्था ही उपलब्ध होगी, वह ऐसा समझे तो शायद मुक्ति के लिए प्रयास ही न करे ।

---

[१] स तत्र पर्येति पक्षिक्रीडं नीयमानः सर्वज्ञः सर्वशक्तीरित्यादि—ग्रहणं ससम्बोधो मोक्ष इति जैमिनेरभिप्रायः । —भा० भा० ४।४।५

[२] वही, ४।४।६

[३] वही, ४।४।७

[४] विषयविषयोरागो बन्धहेतुर्निरतिशयानन्दब्रह्म विषयो मुक्तये । —भा० भा० ४।४।७

[५] वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
न च वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामि कदाचन ॥ —भा० भा० १।१।४

वे कहते हैं कि जिस तरह लौकिक पुरुष पहले अपने पिता के पास पहुँचने का संकल्प करता है और बाद में उसके पास पहुँच जाता है, वैसे ही मुक्त होने पर जीव को संकल्प से पितृ आदि लोक के भोगों की प्राप्ति होती है, क्योंकि मुक्त पुरुष का संकल्प सत्य होता है । श्रुति भी इस बात का समर्थन करती है ।[१] मुक्त जीव का संकल्प अवंध्य होता है, इसीलिए उसका कोई अधिपति नहीं होता, वह स्वतंत्र होता है । वह सभी लोकों में अपनी इच्छा से विचरण करता है ।

भास्कर कहते हैं कि मुक्त जीव को शरीरेन्द्रियादि नहीं रहते । वह केवल मन से ही भोगों को प्राप्त करता है । जैसे स्वप्न काल में मन से ही सुख का उपभोग किया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मलोक में भी मुक्त जीव मन से इन सभी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है ।[१]

वे कहते हैं कि जैसे जाग्रत दशा में शरीर रहता है, और स्थिर स्थूल पितादि के भोग प्राप्त होते हैं । इससे स्पष्ट होता है कि मोक्ष ससम्बोध है, जो कि श्रुतिसिद्ध है ।

आचार्य बादरायण कहते हैं कि मुक्त जीव को मोक्षावस्था में शरीरेन्द्रियादि नहीं रहते । वह केवल मन से ही सभी भोगों को प्राप्त कर लेता है ।[२]

इसके विपरीत आचार्य जैमिनि का मत है कि मुक्त जीव को शरीरेन्द्रियादि रहते हैं, क्योंकि श्रुति में जीव के विकल्पों का कथन किया गया है कि मुक्त जीव एक प्रकार से, दो प्रकार से होता है (छा० ७।२६।२) । दोनों प्रकार की श्रुति होने से आचार्य बादरायण दोनों मतों को मानते हैं । चूँकि जीव सर्वशक्तिमान होता है और उसका ऐश्वर्य के साथ सम्बन्ध होता है । इसलिए वह स्वेच्छा से शरीरादि ग्रहण करता है तथा नहीं भी करता । आचार्य बादरायण कहते हैं कि जैसे द्वादशाह यज्ञ एक ही है, किन्तु 'सत्र' और 'अहीन' के भेद से उसके दो रूप हैं, वैसे ही मुक्त पुरुष का शरीर युक्त और शरीरविहीन होना दोनों ही सम्भव है ।

इस प्रकार उन्होंने अपने मत के साथ-साथ अन्य आचार्यों का मत भी उल्लिखित किया है ।

भास्कर कहते हैं कि जब जीव मुक्त होता है तब संकल्प से ही बहुत से शरीरों को बना लेता है और उन्हीं से भोग करता है ।

वैशेषिकों का कहना है कि जो मन पूर्व से मुक्त हुए रहते हैं, उन्हीं को लेकर जीव संकल्प से निर्मित शरीरों से भोग का अनुभव करता है । भास्कर उपरोक्त सिद्धान्त का खण्डन करते हैं । वे कहते हैं कि कोई भी मुक्त मन पूर्व से स्थित नहीं रहते, क्योंकि इस विषय में प्रमाण मिलता है । भास्कर कहते हैं कि बिना मन के और अचेतन शरीर से कोई भी भोग नहीं हो सकता । अतः वह भी मत ठीक नहीं ।

चूंकि जीव सर्वशक्तिमान होता है, जिससे वह सभी शरीरों में चेतनता और मन का सद्भाव उत्पन्न कर लेता है । जिस तरह जहाँ-जहाँ तेल और वर्त्तिका संयोग होता है, वहाँ दीपक हो जाता है ।

भास्कर का कहना है कि जीव के अनेक शरीरों में जाने का दृष्टान्त शास्त्र से ही प्राप्त होता है । जब मुक्त जीव परमात्म स्वरूप होता है, तब वह यद्यपि सृष्टि-भेद के पूर्व एक रूप

---

[१] स यदि पितृलोककामोभवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति । —छा० ८।२।१

[२] तथा ब्रह्मलोके मनसैतान्कामानिति । —छां० ८।२।१

रहता है। फिर भी सृष्टिकाल में एकधा, पंचधा इत्यादि अनन्त भेदों वाला हो जाता है। पुनः संहार काल में अपने मूल पारमार्थिक एकधा भाव को ही प्राप्त हो जाता है। भास्कर कहते हैं कि जो जीव परमात्म भाव को प्राप्त हो जाता है, उसको ज्ञान और कर्म के सामर्थ्य से सभी वस्तुओं को बिना विषय बनाये सामान्य ज्ञान आविर्भत होता है।[१]

मुक्त जीव का ऐश्वर्य **सावधिक** होता है जबकि परमात्मा का **निरवधिक**। अनादि सिद्ध ईश्वर ही जगत् की सृष्टि करने में समर्थ है, क्योंकि प्रकरण से परमात्मा ही सृष्टिकर्त्ता सिद्ध होता है। श्रुति भी सृष्टि के पहले परमात्मा को ही बताती है।[२]

वेदान्त के उस (सृष्टि) प्रकरण में परमात्मा से भिन्न जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं सुनाई पड़ता। अतः जीव का ऐश्वर्य सावच्छेद है और परमेश्वर के ऐश्वर्यों का अनुसरण करने वाला है।

जो सूर्य-मण्डल समस्त लोकों पर अनुग्रह करने में प्रवृत्त है, उसका भी ऐश्वर्य ईश्वर के अधीन ही है, न कि स्वतंत्र। आदित्य में स्वः, ब्रह्म में मह लोक और स्वराज्य तथा अणिमादि लक्षण वाले ऐश्वर्य भी उस ईश्वर की ही उपेक्षा करते हैं, क्योंकि मनुष्य इन ऐश्वर्यों को उत्पन्न नहीं कर सकता।

भास्कर कहते हैं कि मुक्त जीव परमात्मा के सभी ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है। परन्तु वह सृष्टि-कार्य करने में समर्थ नहीं है।[३]

भास्कर के अनुसार परमेश्वर संबंधी ऐश्वर्य नित्यसिद्ध है, वह अपनी महिमा में स्थित है, विकारों में रहने वाला है तथा विकारों में नहीं भी रहने वाला है।[४] इस विषय में दोनों प्रकार की श्रुतियाँ मिलती हैं। जैसे—"उस परमेश्वर की उतनी महिमा है कि उसके तीन चौथाई में द्युलोक में अमरता है और एक पाद में समस्त भूत है।"[५] जो कार्य ब्रह्मलोक में पहुँच कर मुक्त होते हैं, उनको ऐश्वर्य संकल्प से ही प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ ऐसी हैं, जो यह दिखाती हैं कि परमात्मा का ऐश्वर्य विकारों में रहने वाला नहीं है।

"परमात्मा की ज्योति सबको अनुगृहीत करती है—"उस ब्रह्म लोक में न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और तारे।"[६] "उस ब्रह्म को न सूर्य, न चन्द्र और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकते हैं।"[७]

मुक्त जीवों का ऐश्वर्य निरंकुश होता है, क्योंकि उनमें और ईश्वर के भोग में समानता है। आदित्य में स्वः और ब्रह्म में महलोक, स्वराज्य को प्राप्त करना, मनस्पति होना, संकल्प से शरीर निर्माण करके भोग करना, समस्त कामों को प्राप्त करना इत्यादि जीव के ऐश्वर्य परमात्मा के अधीन है, ऐसा भास्कर का मन्तव्य है।

---

१ भा० भा० ४।४।१६

२ छा० ६।२।१

३ जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंन्निहितत्वाच्च। —भा० भा० ४।४।१७

४ भा० भा० ४।४।१९

५ छा० ३।१२।६

६ कठ० २।२।१५

७ गी० ९।१०

भास्कर कहते हैं कि इस संसार से प्रयाण या प्रस्थान करने के दो मार्ग हैं—(१) पितृयान मार्ग तथा (२) अर्चिरादि मार्ग। जो जीव इष्टा पूर्तादि साधनों का अनुसरण करते हैं, वे पितृयान-मार्ग से जाते हैं। परन्तु स्वर्ग-लोक उन्हें कुछ निश्चित काल तक फल भोग करने के बाद फिर पृथ्वी पर लौटना पड़ता है।

इसके विपरीत जो जीव अर्चिरादि मार्ग से गमन करते हैं, वे परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करते हैं। उन्हें फिर इस संसार में लौटना नहीं पड़ता। वे जन्म-मरण से छुटकारा पा जाते हैं। यही मुक्ति जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

वे कहते हैं कि जो कोई मुक्त जीव अर्चिरादि मार्ग से जाकर कार्य ब्रह्म लोक को अर्थात् हिरण्यगर्भ को प्राप्त करते हैं और जो उसके उपासक हैं, जो साक्षात् परमात्मा को प्राप्त करने के लिए स्थित हैं अथवा उस परमात्मा की आराधना में तत्पर हैं, वे सभी इस संसार में नहीं लौटते। एक बार मुक्त होकर वे फिर मानव आवर्त्त में नहीं पड़ते। वे मुक्त जीव ब्रह्म-लोक को प्राप्त हो जाते हैं। उस ब्रह्मलोक में ही सभी वेद, सभी देवता सन्निविष्ट हैं। मन्त्र के वर्णों से भी ऐसा ही स्पष्ट होता है—"पंच अरों वाले चक्र में समस्त भुवन स्थित है, पहले उसके भीतर प्रविष्ट होकर, फिर परमात्मा को प्राप्त करके, उसके साथ ऐक्य प्राप्त करके, मुक्त जीव उस ब्रह्म में प्रसन्न होते हैं।"[१]

भास्कर दो प्रकार की मुक्ति मानते हैं : (१) क्रम-मुक्ति (२) सद्यो-मुक्ति। जो जीव साक्षात् ब्रह्म की ही उपासना करते है, वे तुरन्त ही मुक्त हो जाते हैं। यही 'सद्योमुक्ति' है परन्तु जो हिरण्यगर्भ को प्राप्त करके शुद्धान्तःकरण प्राप्त करते हैं, उन्हें कार्य ब्रह्मलोक में प्रकृष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है। उसी विवेक-ज्ञान के साथ ही वे मुक्त हो जाते हैं। यही 'क्रम-मुक्ति' है।

भास्कर के अनुसार शरीर छूटने के बाद जो मुक्ति प्राप्त होती है उसे 'विदेह-मुक्ति' कहते हैं। यह आत्यंतिकी है अर्थात् सर्वदा के लिए होती है। विदेह-मुक्ति के बाद साधक पुनः संसार में लौटकर नहीं आता। परन्तु जीवित अवस्था में राग, द्वेष, मोह और उनके मदादि अंगों से मुक्त हो जाना ही 'जीवन्मुक्ति' है।

भास्कर जीवन्मुक्ति का खण्डन करते हैं। जब तक प्रारब्ध कर्म रहते हैं, तब तक यह शरीर रहती है। उनके अनुसार ज्ञान से सभी संचित एवं क्रियमाण कर्मों का नाश होता है, परन्तु प्रारब्ध कर्मों का नाश केवल भोग से होता है।[२] अतः जब तक प्रारब्ध कर्म रहते हैं, तभी तक यह शरीर रहता है। और शरीर रहने पर मनुष्य के लिए कर्म करना आवश्यक है। इसलिए उसे जीवित अवस्था में मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। अपने कथन की सिद्धि के लिए वे

---

[१] ततः परमात्मानं प्रतिपद्य तेनैकीभूतास्तस्मिन्ब्रह्मणि मोदन्त इति।
—भा० भा० ४।४।२२

[२] प्रारब्धकर्म फलभोगक्षये सवषां मुक्तिरुक्ता।
—गी० भा० भा० ८।१६, पृ० १८७, ५।१३, पृ० १४३, २।५१, पृ० ७३

श्रुति से उद्धरण देते हैं—"विद्वान को मुक्ति के लिए तभी तक देर है, जब तक वह इस संसार से नहीं छूट जाता।"[१]

भास्कर जीवन्मुक्ति के खण्डन में निम्नलिखित तर्क देते हैं—यदि कोई जीवित रहते ही मुक्त हो जाय तो वह सर्वज्ञ होने के कारण सबके हृदय की बातों एवं भावों को जान लेगा, क्योंकि जीव मुक्त होने पर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हो जाता है।

अद्वैती प्रश्न करता है कि क्या आप सर्वज्ञ की व्याख्या इस प्रकार करते हैं ?—जो 'सर्व' है (व्यापक है) और 'ज्ञ' है (चेतन है), वही 'सर्वज्ञ' है। इसका उत्तर भास्कर देते हैं कि तुम्हारे अद्वैत दर्शन के मत से मोक्षावस्था में सब कुछ निवृत्त हो जाता है, केवल चैतन्य ही शेष रह जाता है। अतः तुम्हारे दर्शन के अनुसार यदि हम विग्रह करें तो हम 'सर्वज्ञ' का ऐसा विग्रह नहीं कर सकते, क्योंकि तुम्हारे अद्वैत दर्शन में ऐसी मान्यता है कि मोक्ष में आत्मा का शरीर, इन्द्रियादि से संबंध दूर हो जाता है। जिससे दुःख-सुख नहीं होते और उसमें केवल सत्ता एवं चैतन्य की निहित शक्ति विद्यमान रहती है। परन्तु यदि हम श्रुति का आश्रय लें तो हमें 'सर्वज्ञ' का ऐसा ही विग्रह करना होगा तथा मोक्षावस्था में जीव सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होता है, ऐसा मानना होगा। उनके अनुसार 'सर्वज्ञ' वही है जिसमें सर्वव्यापकता के साथ चेतनता भी हो। अतः भास्कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीव जीवितावस्था में सर्वज्ञ होकर मुक्त नहीं हो सकता।[२]

———

[१] छा० ६।१४।२

[२] अतो जीवदवस्थायां न मोक्षः। —भा० भां० ३।४।२६

× × ×

तस्मादिहैवमुक्तिरित्यपसिद्धान्तः। —९।१, गी० भा० भा०, पृ० १९३

THE CANCER—A STUDY IN MEDICAL GEOGRAPHY

Dr. M. N. NIGAM

Medical Geography is a new branch added to the vast field of geographical discipline. We know that all the diseases of the world can be included in to two groups.—

(*a*) Deficiency diseases and

(*b*) Communicable diseases.

Deficiency pertains to the actual and the required diet of the people in different parts of the globe. This all can be found out after intensive geographical survey of land and its production, and its per capita ratio. Communicable diseases depend on the density of population and settlement on the one hand, and the wind direction and mobility of the people on the other. Thus Medical Geography has to cover a vast field. It deals with the geographical distribution of diseases, scrutinizing, computing and embodying the data in maps to provide an instant visual impression and then to suggest associations between environment and diseases. It also suggests new ideas about the causation of disease and eventually leads to the introduction of appropriate preventive measures. The maps prepared can serve as complimentary and epidemiological tool for the medical Scientists, and provide an invaluable reference for workers in public health and social services.

There are many diseases in this world whose causes and cures still baffle the minds of the experts. Heart diseases and cancer (malignant neoplasm) may be put at the top in their lists. From the mortality point of view cancer may stand second in importance to heart diseases. It was responsible on an average for 1,07,359 deaths annually during the 1954-58 period in the United Kingdom. In India, the incidence is put at about 8.5 per thousand of the population or 425,000 per year. It is due to this fact that the author chose to present a geographical approach to this problem.

Geographical Pathology of Cancer[1]

Epidemiological Surveys of the cancer in the human body have been extensively carried on in U.S.A., Great Britain and India. During the last decade there have been reporton Cancer from the most distant countries of the world and these reports have revealed very remarkable and striking differences in the occurence of various forms of Cancer, suggesting that there may be specific causative factors. Each country appears to have its own dominant cancer problem.

The distributional pattern of the disease is related to the physical, racial and/or cultural environments. This relationship is sometimes with some climatic factor, water supply, population, soil or micro organisms etc. Its regional variation may reflect the variety of traditions, the habits, the diets, age, heridity, social and religious customs or the occupations. However the different communities in India present exceptional opportunities for an investigation of this character as there is still a paucity of inter-marriages between the different castes and communities. Even when economic necessity, industrialization and urban concentration cause people to migrate from one part of the country to another, every effort is made by them to retain their original dietary habits, cultural details, and original groupings. Thus a division of the people according to religions, sectors, groups and sub-groups, that bewilders the foreigner, affords interesting human material for observation in geographic pathology of commonly observed cancers in India.

---

[1] Geographical pathology is defined as "The comparative study of the incidence of disease and the distribution of physiological traits in people belonging to different communities throughout the world on the one hand and the co-relation of these data with features of the social and geographical environments of the other. This implies comparative studies between different ethnic, national or social groups. The aim of geographic pathology is not limited to answering the question who has what and where, but it includes also the question why ? Thus it may help to elucidate the etiology of the disease and find a base for subsequent epidemilogical research in Cancer in different areas.

The Collection of Data

We all know the limitations of the collection and availability of data in India. I have depended on the data regarding cancer obtained from institutions engaged in cancer diagnosis, treatment and research. Although this method has its limitations, it yields very valuable information when suitably applied.[1]

The detailed information on nearly 1,25,000 proved cases of cancer, collected from these institutions is utilised sparingly in this paper. Besides more detailed informations were available from the Pathology Department of the Assam Medical College Dibrugarh, where during the 12 years period from 1949-1960, 2493 tumers were diagnosed. These specimen were selected from 35,405 patients admitted to the various wards of the Assam Medical Hospital, different district hospitals, tea garden hospitals, missionary hospitals and also received from private practitioners through out Assam.

Distribution of Cancer Cases

The experiments of the last 25 years show that the oriental people are as susceptible to Cancer as any other members of human race although its site incidence in the body is different. In Table No. 1 ,the Indian data is compared with those of 5 other selected countries. The comparision brings to light some interesting points.

---

[1] These institutions with full facilities for diagnosis and treatment of cases are located at Ludhiana, Delhi, Agra, Kanpur, Patna, Calcutta, Jodhpur, Ratlam, Ahmadabad, Bombay, Hyderabad, Miraj, Banglore, Manglore, Madras, Vellore, Naloor Trivendram and Dibrugarh. They are spread widely over the whole country. Hence patients from the surrounding region of each institute come to nearest centre, so that it serves as an index to the disease as prevaling in a region and the findings recorded at the institute may be taken as representative of the area as a whole Orissa, Jammu and Kashmir States do not have any representative institute of their own.

TABLE 1

	Oral cavity and pharynx	Digestive organs	Respiratory organs	Breast	Female Genital Organs	Male Genital Organs	Other Sites
India	34.9	10.2	1.6	7.4	22.1	4.0	19.8
Japan	2.8	39.0	7.3	5.3	30.9	1.4	13.7
Scandinavian Countries	2.5	33.1	7.0	11.1	13.0	6.2	27.1
Soviet Union	4.6	36.6	12.3	6.3	13.1	—	27.1
United Kingdom	4.2	22.9	16.2	14.4	10.1	3.7	28.5
United States	3.4	29.3	8.7	10.9	11.5	5.6	30.6

It seems that the entire digestive tract is the most common site for the development of cancer. In India, the oral cavity and pharynx are affected more frequently than in the digestive tract below the level of the cervical orifice of the stomach. In Iceland cancer of the mouth, pharynx and larynx is rare, but it is very high in Bangkok, Vietnam, Singapore, Philippine, Islands and Ceylone.

The lung cancer, which is so far infrequent in India, has been a serious public health problem in many Western Countries. The percentage of breast cancer in India is almost half that observed in the United Kingdom and Scandinavian countries, but it is higher than that in Japan and Soviet Union. In several countries the percentage of cancer of the cervix is much lower than that in India and Japan. Malignant neoplasm of the male genital organs are extremely rare in the Soviet Union. They are infrequent in Japan but at the same time cancer of the female genital organs is very frequent. A similar study of the incidence of cancer according to sites among the various geographic regions of India may be useful for their distributional pattern and their etiology. Table No. 2 gives the comparative incidence of cancer according to sites.

TABLE 2
Cancer in India by Sites
(Percentage of total cases investigated at different research Institutes)

	Oral Cavity oropharynx & Hypopharynx	Digestive Organs	Lungs	Breast	Female Genital Organs	Male Genital Organs	Other sites
Ahmedabad	42.1	9.0	1.5	10.5	11.5	1.6	23.7
Bombay	45.9	13.0	1.5	6.7	13.8	2.9	16.3
Miraj	27.2	4.8	0.8	9.4	23.6	7.3	26.9
Manglore	28.8	26.5	3.7	4.8	10.2	12.0	14.0
Trivendrum	8.4	10.6	0.1	9.7	18.4	8.5	44.3
Madras	37.0	12.0	1.9	5.3	25.1	3.1	15.6
Vellore	24.9	13.6	1.1	5.4	24.5	8.5	22.0
Banglore	19.7	6.9	1.0	3.9	53.2	4.0	11.3
Hyderabad	21.5	4.7	1.8	11.5	34.0	4.1	22.4
Calcutta	35.8	10.9	2.8	5.7	27.0	2.3	15.5
Patna	36.2	2.0	0.5	8.2	28.6	2.9	21.6
Agra	32.6	3.0	0.3	4.4	34.6	4.8	20.2
Ludhiana	3.8	6.8	0.8	4.3	41.3	1.9	41.1
Jodhpur	7.3	16.9	3.6	16.4	25.5	5.4	24.9
Ratlam	26.4	11.5	1.5	11.5	29.8	4.8	14.5

Mouth Cancer

From the table it is quite clear that cancers of oral cavity pharynx and female genital organs (cervix cancer) are the highest and commonest neoplasms almost all over the country. They show a striking variation in distribution of people in different parts of the country. The highest percentage of oral and pharyngeal cancer is 45.8 for Bombay. The next highest is 42.1 for Ahmedabad. For Agra it is 32.6; Trivandrum, Dibrugarh, and Jodhpur have less than 10.

Geographically, oral cavity appeares to be more common towards the South (although a slight rise is also noted in Patna and Agra). This increase is attributed to an increase of cases involving the buccal-mucos. Where oral carcinoma is less

frequent it is often balanced by an increase in cancer of the oropharynx or the hypopharynx e.g. in the states of Gujrat, Rajasthan and Punjab ; and in the remote cities of Calcutta and Bangalore.

The base of tongue in the oropharynx and the piriform sinus in the hypopharynx are the most common sites affected. Men are more often affected with cancer in the oropharynx and in the hypopharynx whereas women have more cancer in the oral cavity.

Agra indicates that the percentage of oral cancer cases are exceptionally high (about 85) in the Western districts of U.P.

TABLE 3

(*Showing Analysis of Oral Cancer according to districts of U.P.*)

Districts	Percentage	District	Percentage
Mainpuri	42.0	Bijnor	1.64
Agra	16.4	Mathura	2.0
Kanpur	9.2	Banaras	1.6
Aligarh	8.4	Lucknow	1.20
Etah	4.05	Moradabad	0.8
Etawah	4.0	Hardoi	0.8
Farrukhabad	3.7	Pilibhit	0.4
Budaun	2.4	Outside U.P.	2.0

The above table shows that 42.0% cases come from Mainpuri alone. The District is known for its Mainpuri tobacco.

TABLE 4

(*Incidence of Oral Cancer according to site.*)

Place	Buccal Mucosa %	Ton gue %	Palate %	Lips %	Alveolar %	Tonsils %
Agra (1944)	53.6	31.36	5.86	3.06	4.18	1.30
Bombay (1944)	16.5	52.20	6.2	1.7	6.0	—
Visakhapatnam (1945)	15.4	27.70	36.8	7.0	4.9	—
Patna (1945)	28.20	18.2	11.2	12.6	21.0	—
Travancore (1944)	45.50	13.00	—	6.0	35.0	—

The above table clearly shows that the tongue is most frequent site and accounts for more than half of the cases of cancer in Bombay in 1944 (which has gone down to about one fourth in 1964). While incidence seems to be quite different in the series of Agra where carcinoma of buccal muccosa is most frequent. Palate involvement is more common at Vishakhapatnam than at any other place.

In Bombay cheek cancer is seen more commonly in Daccani Hindus who work mainly as gardeners. Cancer of the base of tongue and tonsil is more than twice as common in Gujrat Hindus as in Daccani Hindus in Bombay. Whereas, Cancer of lower lip (Khaini-Cancer) is frequently seen in Bombay, but in Bihar and the adjacent area of U.P. it is found to be the common variety of mouth cancer. Cancer of hard palate (or chutta Cancer) appears to be fairly common in Andhra Pradesh.

The distribution of cancer in the digestive tract varies greatly from country to country. Indeed the high rate of cancer of the oesophagus in Bombay, cancer of the stomach in Mangalore, cancer of the rectum and anal canal in Hyderabad and Agra, and Cancer of the liver and gall bladder in Calcutta cannot be accounted. However, it may be noted that in the Indian patients there is a high percentage of cancer of the anal canal. In the state of Gujrat carcinoma of the stomach is in frequent.

Cancer of Genital Organs

In different parts of the country cancer of the genital organs varies from 2% to 20% of all malignant neoplasms. In the United States and Scandinavian countries, the low rate of cancer of the penis and testicle and, the relatively high rate of cancer of the prostate is very well marked. In Japan cancer of the genital is rare and the disease occurs at similar rate at the 3 sites. Although the total frequency of the disease is less in India, Ceylon and China than in the other countries, the proportions of cancer of the penis is high.

The women in India generally suffer from the cancer of the cervix, next in order of frequency is the cancer of the breast.

In Assam of a total of 283 cases of primary carcinoma in the females there were 142 cases (50.2%) of the cancer of the cervix and 64 cases of breast cancer. In Banglore where 53.2 percent of the cses were those of female genital organs, the incidence of cervix cancer was highest.

The distribution of cancer of the breast and of the cervix in women of different religions, groups or communities in Bombay was studied in detail. Almost one half of all cancers in Hindu women occur in the cervix and the breast is affected in only 14% of Hindu Women. This proportions is reversed in Parsee women, in whom the breast is the seat of cancer in 50% and the cervix in 19% of all those affected with cancer. Muslim women have a low but even distribution of cancer of the cervix (21%) and the breast (20%).

The incidence of cervix cancer from four hospitals is given below :

TABLE 5

1.	S. N. Hospital, Agra	31.09%
2.	Tata Memorial Hospital, Bombay	12.25%
3.	Chitranjan Cancer Hospital Calcutta,	23.30%
4.	Assam Medical College, Dibrugarh	3.18%

Carcinoma of cervix occurs in younger age group in India as compared to Western countries. Maximum incidence is found between 20 and 40 years. The incidence of carcinoma of breast is higher in the South than in the North of India. It is indicated from the following table for females for 1958 :

TABLE 6

U.P. (Agra)	7.08%
Andhra	13.4%
Madras	20.8%

Cancer of Larynx (Wind Pipe)

Laryngeal cancer shows highest incidence in Assam in our country.

TABLE 7

Dibrugarh	22.28%
Bombay	12.53%
Agra	0.13%

Among the group of infrequent cancer that occurs in India, carcinoma of the skin and carcinoma of the thyroid gland deserve special mention. Cancer of exposed parts of skin is much less frequent in dark complexioned people than people with light complexioned skin. Skin cancers are only one percent of all cancers in India. Despite their uncommon occurrence in the country as a whole, the frequency of both is higher in the State of Kerala than in the rest of the country. It is also common in Kashmir.

A study of primary malignant tumors of bone registered at the Tata Memorial Hospital revealed a striking preponderance of Enoving sarcoma. This tumor is uncommon in other parts of the country.

Cancer in Infancy

In infancy and childhood (from birth to 14 years) the cancers follow a slightly different pattern in India than in some Western countries. The figures show the type of malignant tumors encountered and their distribution in 498 patients seen at the Tata Memorial Hospital in Bombay.

The above survey of cancer cases in different parts of India and other countries provides enough opportunities for interpretation. The susceptibility to develop cancer is practically the same in various parts of the words as studied by human biologist. The cancer occurs in all climates and in all races i.e. in cold climates like Iceland and hot climates like the Tropical Africa. It occurs at high altitudes of Columbia plateau and Kashmir, in dry region like Jodhpur and wet region like Trivendrum. That is it is found universally. However the incidence of malignant neoplasm of some regions and organs of the body is most often dissimilar in different groups of population.

varying to a large extent from one country to another and from one area to another in the same country. Environmental factors and racial susceptibility are believed to be responsible for such variations. Some words of caution must however be added. Even when large differences in frequency are found it does not necessarily follows that it will be easy to recognise the clue to causation which is presumed to be associated with them.

There are hardly any instances to prove that the physical environment is responsible for the present distribution of cancers of different types. No soil, vegetation, altitude, climate or weather condition can be associated with them. But it is being realised that cancer of the skin is common in white skinned person living in tropics. A primary liver cancer belt stretching from Africa (Algeria, Senegal and Sudan) through Indonesia, into China and Japan has been suggested,. It is possibly connected with dietary dificiency. The air borne radiation is closely related in the genesis of the increasing respiratory cancer among the U.S. uranium miners. This is further evidenced by uranium mining operations in many European countries.

Two main conclusions may be drawn from the above discussion on the distribution of cancer in India . First, a large proportion of cancer occurs in the easily accessible regions of the body such as the oral cavity, the breast and the cervix. In such areas diagnosis and treatment are not different problems. Secondly, certain forms of cancer are intimately associated with the habits, customs and other exogenous factors pertaining to a particular population. These types of cancers therefore, could be controlled to a large extent and even be eliminated by proper education and adequate public health measures. The cultural factors are many and varied, and these can be explained quite in detail.

Many instances indicate that the habits of the local people play a distinct role in the high rate of oral and pharyngeal cancer in India. An increased frequency of cancer in the oral cavity was more often associated with the habit of the chewing of tobacco with betel-leaf, betel nut and slacked lime than with

other habits whereas in persons suffering from carcinoma of the oropharynx and the hypopharynx there is evidence of an increase in the frequency of tobacco smoking. In recent years epidemiological hypothesis relating cigarette smoking to cancer of the lung have been fruitful.[1]

Although information concerning the habits of the people in India is incomplete, the available data shows a correlation between the increased frequency of certain types of oral and pharyngeal carcinoma and an increase in the prevalence of smoking and chewing of tobacco with other ingredients. These associations are traced in Bombay, Andhra, Uttar Pradesh and Kerala.

The prevalence of oral cancer in western districts of U.P. has been attributed to the fact that the people in these parts are the consumers of special type of tabacco referred to as 'Mainpuri Tobacco.'

The higher incidence of carcinoma of buccal mucosa at Agra (Table No. 4) is attributed to the habit of this type of tobacco. It is prepared from leaves of tabacco cultivated in Aliganj, Kasganj (Mainpuri District) and its neighbouring areas. The Mainpuri tobacco is extensively manufactured by mixing the tobacco leaves, finely cut nuts, lime, cloves, 'Ilaichi' kewra' and 'Sandal' powder. Both lime and cloves are known for their irritating properties. It seems likely that the variety of tobacco, the soil in which it is grown and the method of preparation largely determine its effects.

Another factor of no less importance is the way this tobacco is used by the adicts. Tobacco is made in the form of a bolus which is kept in the oral cavity in between the check and the molar for a variable length of lime. In many cases the persons even sleep with the bolus inside the cavity. Thus it constantly irritated and this in turn either excites a neoplastic response in susceptible or lowers the resistence of the individual. thereby

[1] National Atlas of Disease Mortality in the United Kingdom prepared by G. Melvyn Howe, on behalf of the Royal Geographical Society, 1964.

predisposing the development of cancer. This habit of keeping the bolus in contact with the mucos membrane is seen in good number of cases in the S. N. Medical College, Agra.

The Daccani Hindus in Bombay keep the tobacco liquid in cheek for several hours and thus develop cheek cancer. The study of Sanghvi and Khanolkar (1955) at Bombay reveals that the cancer of the base of the tongue and hypopharynx is associated with the combined habits of smoking bidies and chewing tobacco. The preponderance of cancers of the base of tongue and tonsil among the Gujrati Hindus is associated with their habit of smoking local cigarettes or bidies made by rolling Budhinia or Deospyrose variety of tobacco.[1]

The cause of highest incidence of larynx in Assam is related to the peculiar habit of chewing betel-nuts in this part of India.

The method of preparing these nuts is special and significant. The ripe betel, nuts are burried in the earth without any container and also without taking off the skin. These are taken out after a few months; and after washing are ready for use. These nuts remain moist and have an astringent taste due to richness of tannin in it. Before taking these nuts they mix them with lime and both together might set up an irritation of the larynx.

Most of the poorer men in Bombay, Bihar and eastern districts of U.P. put a mixture of tobacco and lime in the lower gingivolabial groove at frequent interval during the day and gradually swallow after dilution with salive. This develops the lip cancer in these people.

The reverse smoking of cigar (chutta) with the burning and inside in the Andhra State is associated with the palate or chutta cancer.

As a modest attempt in this direction he surveyed, for sample, a small town of District Mainpuri, Sursaganj with a population of 2672 persons. The figures indicate that both men

1 The people of Kerala chew the Jaffarina, Menapalayan (Veddakan) variety of tobacco whereas in Bombay they use necpani variety.

and women taking Mainpuri tobacco belong to te higher age-group. In this town 230 men and 71 women, age above 40 years in majority cases, were reported taking Mainpuri tobacco. There were only 5 cancer cases in existence and an equal number of casualties. The survey of a town alone cannot speak about the general conditions of the total population of the whole districts as a larger number of rural people are adicted to it. This is clear from the survey of a sample village Aurandh. Two cases of oral cancer and 3 cases of death were reported. Other figures are tabulated below :

TABLE 8

	Total Popu.	Men	Women	Children	Men taking tobacco	Women taking tobacco
Sirsaganj	2672	712	656	1304	220	71
Aurandh	1055	315	325	415	115	74

On enquiry it was affirred that many families who are highly adicted to it for generations, have never suffered from cancer. Contrarily, there are people who had never taken tobacco died of cancers of other sites than oral have also been reported in the District. On this ground the hypothesis of the association of tobacco with oral cancer may not be fully acceptable.

Under a scheme of WHO, a research project of oral cancer in Mainpuri district is being conducted at the S. N. Medical College, Agra under the direction of Dr. P. N. Wahi, the Principal of the College. Dr. Lehri who is actively working on the project reported that a direct relation between the oral and tobacco taking can neither be admitted nor ruled out.

The infrequent carcinoma of stomatch in the State of Gujrat is associated with the diet of the people. They are in genestrict vegetariers and consume fair amount of milk and dairy product. The mortality from cancer of the stomatch is 4-5 times greater in Japan, Finland and Iceland than among the while population of U.S.A. It may be admitted that the latter may be taken more milk and vegetable products. But the moratility

among the USA whites is twice as great as among the Bantus of Johansburg who are great non-vagetarians. Similarly the great variation in the incidence of stomach cancer in different parts of the United Kingdom (2.5 times great in North Wales as in southeast England) cannot be accounted for. At the same time a belt of liver cancer has been traced from Africa to Japan via Indonesia ad China. The diet of this belt is deficient in B Vitamins. However, no satisfactory hypothesis can be deducted from these observations.

From the available data it may be inferred that in a given population there exists a numerical compensation between percentage of persons afflicated with cancer of the uterus and that of the breast. But this is not a universal truth. For instance in Israel the rate of cancer of the uterus is definitely low, yet at the same time the number of cases of breast cancer is not particularly high. In the United States, Soviet Union and Scandinavian countries there is a slightly higher rate of occurance of both forms of cacer, but the proportion is almost equal. On the other hand, in the United Kingdom the percentage of the breast cancer is high and exceeds that of the Uterus. In India, Japan, Italy, Spain and few other countries cancer occurs in much larger proportion in the uterus (particularly in the cervix) in comparision with its occurrence in the breast. A lower age-group (between 20-50 years) in India is involved in this type of cancer as compared to Western countries.

The higher frequency of breast cancer among the Parsee-work is considered due to late marriage, limited number of pregnancies and infrequent breast feeding. The higher rate of Carcinoma of the cervix in Hindu women may be said due to the early marriage, multiple pregnancies and in a small measure inadequate genital hygone. More important than this is the age at first pregnancy. A high proportion of carcinoma of the overies recorded for the State of Kerala cannot be accounted for. Some light has been thrown by Reddy and Reddy (1958) on the cause of high incidence of carcinoma of breast in south India. The south Indian females instead of refraining from breast feeding often err on protracted suckling. Willis (1953) is of the

opinion that high and increasing prevalence of breast cancer in civilized people is related to the unnatural reproduction of a large proportion of the people.

The low rate of male genital cancer among Indians may be related with the low life expectancy in this country which according to the 1961 census is a little more than 45 years and the cancer usually occurs in the older age group.

The low rate of male genital cancer among Indians may be related with the low life expectancy in this country which according to the 1961 census is a little more than 45 years and the cancer usually occurs in the older age group.

Circumcision is another factor which performed very early in life seems to protect an individual against occurance of cancer of the penis in men and cancer of cervix in women, a point well illustrated by the cases observed at the Tata Memorial Hospital in Bombay. The cancer of penis is almost non-existent in the Jews and relatively at low rate in the Muslims, primarily becuase circumcision is an essential ritual in these faiths. In assessing the importants of circumcision in the prevention of cancer the age at which it is performed is important. In india, it is performed before the age of 6 years.

Cervix cancer has been commonly found in people of low economic status. In south India, it has been found that the patient suffering from cervix cancer have deficiency in thiamine and liver components. Whether or not these are important factors in the development of cancer of the cervix are a still to be elucidated.

With regard to the unexposed parts of the skin cancer there are two types : (1) Kangri cancer and (2) Dhoti Cancer.

The people of Kashmir keep themselves warm in winter by carrying outside and often under their long shirts or kurtas and unglazed earthen pot is covered with a pasted with smouldering dry maple (Chinun) leaves. The earthern pot is covered with a basket of reeds and is either suspended from neck or held in the hands. With the coming of spring either only expema persists or cancer of the skin of the lower abdomine or the thighs in the people of Kashmir develops. It has to be studied whether

the mild burns by the Kangri or the smoke of Chinar leaves are the factors leading to the disease.

As for the Dhoti cancer the poorer people are obliged because of economic necessity, to work, sleep and bathe with Dhoti firmly attached to the loins. The method of wearing dhoti for many years develops patches of dipigmentation, glazing of the skin, acanthesis and occasionally carcinoma of the skin of the loin or go in.

The differences in the geographic distribution of certain types of cancer have been associated with particular habits and customs peculiar to the people inhabiting those regions is suggestive but not absolute and it would not causally related to the types cancer. It is possible that several factors of unequal importance start a train event in the human body which finally result in the malignent transformation of some calls in the tissues exposed to these action.

Thus the exact casual agent off cancer is not known, there is reason to believe that it is related to environment which is more cultural and not so much physical. There is proved from the fact that the increased incidence of the disease in different regions of the world is marked after the turn of turn of century. an increase which greatly gained in momentum in recent years, more particularly in highly industrialized communities. Apart from cancer of individual organs, the general cancer rate in the United States varies from 79 in Arkansas to 150 in New York State. The latter represents highly industrialized region.

For exhibiting in a better way the relationship between cancer types and geographical environment, maps should be prepared. But for maps accurate district wise vital statistics on the types of cancer will be required for the whole region/State to be studied atleast for 5 continuous years in 7 age group (0.25) 25-34, 35-44, 45-54, 55-64, 65-74 and (75) for each sex. This would help in calculating the Standard Mortality pattern of distribution will exhibit irregularties and apparent anomalies. If these patterns suggest an association with the distribution of some physical or cultural elements, the purpose of the study will be fulfilled.

PARADISE LOST AND *THE WASTE LAND*
A STUDY OF MYTHICAL TECHNIQUE

DR. V. RAI

Department of English

The collocation of Milton and Eliot seems, on the face of it, to be a glaring paradox, because it has become a common practice in modern literary criticism to look upon Eliot as the most potent force behind the denigration of Milton and the exaltation of Donne and the Metaphysical poets, as a formative influence on the new poetic style, suited to the temper of the present complex and chaotic period of human history. Yet it is pertinent to recall, at the same time, that Eliot himself in the well-known tercentenary tribute to John Donne, under the caption of "Donne in Our Time," in 1931, pronounced the caveat that Donne's poetry might be "a concern of the present and the recent past rather than of the future." Eliot's prophecy has been partially fulfilled in the recent trend in English and American criticism which has shown a clear evidence of a marked shift of emphasis from Donne to Milton, and quite a few critics have arrived at the conclusion that the much-maligned poet of the great Christian epic is the real inventor of the poetic technique which is currently popular in poetry and fiction. Mr. Jackson Cope, author of an interesting book, *The Metaphoric Structure of Paradise Lost,* has stated catagorically that "it is Milton, not Donne, who is the poet for our time, who speaks in our idiom."

The point of contact between Milton's *Paradise Lost* and Eliot's *The Waste Land*, is, to use the words of Eliot himself,—"the mythical method." This technique has been explained by him, in the famous criticism of Joyce's *Ulysses,* as the way of working out a continous parallel between antiquity and contemporaneity for which the myth offers itself as the most convenient medium, because "myth" in itself obliterates the rigid division of time into past, present and future and places these various parts of it simultaneously before us.

It is way of presenting time in terms of space ; the past as something still present and the subsequent history itself as a repetition of the ways and behaviours which are foreshadowed and prefigured in the primitive myth. In short, it is a way of merging time and space and thereby applying a spoke to the terrible wheel of "the Arch alienator," who "antiquates antiquities and makes a dust of everything."

Critics have reminded us that the conditions under which Milton wrote the *Magnum Opus* of his life were strikingly similar to the present age of the flight in space and the spatialization of time. If Eliot had the support of Minkowski and Einstein, Milton worked in a similar milieu, created by Peter Ramus, the logician, and Galileo, the inventor of the telescope. Explaining the revolution effected by Ramus Mr. Cope has observed : "Ramism, terrifying in its militant compaign to objectify and 'to place' inner experience, history, biography, man's very temporal being, outside the mind, in a cosmos of bodies and spaces, was a first massive foreshadowing of Einstein's and Minknowski's effective destruction of the barrier which maintained a dualism between space and time."

We may now explore the major aspects of the mythical technique as reflected in *Paradise Lost* and *The Waste Land.* The latter poem is a fit illustration of Eliot's remark on the technique in *Ulysses* (quoted above), namely, the intermingling of past and present through the juxtaposition of many cultures and myths in order to show that the human predicament in the present age is only an extension and repetition of the problems which confronted our species in the other epochs of history as well, and this in spite of the changes and mutations which have powerfully affected the spiritual and cultural outlook to-day. Eliot has noted that the analogue for the modern Waste Land is the drought-laden kingdom of the legendary Fisher King ; but the introduction of Tiresias as the protagonist in the poem brings the classical Waste Land also within the ambit of his work. For Tiresias is associated with the tragedy of King Oedipus where the main emphasis falls upon

the murder of a father and the violation of the sanctity of sex, resulting in sin symbolized by the devastation of plague. These motives are repeated in the mediaeval Waste Land also where the King, father of the people, has become maimed under a curse arising from the wanton outrage on the modesty of a group of nuns, and the curse is objectified in the sterility of the land. In the modern waste land also we notice the same pattern; humanity has murdered its god, the father, its "fountain of living strength":

> He who was living is now dead
> We who were living are now dying
> With a little patience.

Here also the violation of sex has resulted in lust, permeating the various strata of society, a recurrent phenomenon of history, visualized in an identical symbol—the flame of fire—by the wise men of all ages and climes, Augustine, Buddha, Tiresias and the prophets of the Old Testament. The loss of father involves the problem of quest, presented in the image of journey, which is again universalized in the final movement of the poem—the Mediaeval Journey to Chapel Perilous, the biblical journey to Emmaus and the march of uprooted humanity through the modern Waste Land : the hooded horde swarming over the plain, ringed by flat horizon only, stumbling and falling in the "cracked" earth.

Leaving further elaboration of this point in Eliot we pass on to *Paradise Lost* and the myth of the Fall of man, which is obviously univerasal in its significance and its universality has determined the poetic method and technique in the poem. Milton has effectively subsumed all the important cultures for enforcing the basic point that his story and characters are the prototypes of the entire human history and human race and the fall as well as redemption of man is the problem of problems in all periods and cultures. This is clearly reflected in his similes and analogies which are biblical, classical and historical. The fallen angles, floating helplessly in the fiery flood, are equated with the drowned cavalry of the ungodly Pharoah ; their flight in air evokes the picture of the cloud of locusts over the pestered

Egypt, and as they stand in battle array they recall the classical giants warring on gods, the armed forces of Christian and Turkish kingdoms at war in the middle Ages and the barbarian hordes that came down pouring from the forzen loins of the North. So, the proud structure of Pandemonium raised by Mammon and his cohorts is a prototype of all the magnificent buildings erected by men in their pride and vanity, pyramids and numerous mansions in Egypt and Assyria, when they were fired with the spirit of profane rivalry. It is needless to glance at the other examples of the technique relating to Eden, the garden of Paradise, and Eve, the eternal feminine, pattern of all the beautiful women adbucted and abused, in classical mythology, Persephone, Leda, Europa and others. The unfallen Adam and Eve meeting in innocent dalliance are likened to Jupiter and Juno, yet the poet is anxious to stress the innate lightness of the woman in Eve on the point of temptation:

> Thus saying, from her Husbands hand her hand
> Soft she withdrew, and like a wood-nymph light
> Oread or Dryad, or of Deliah's traine,
> Betook her to the Groves :

The mythical technique, which is a mode of jusxtaposing several stories, themes and periods, implies, of necessity, the elements of contrast and parody alongwith parallelism. In *The Waste Land* these elements are too obvious to be missed by any careful and well informed reader and they are manifestly designed to illustrate the pastness of the past and the extent to which the present has departed from the old values. Thus, in the second movement of the poem, the *Game of Chess*, the neurotic lady of fashion is introduced in her drawing-room amid a glamour which is patently reminiscent of the splendour of Cleopatra and Queen Dido of Carthage, but the epithet "synthetic", added to her decoration, is a sharp reminder to us that her glamour is a pale and artificial copy of the genuine splendour of her prototypes. In the same way, the planting of the corpse in the first movement, which is so constantly in danger of being dug up again by the sharp nails of the dog, is an obvious parody of the burial of the dead Fertility gods, which

was always expected to be followed by their re-birth, in which the "Dog" played the role of a regenerative agent. Similarly, the washing of feet by "Mrs. Porter and her daughter" is an unconscious parody of the ritual washing, just as the drowning of the Phoenician sailor, in the fourth movement, *Death by Water,* is an apparent travesty of the ritual drowning of the Fertility effigies. The latter rose and fell and then rose again into light and life but the bones of the dead sailor rise and fall with the current which drives them into the heart of the whirlpool. In *Paradise Lost* parallelism, contrast and parody are worked out within the "Fable" itself, as the poet was dealing with an archetypal myth connected with the very origin of Man's story. Thus, Hell, where Satan has decided to reign, is built as a rival of Heaven but becomes its parody. The monarch of the new kingdom sits exalted on his golden throne, raised by Pride to that bad eminence, and "acts the God" in imitation of the Deity. His magnificent seat, Pandemonium, is built by Mammon, the least erected spirit that fell, with gold, rifled from the bosom of Hell, to rival the glory of the Heavenly seat, with the obvious difference that gold which is prominent on the pavement of the Heavenly mansions, is found glittering on the roof of Pandemonium. The trinity in Hell, Satan-Sin-Death, is an obvious parody of the trinity in Heaven and the Satan-Sin relationship offers an interesting comparison as well as contrast to the relation between Adam and Eve in the new world and thus the two "falls" in the poem are brought together into a polar union. Thus, Sin springs from the head of Satan and Eve is formed out of a bleeding rib of Adam. Satan's fall is the outcome of pride and lust, the dalliance and delight he took in Sin, who was his own image, while the fall of man begins in pride and is followed by a carnal union of the human pair. "The act of darkness done with Sin begins in a dark mid-night temptation in Eden, and ends in eternal darkness visible of Hell." Milton has left us in no doubt about the parallelism between the fall of Adam and the fall of Satan. The repentant Adam utters his grief as follows :

.........into what Abyss of fears
And horrors hast thou driv'n me, out of which
I find no way, from deep to deeper plung'd.

The words "Abyss," "horrors" and "deep" are used to remind us of the description of Hell in the opening section of the poem. Satan's dark prison is boundless and the expelled human couple depart from Eden, weeping and arm-in-arm, into the limitless space : "All the world was before them where to choose their place of rest."

Lastly, the mythical technique is responsible for a circular structure of the work of art where it is employed, because the movement of the myth has a centre which is backward. In this respect the myth differs from a story of quest or a voyage like *Odyssey* where the goal lies ahead and the movement is linear or progressive. The circular structure of *The Waste Land* is commonly accepted and the poem has been likened to a "symphony" or a Cubist painting. Mr. Sigfriend Giedion in his illuminating work, *Space, Time and Architecture,* has thrown an interesting light on Cubism, as a new technique appropriate to the spirit of the present-day civilization : "It views objects relatively, from several points of view. And in so dissecting objects it views them simultaneously from all sides. It goes round and round into its objects......and thus introduces a new principle which is intimately bound up with modern life—namely, simultaneity of multiple views."

The Waste Land begins with Tiresias' search for spiritual fertility in the modern world :

What are the roots that clutch what
Branches grow
Out of this stony rubbish ?

and in the end he is obviously on with his quest :

I sat fishing with the arid plain behind me.

The topography of the disintegrating landscape :

Where the sun beats and the dead tree gives no shelter,

is repeated in the last section in the picture of the city that breaks and dissolves and the London bridge which is falling down

and the reference to the ship-wreck of culture out of which the protagonist "shores three fragments against his ruin." This circular structure is imagistically supported by the meeting of the extremes, the interpenetration of life and death. Thus, "April is the cruellest month, breeding lilacs out of the dead earth" and "winter kept us warm." The crowd flowing over the London bridge is equated with the funeral march of dead men : "I had not thought death had undone so many" ; and the deadlock in high life, poignantly reflected in the passionate questions of the neurotic lady in the second movement : "What shall we do now ? What shall we do to-morrow ? What shall we ever do ?", finds its counterpart in the tragic story of poor Lil, who has grown prematurely old under the strain of child-bearing and cannot give a good time to her husband. The stalemate in her life is a cruel question mark : What did you marry for if you do not want children ?

Milton's *Paradise Lost* is an epic poem which is essentially narrative in form, yet the structure of the poem is, in the true sense, circular. The poem begins with the fall of Lucifer and ends with the fall of man ; and whatever movement is discoverable in between the two ends is vertical rather than progressive. Thus, Satan, who is the main centre of activity and movement in the poem, rises up from a prone position, then makes a voyage upward through Hell and Chaos to Heaven, seduces Eve and unseats Adam, but eventually falls back into the Abyss from which he had started. Adam and Eve, the prototype of humanity, start upon their fateful journey on a painful process of initiation, which is to find its final fruition in their arrival at the point whence they have set out. "In their beginning is their end" is the substance of God's prophecy about their redemption by the Second Adam, the Son of God, who will help the Sinful man regain the "blissful seat", as the poet clearly indicates in the "invocation" which opens the peom. The myth of the Fall of man is a story of Death and rebirth like the myth used by Eliot. In *The Waste Land* the rise and fall movement is implied in the principal symbol of death and

rebirth—the planting of the corpse. The corpse descends into the darkness of the grave and subsequently springs up into light and life. The darkness-light symbolism which is implicit in the metaphor of Eliot becomes literal in Milton, whose myth introduces Hell, Heaven and Death physically. Thus death stands dark as Night and the gloomy Abyss is the realm where life dies and death lives. The first act of God's creation is the birth of Light from the dark chaos and his whole design, according to Milton, is to bring good out of the Evil which Satan has embraced as his life-motive. After learing the full meaning of his fall, which brought Death on this earth, Adam himself explains that God's grace to him is more wonderful,

> Than that which by creation first brought forth
> Light out of darkness, full of doubt I stand
> Whether I should repent me now of Sin
> By me done and occasion'd, or rejoice
> Much more, that much more good thereof shall spring.

The circular structure, thus, is in perfect harmony with the natural pattern of Myth which looks back for the real salvation of Man. Even in *The Waste Land* the remedy suggested by Eliot—*Datta*, *Dayadhvam* and *Damayat*—is the triple way of deliverance discovered by the hoary widsom of India. In his later poetry, however, Eliot adopts the Christian idea of Salvation, presenti n *Paradise Lost*. He makes a distinction between the material progress, which is centrifugal—"the world that moves progressively backward"—away from God, and the spiritual progress, which is centripetal—an advance which is a retreat towards Eden, towards God, who created Man in His own image :

> What we call the beginning is often the end
> And to make an end is to make a beginning
> The end is where we start from.........
> We shall not cease from exploration
> And the end of all our exploring
> Will be to arrive where we started
> And know the place for the first time.

(Little Gidding : v : 213-19+239-42)

INDUSTRIAL DYNAMICS AND DESIGN OF PRODUCTION CONTROL SYSTEM

MUKUND LAL

Faculty of Commerce

Industrial dynamics is a new philosophy of management which aims at viewing the organisation system[1] *as a whole* instead of examining it into *parts:* or, broadly speaking, it is a science of management based on the unified information flows relating to materials, man-power, money and capital.[2] How these information flows are inter-related with each other, how they act and react on the total organisation system—thereby creating complexities in the decision-making functions of the executives for planning and controlling operations management—may be regarded as the fundamentals of industrial dynamics. It is thus a professional executive approach to deal with the dynamic or rather dramatic situations and problems of an industry in a compact form.

Business executive have a number of operational problems to deal with for the solution of which they generally take a 'small-scale' approach. By 'small-scale' approach we mean a partial short-term or even long-term approach which the business executives adopt, say, for designing plant layouts, planning inventories, scheduling production, budgeting capital and so

[1] According to modern management science, a business enterprise is also a system of the highest order as nervous system, social system, information system and the like. It is "a system the 'parts' of which are human beings contributing voluntarily of their knowledge, skill, and dedication to a joint venture"—Kenneth E. Boulding: *General Systems Theory*, Management Science, April, 1956, p. 197.

[2] Jay W. Forrester: *Industrial Dynamics—a Major Breakthrough for Decision-Makers*, Harvard Business Review, July—August, 1958, p. 37.

on. Such partial programmings of the problems are done and solutions obtained particularly in those enterprises where there is an efficient and trustworthy decentralised management. No doubt, this approach provides specific solutions to many of the business problems, it fails to get one realise the overall strategies of management. Some of these small-scale programmings and solutions may have far-reaching effects on the total organisation system, yet their partial and unco-ordinated character may prevent their effects being fully appreciated not only by the line executives but even by the people in the top management.

Why management is called upon to follow this small-scale approach for the programming and solution of the business problems can be explained through two principal reasons of which the first reason seems to be a historical one. In the past, management was regarded as an *art* and, therefore, activities like manufacturing, distribution, finance, etc. were all treated as separate skills. The departmental managers were thought to be the specialists in their own areas of management and this element of compartmentalisation seldom gave them any opportunity to view the total picture of management as a unified system. Also the top management, under his approach, is unable to visualise the desired picture of entirety because it has to function passively as a co-ordinator and controller of the fragmented information data made available to it by different departmental managers.

Secondly, the mathematical and statistical techniques that are commonly used for dealing with business problems are suited to only those problems where the number of variables is not very large and where the quantification of related attributes do not pose any major problem. Consequently, for the application of these techniques only those problems of management had to be taken up which were of moderate dimensions. We are aware that in majority of the cases mathematical methods of decision-making do not prove to be very useful in the solution of a problem where

a large number of variables are acting and reacting on each other.

But as the science of management developed and advances made in the electronic data processing equipment, by which analysis and simulating complex mechanisms of a s business could be made possible, 'large-scale system' approach came in into prominence. This large-scale system approach is, as a matter of fact, the 'industrial dynamics' approach where we study the behaviour of the variables over a period of time so as to have an insight into the inner workings of their complex nature as well as their actions and reactions on the total organisation system.[1]

Business Management and Military/Engineering Researches

Modern management owes to a large extent to the military and engineering researches, and the concept of industrial dynamics is also an outcome of these researches. For example, in these days of atomic warfare, the techniques of war have become so intricate and complex that there seems to be very little chance to win a war if the General takes step-by-step decisions and commands the army accordingly,. In the current situation he is, as a matter of fact, expected to take a broad and long-range view of the total war, and for doing this some good amount of strategic planning of his men and materials would be needed.[2] Similarly, an engineer is also expected to take into consideration the overall strategies of his project before he lays down the specific boundaries of his policy-formulations. It is being increasingly realised that his type of strategic planning is also a *sine qua non* in the field of business management which is expected to be more inclined towards the optimisation of

[1] "This shift from analysis to synthesis means that somewhat less emphasis is now placed upon studying individual systems and more is placed upon predicting how a number of combined systems will function as a unit"—Stanford L. Optner: *Systems Analysis for Business Management*, Prentice Hall, 1962, p. 3.

[2] See Sir Solly Zuckermann: *Judgement and Control in Modern Warfare*, Foreign Affairs, January, 1962, pp. 196-212.

resources instead of simply concentrating on the day to day problems of management in an individualistic form.

Information and Control Theory

The researches in industrial dynamics appear to be fundamentally based on the information and control theory.[1] This theory has not only been able to devise and develop automatic control systems by engineers, but it has developed many control systems to be used by people in the field of management. This theory is based on the assumption that if the system in a plant is self-correcting, it can exercise automatic control through a feedback loop composed of an indicator (some sensing unit), a comparator (for comparison of actual and the standard), a decision-maker (for interpretation of the difference between actual and standard) and an effector (for providing necessary direction to correct the difference so observed. The same concept of feedback control can also be made use of in controlling management operations provided the management has been visualised as a system and full, complete and timely information about that system is available. Exhibits A and B show what a great parallelism exists between an 'Engineering Model' of a Room Heater and a 'Management Model' of Quality Control.

Thus, 'feedback is the process of adjusting future actions based upon information about past performance'[2], and 'feedback control explains how decisions, delays and predictions can produce good control'[3]. On the other hand, a lag in flow of information about a change in the environment conditons and a failure to take timely action may cause a number of distur-

---

[1] For the applications of this theory in Busines Management, which is termed as '*Cybernetics*' (from the Greek word '*Steersman*'), see Stafford Beer's article '*Systems and Related Concepts*' in Readings in Management--Landmarks and Frontiers, ed. by Ernest Dale, Mc-Graw Hill, 1965, pp. 470-476.

[2] W. Warren Haynes and Joseph L. Massie : *Management—Analysis, Concepts and Cases*, Prentice Hall, 1964, p. 183.

[3] Henry H. Albers : *Principles of Organisation and Management,* 1965, p. 519.

Exhibit A - Engineering Model of a Room Heater

EFFECTOR
(Direction for correcting the Difference)

DECISION-MAKER
(Interpretation of Difference)

COMPARATOR
(Comparison of Actual and the Standard)

Feedback Control

Electric Current

INDICATOR
(Sensing Unit)

Room Temperature
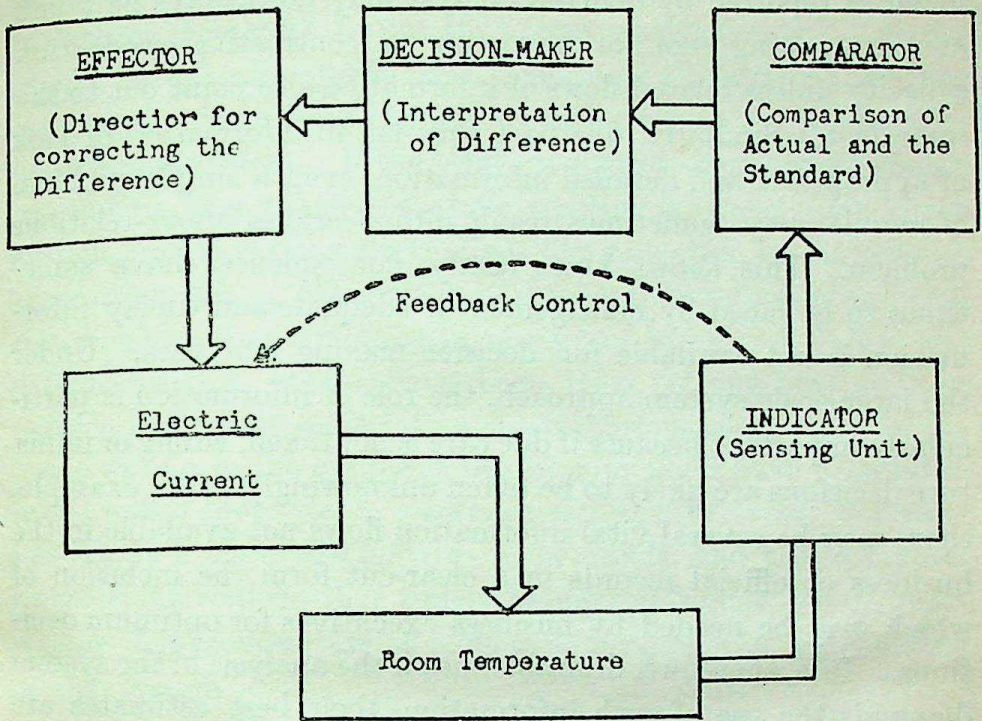
Exhibit B - Management Model of Quality Control
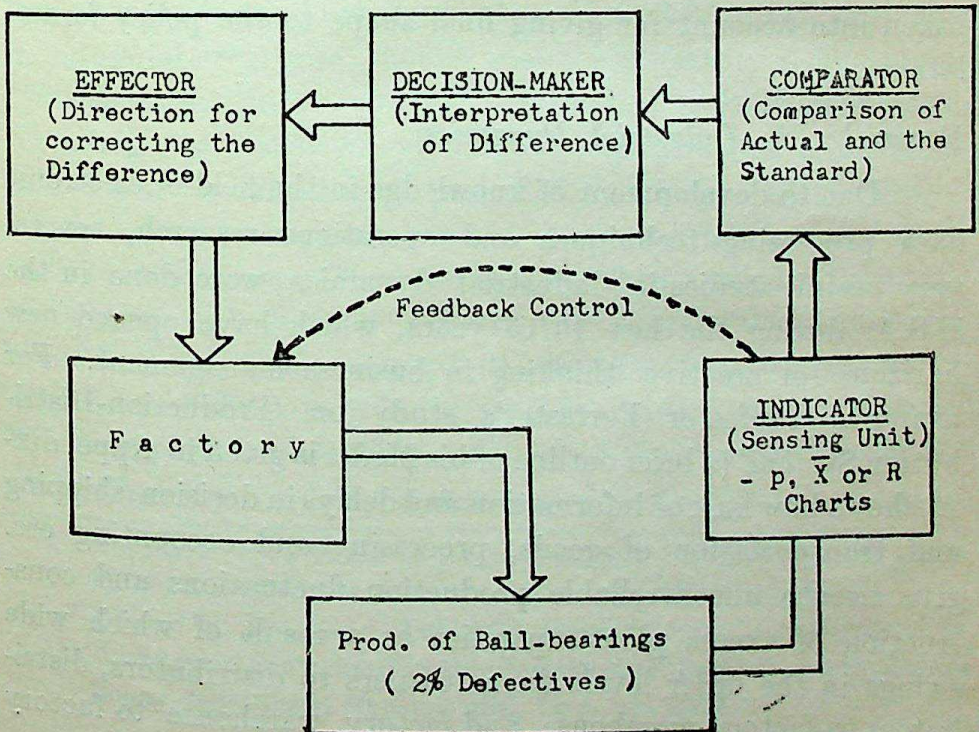
bances in the system. For example, severe fluctuations in demand as reported by demand analyst may not always be taken as a suggesting sign for increasing or contracting production capacity unless related flows of information also point out to the same fact. Similarly, due to a time-lag in information or lack of appropriate and detailed information, even a simple problem of morale may sometimes result into a serious labour-relations problem. This shows how costly consequences have sometimes to be faced by management if adequate and timely information is not available for decision-making purposes. Under the large-scale system approach, the role of information is particularly important because if due care is not taken, wrong or immature decisions are likely to be taken unknowingly. For example, there may be several vital information flows not available in the business or official records in a clear-cut form the inclusion of which may be needed by business executives for optimum decisions. It is, therefore, desirable that if the analysis of the system demands the use of such information, their best estimates are obtained by applying some appropriate mathematical or statistical devices to the available historical records and they are taken into account for giving final shape to the policy-formulations.

Researches in Industrial Dynamics

Due to development of knowledge in the field of electronic data processing techniques and operations research, several very useful studies in industrial dynamics were done in the U.S.A. during the last 10/15 years, which have opened new horizons for creative thinking in business management. For example, Professor Forrester's study on 'Production-Distribution System' (a brief outline of his Model is given in Appendix-A) shows how lack of information and delays in decision, shipping and transportation of goods, processing and accounting etc. give rise to uncontrollable production fluctuations and construction of excess plant-capacities as a result of which wide swings in the order levels from retailers to distributors, distributors to factory warehouse and factory warehouse to factory

are noticeable.[1] According to Professor Forrester, these fluctuations, which are generally of a reversible character, are 'company-generated' rather than 'customer-generated'. In his study, he has also shown how sometimes untimely advertising compaigns create long cyclical disturbances in the production-distribution system. If the total production-distribution system would have been taken as a whole, treating it as one organisation system, and if various alternatives like reduction in clerical and accounting delays, elimination of some unwarranted intermediaries, homogeneous practices in respect of in-process orders and inventories, etc. would have been tried, taking into account reliable and timely information about them, perhaps many of the larger swings in the graphs shown by him could have been minimised and a more stable position reached. Professor Forrester has tried all these alternatives in his study and the computer calculations confirm that timely action and avoidance of unnecessary delays bring about sufficient normality in the working of the system.

In another useful study on 'Production-Distribution-Employment System', wide fluctuations in sales, order backlogs, inventories and employment were marked in the workings in industrial enterprise, though pretty satisfactory independent controls existed in these areas[2]. With a view to analysing and correcting the situation, all related departmental heads tried their veins for considerable period of time but no major improvement could be suggested in the system on the basis of their small-scale findings. The problems wa then studied in its dynamic aspects with the help of computerised information, and then it was found that the existing fluctuations were-mainly due to an important feedback loop in the total company-customer system. The system when throughly analysed in its intricate details revealed that due to delayed delivery of goods by the company

[1] For fuller details of the model, see Professor Jay W. Forrester's article in Harvard Business Review, July-August, 1958, pp. 37-66.

[2] Edward B. Roberts: *Industrial Dynamics and Control Systems in* Management Controls—New Directions in Basic Research, ed. by Charles Bonini and Others, Mc-Graw Hill, 1964, pp. 105-113.

new orders were placed by the customers which, in turn, delayed the delivery of goods still more. When the delivery time was reduced, order backlogs fell considerably, inventories normalised and the employment curve started showing signs of greater stability.

A similar study of the M.I.T.[1] relating to quality control in a manufacturing organisation may also be cited in this context. It is common knowledge that in large manufacturing concerns goods are manufactured according to a given quality standard and in order to check if the goods produced conform to that standard or not, statistically designed, p, X or R charts[2] are prepared at regular intervals and reports are fedback to production department for correcting the defect in quality at at the very source. In a particular case studied through a computer simulation model as a part of the industrial dynamic studies at the M.I.T., it was found that over a period of about one hundred weeks both the curves of Production Rate and Reject Rate presented fluctuations which appeared to be of a seasonal character, viz., when the Production Curve Rate showed a peak, the Reject Rate Curve showed a slump, and vice versa. Many small-scale studies failed to explain why this unusual phenomenon existed. But the dynamic study based on the total information of this behavioral system was at last able to reveal that the main cause of this distreassing situation was the pressure on inspectors exercised by the Quality Control Manager. The inspectors were afraid of the fact that if their checked components create any trouble in the assembly line (the components produced were absorbed in the same unit), they would be charge-sheeted, and so they used their own subjected judment in accepting or rejecting the components and rejected even those items that conformed to the given standards. The study revealed that when there was more pressure on inspectors, an

[1] *Ibid.* pp.-120-123.

[2] p Chart = Fraction Defective Chart
x Chart = Mean Chart
R Chart = Range Chart

increase was recorded in the reject rate causing a decrease in the production rate, and vice versa. The seasonal character of the curves vanished when inspectors were told that they were expected to follow the quality standards laid down by management and it was not their business to worry about other production aspects.

All these studies reveal the inherent value of the concept of industrial dynamics for planning and controlling management operations. But it is difficult to put these studies to any further analytical test as long as the simulation models and the related computerised calculations are not available. It is to be noted further that even in the above studies only a few aspects of the problems have been taken and the actions and the reactions of the other variables like finance and capital equipment, etc. have not been considered. It is rather a gigantic task to frame simulation models wherein all the flows of information could be processed and analysed. It is doubtful whether Professor Forrester's theoretical thinking would have been given a complete shape even in the great management laboratories of the U.S.A. Still the value of this large-scale system approach cannot be under-rated in any way. Thus, industrial dynamics augurs a bright future to people in management, particularly when there is a common feeling that more companies fail from poor management rather than poor engineering or technology.

Production Control System

In the total organisation system of an enterprise, the system designed for production control should find a central place as it has a great bearing on the management's profit-earning capacity and its capacity to provide service to the community. This system is highly inter-locked with other systems of the organisation like capital financing, accounting and cost accounting systems, as the information flows of the latter systems are essential feedback elements in the former system. Similarly, production control information is largely needed for engineering decisions, whereas engineering decisions also play an important

role in production control. On account of these inter-dependencies and production management system's centralised position in the organisation system, it cannot be regarded as a system dealing with inventories, demand forecasts, routing and scheduling of men and machines alone, but in the present perspective it is to be regarded as a system dealing with all problems from raw-materials to the final satisfaction of consumers, taken as a unit.

Designing such a system is not an easy task as there seems to be no short-cut to do so. Considered in this sense, production control system will have to be based on a good deal of detailed information about products of the company, their demand characteristics, production processes and techniques, capacities of the manufacturing and distribution organisations, both tangibles and intangibles. Such a system will no longer serve as a function of the manufacturing organisation alone--as usually it is thought to be, but will aim at reflecting the sales, marketing and financial policies of the company as well in their wider implications. This system can be further strengthened if the related psychological and sociological factors are duly quantified and and they are included in the system-design.

There is no dearth of information in standard works on 'Production Management' so far as the control aspects of production are concerned, but in majority of these works we find the small-scale system approach. They discuss very many important techniques of control, both mathematical and statistical, such as economic lot-size formulas, optimum utilisation techniques of linear programming for optimum utilisation of men and machines, etc. but if we examine the working of these techniques carefully we can easily come to know that they are generally designed to work on the departmentalised and fragmented information alone which one is likely to get in a straight way. Besides, they are expected to work under certain specified assumptions only. These assumptions are needed because we are either ignorant about the working of the related systems of the organisation or the models constructed by us do not permit inclusion of desired information even when they are

readily available either in the quantitative or qualitative form. Thus, these techniques and models are not expected to serve our purpose to a very great extent if the system of production control is to be designed through large-scale system approach.

When the production system is designed with this approach, our basic requirement is to construct simulation models representing the essential features of the system under study. With these models we are able to determine innumerable alternatives and their consequences, as we do while constructing 'Decision Trees', and thus produce large-scale business data without in any way touching the actual physical system. Quicker and better results can be expected if simulation is implemented with the help of digital computers. Thus, if the simulation is programmed efficiently, the results can provide ample idea how the different variables in the production control system are acting and reacting on each other, what is the cause and effect relationship *inter se*, and what variables are expected to exercise better controls in the system. These results can then be compared with the actual operational conditions to justify whether the present controls are to be continued, adjusted or done away with. But while modelling simulations, due care must be taken to include even those intagnibles in the model which are, technically speaking, regarded at present to be outside the boundaries of the control system under study.

The simulation models designed for production control system may differ from system to system, depending upon the complexities of their mechanism, and, therefore, no specific model can be recommended for all purposes. For example, sometimes the model may be as simple as the 'waiting line model' based on Monte Carlo method, whereas, in other cases, they may be as complex as one suggested by Professor Forrester. In view of the difficulties involved, the task of designing simulation modles, and consequently production control systems, may naturally demand serivces of people having analytical skills and ability to use and interpret information data drawn from so many different fields. They must also possess a know-

ledge of engineering, economic and managerial analysis and other basic mathematical, statistical and quantitative techniques. It is to be noted that even when the production systems are designed through simulations, the usefulness of these quantitative techniques is not under-rated in any way, for it is only with the help of these techniques that we are able to analyse and interpret the working of the system installed and, in turn, produce useful variance data for revising and remodelling the further simulation models, if need arises.

It is expected that in the near future the dynamic approach would receive wider recognition with the rise in the level of industrialisation and the desire of the people in management to have better understanding of their problems. This may make their task of decision-making and forecasting much easier and they may get more time to deal with the broader objectives of their business. The produdction control system suggested here may, no doubt, be a costly affair in the initial periods of its installation, but in the long run, more beheficial results could be well-expected. Even we can expect further a rise in productivity. In the under-developed countries, the need for the application of this dynamic approach seems to be more pressing, as the carefully designed production control systems in the early stages of their development may save the managers from many of the future troubles that are caused due to imperfections in control designs.

APPENDIX—A*

With a view to showing the dynamic effects of business time-lags and delays in an organisation system, Professor Jay W. Forrester adopts a 'Production-Distribution' model which is illustrated in Diagram I—

DIAGRAM I

In this diagram, we see that there are three levels of inventory—Retailer's inventory, Distributor's inventory and Factory inventory. Broken lines show the flow of orders from one level to another level, whereas the straight lines represent the flow of physical goods. Figures within circles indicate the time-lags in weeks. Each order has three components, viz. (*a*) orders for sale, (*b*) orders for adjusting inventories upwards

* Based on Professor Jay W. Forrester's article on '*Industrial Dynamics*' in Harvard Business Review, July-August, 1958. Also see Elwood S. Buffa: Models *for Production and Operations Management*, 1963, Chapter 19, pp. 558-562.

or downwards, and (*c*) orders for increasing stock-in-transit to correspond to the increase in the sales rate.

Assuming the whole system to be stable, it has been shown in the Diagram II what fluctuations are expected to be associated with different variables like order rates, factory output, factory warehouse inventories, unfilled orders at factory warehouse, etc., if the retail sales increase suddenly by 10 per cent in the first week of January and this increase persists throughout the year.
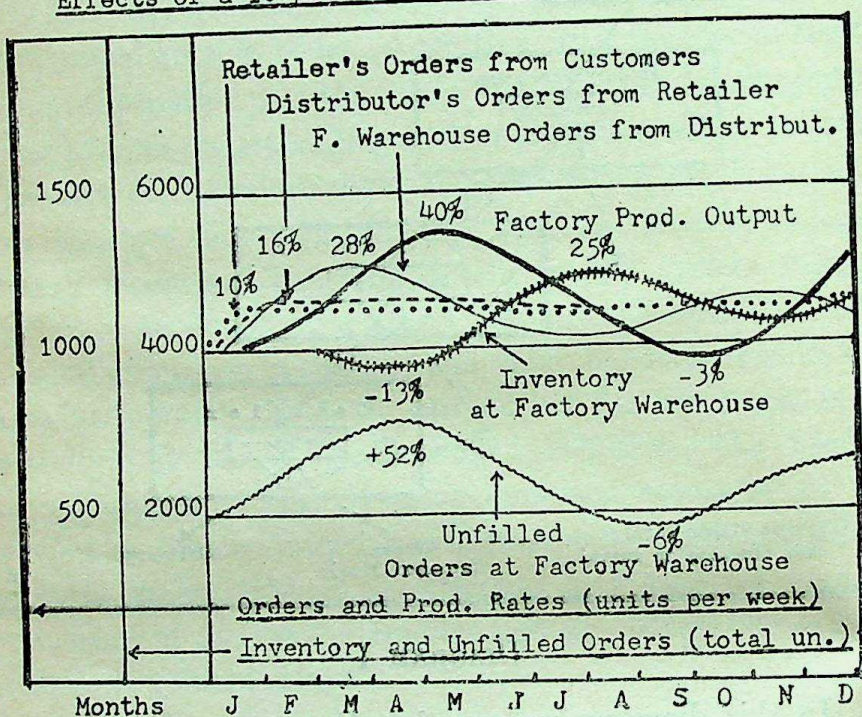
DIAGRAM II

The magnitude of fluctuations shown in the Diagram II was worked out by digital computers designing simulation models based on about 40 different relationships, but a careful study of these fluctuations gives a clear idea about the dynamic character of the problem. Professor Forrester has discussed and exhibited this problem from a number of angles with different variable-changes and also for different time periods.

RELATION BETWEEN POPULATION AND ECONOMIC DEVELOPMENT

R. M. SINGH 'VISHEN'
Research Scholar, Deptt. of Economics

The existence of an interaction between population and economic development has long been recognised by the statesmen, economists and demographers alike. It has been widely held that the policies and programmes for economic and social progress can not be considered realistically without regard to the demographic factors. The question of the causal connection between these twin variables has been occupying the minds since ancient times, yet at no other time the interest has been so arresting as in the recent years. Our ever shrinking, more complex and interdependent world is being increasingly engrossed with the global problem of population growth and living level. It is significant to recall that on December 18, 1962 in the General Assembly of the United Nations, sixtynine nations voted for and carried a resolution recognising the relationship between population growth and economic development and requested the United Nations to take certain steps designed to provide assistance on population problems.

The nations which have made it a matter of policy to control their numbers, will be in the vanguard of a world-wide movement to face up to the implications of demographic evolution in veiw of their revolution of 'rising expectation' before their population figures double. The political 'Pandits' even of the under-developed countries have readily acknowledged that never in the history of man have increasing numbers of persons been able to keep alive without increases in the levels of living. Presently or in the near future, the most significant consequence of rapid population growth in the contemporary world, however is to be found in the relationship of population increase and its demographic accompaniments to the problems of economic betterment.

The concept of 'economic development' is usually viewed as "a process whereby an economy's real national income increases over a long period of time"[1] and in the period of long run, the course of economic development is inextricably bound up with the population growth. The size, composition and socio-cultural characteristics of a population are basic determinants of the pace and level of economic development. Indeed the importance of human factor in conditioning the shape of the time path traversed by its level of per capita income can not be overemphasised. Thus the essential problem of economic development is how there can be a greater rise in real national income than in population so that per capita real income may increase.

Now the question arises, whether aggregate national product or per capita output is to be regarded as a correct indicator of growth. The economists are divided on this issue. According to Meier and Baldwin "net national product is preferable to per capita income as an indicator of economic growth because a larger real national income is normally a prerequisite for an increase in real per capita income............. If an increase in per capita income were taken as the measure of development, we would be in the awkward position of having to say that a country had not developed if its real national income had risen, but population had also risen at the same rate."[2]

In the eighteenth century the "wealth of nations has been the subject of much distinguished writings. Now-a-days we speak of 'income' rather than 'wealth'. And more recently in an age of 'welfare state' much reference is made to the 'standard of living' which usually refers to an economic plane of living in actual existence."[3] Meier and Baldwin

---

1 G. M. Meier & R. E. Baldwin, Economic Development Theory, History, Policy, Asia Publishing House, Bombay, 1960, p. 2.

2 Ibid, p. 5.

3 W. F. Ogburn, Population, Private Ownership, Technology and The Standard of living. The American Journal of Sociology, 56, January 1951, p. 314.

admit that many people choose to interpret development as meaning something more than merely an increase in aggregate output ; they believe that it should also denote a rising standard of living. The aggregate national income really does not imply distributive justice and well-being of the people at large. It may be attended with greater disparity on income and wealth so that while economic progress boosts up the income of a few privileged persons inordinately, the proportion of low income and poor people may simultaneously increase. The vivid reminder to this state of things is the "Repeal of the Corn Laws" in England in 1846 which helped in an increase in national income but to the detriment to the landed peasantry. Thus when rise in national income takes place along increasing destitution and privation of many and myriad, it is against all canons of justice to say that there is economic progress. Hence Prof. J. Viner who had been the butt of the shaft of Meier and Baldwin on this point rightly asserts that "a rise tin aggregate national income can be considered as an indication, only if it helps in at least maintaining the standard of life of an increasing number of people at existing level or in raising the standard of life and income of the existing number of people."[1] Further more in view of the changes in the composition of goods produced quantity and money value of output, likes and dislikes of consummers, it is not proper to infer that merely because output has increased, real income has also increased correspondingly. Economic development is not only an economic process but a wider social process. It is a smug complecency to admit economic growth merely an economic quantity or a lop-sided advancement. Economic growth is a multi-dimensional phenomenon, it entails not an increase in money income but also an improvement in social behaviour and traits, education, public health and nutrition, greater leisure and in fact all social and economic conditions that go to make for a fuller and happier life. Thus for the fear of value judge-

[1] J. Viner, International Trade and Economic Development, Oxford University Press, London, 1957, p. 89.

ment, ethical predilection or for that sake non-quantifying implication economic development should not assume away population changes. It is rightly held by Horace Belshaw that "to begin with population aspects is one way of introducing a discussion of the whole process of economic development."[1]

In recent days in the discussion of economic development, population growth has become a matter of transcendent and prime importance and the problem of development has become a 'total problem'. Prof. Simon Kuznets has succinctly remarked that "social aggregates dealt with by statistical methods are only the result 'engros' and cannot reveal the underlying motivations and aspirations of human agent and of the institutional factors at play."[2] A similar view is expressed by Herbert Frankel, "Incomes have meaning only in relation to the social context in which they are embedded. It is fallacious therefore to assume that aggregate incomes are the measure of development."[3] National income statistics can therefore only indicate the trend of aggregate earnings of the community but do not correctly guage the economic standard attained. Moreover an increase of income may be attended with considerable fluctuations which may dislocate economic life and can put many to great hurdles. Thus the figures of national output can be said to reflect economic development only if the rise is steady and sustained and is at a faster rate than growth of population so that there is on the whole a continuous improvement in per capita income and in the standard of living of the people otherwise there will be only great talks of development and more planning than real development. Without a growing

[1] Horace Belghaw, Population Growth & Levels of consumption White Friaer Press Ltd. London 1956, p. VII

[2] S. Kuznets, Income and Wealth of the United States, Trend and Structure. The International Association for Research in Income and Wealth, New York, 1952, p. 15.

[3] H. Frankel, United Nations Primer for Development. Quarterly Journal of Economics, Aug. 1952, p. 309.

per capita out put the development will be a wasted effort in view of the swelling numbers.

For guaging the relative performance of different countries in any period of time or for estimating the achievements of any one country over a period of time or to compare the different regions of the same country, per capita income figure constitutes an important source of evidence. Although per capita income indicator has many limitations, even then in any ordinal ranking of individual country or region with reference to its economic performance, per capita income is a useful tool of analysis.

"Thus it is *natural* and significant to discuss the subject of population in the context of economic development not only because human beings serve both as an end and means in all economic activities but also because of importance of population factor for the well-being of mankind has begun to impress itself upon an ever wider segment of world opinion and that there is now a broad consensus regarding the need for more intensive action in their field."[1] There is an increased awareness of the predominance of population as a factor in economic and social development. In most of the under-developed countries the basic economic problem is really demographic and this truism is being realised by every one that the rise in living levels depends on the extent to which total income increases faster than population. The level of living of the vast majority of human race continues to be low the poverty line. Hunger continues to be an ever present companion of many millions of people. Two third of the world's 3.3 billion people live in countries with national average diets which are nutritionally inadequate. At present 900 million human beings in the western industrial nations consume as much protein as 1300 million of their fellow men in Asia.

Thus population growth threatens to nullify all efforts to raise living standard in under developed countries and "we

[1] Under-Secretary of Population Commission 39th. Session, Economic and Social Council Supplement 9 United Nations New York, 1965.

are coming to a situation in which the optimist will be the man who thinks that present living standard can be maintained. Unless population growth can be restrained we may have to abandon for this generation our all hopes of economic progress in the crowded lands of Asia and the Middle East."[1] According to Earl Bertrand Russell "The world is faced at the present day with twin antithetical dangers viz. too lavish use of H-bombs and reckless over population...............During what remains of the present century, the world has to choose between two possible destinies i.e. war or birth control. Of all the long run problems that face the world, this problem of population is the most important and fundamental, for until it is solved, other measures of amelioration are futile."[2] We can not close our eyes and nor turn our deaf ears from this looming population danger which has caused an impending crisis. In face of this gravity of the situation, it is humiliating reflection for those who inclined to feel complacent about the supremely important question of population explosion. According to Sir Jullian Huxley "in the light of the enduring process of evolution, the population crisis is part of a very critical period in the history of the world.........In the present crisis quantity is threatening the quality or the present is threatening the future.........The man is now the sole agent for the future of the whole evolutionary process on this earth He is responsible for plundering the planet."[3]

There precious opinions of the master minds will be the eye opener for the lazy optimists in view of the estimates of the United Nations that the world population might have about 6.5 billion people by the stroke of this century i.e. doubling in about 34 years time. Under the circumstances, the

[1] E. R. Black, President of World Bank from Address to the Economic and Social Council of U.N. New York, April 24, 1963.

[2] E. B. Russell, Population Pressure and War, printed in 'The population crisis and the use of world Resources' Edited by Stuart Mudd. Dr. W. Junk Publishers The Hague 1964, pp. 1 to 5.

[3] Sir J. Huxley, Ibid, pp. 6 to 11.

results of human reproduction are no longer solely the concern of the two individuals involved or of the larger family or even of the nation of which they are citizens. But a stage has reached in the demographic development of the world when the rate of human reproduction in any part of the globe may directly or indirectly affect the peace, health and welfare of the rest of the humanity. To Gunnar Myrdal "no other factor—not even that of peace or war is so tremendously fatal for the long time destinies of democracies as the factor of population increase. Democracy not only as political form but with all its content of civic ideals and human life must either solve the problem or perish". The answer will not be long postponed.

Now the humanity has reached a stage from whence the talk of development without regard to the population problem will be idle. The 'rising expectations' that swept the countries in the early fifties are in danger of being extinquished by the new multitudes born into very marginal conditions of living and needing to be fed, clothed and housed. Now the production and reproduction are inseparably bound up and population policy is increasingly becoming an accepted part of development programmes. As the rapid population growth is thwarting the pace of development and proving a major drag on raising per capita income, it should be accorded top priority in the scheme of economic development. The consensus of opinion is that rapid alround progress in the economic and social field is well-nigh impossible unless the mounting horse of galloping population growth is held in obeyance. For instance, India is running demographically so fast that economically she is standstill. Thus the object of stabilising the population —has certainly to be regarded as an essential element in the strategy of development. If the major problem is the achievement of economic growth, population growth is a major hazard. Unless economic development runs on two legs, economic planning and population planning, it will not be possible to raise the levels of living from the rock-bottom standard. The ques-

tion is not a choice of approaches but a strategic combination of approaches and activities. Population growth compounds the difficulties of people whose mordernization lies in the future. Poverty perpetuates the conditions that perpetuate proverty. According to Dr. A. J. Coale "Reduced birth rates could increase income per consumer by over 40% in 30 years, by 86% in 50 years, and more than 100% in 60 years. After 150 years, the low fertility population would have an income per consumer six times as high as the faster growing population with unchanged fertility."[1] Thus the double-pronged dilemma of demography and development must be tackled pari-passu.

-----

[1] Dr. A. J. Coale 'Population and Economic Development' Quoted by P. M. Hauser in his 'Introduction and over-view', in 'The 'Population Dilemma', edited by him, Columbia, 1963, p. 4.

THE GENE CONCEPT

Dr. BHUPENDRA RAI

The Mendelian theory of heredity has served as a great stimulus for the advancement of the genetic studies and has given an impetus for advancement in several other cognate branches of biology. Conceived originally by Mendel and coupled with later investigations, it has distinguished genetics as a separate science and has furnished clear explanations for the intricate mechanisms of speciation, evolution and diversification in living organisms. It has helped in the genetic improvement and breeding of crop plants and animals and now seems indispensable in medicine and biology. Pre-Mendelian scientists had a notion that the hereditary substance is something fluid in nature. This idea was mostly based on speculations rather than on any experimental findings. The Mendel-Morgan theory of inheritance on the other hand is based on the experimental findings and proposes that the hereditary particles or the genes are descrete units. Mendel's experiments are the results of great patience, care and intelligence and were ahead of his time. His findings were rediscovered by Correns, DeVries and Tschermak in 1900 and his laws of dominance, segregation and independent assortment of genes were soon tested in a wide range of organisms by Bateson and his students and even to date it is the most workable hypothesis in large categories of organisms.

The first decade of the 20th century was an era of rediscovery of Mendelian laws of inheritance and its verification. It culminated with the proposition of gene as the unit of inheritance by Johnnsen in 1910. Morgan's studies on the fruit fly (drosophila) at the California University set the next phase. The gene, which was more a hypothesis than being any particulate unit, received physical basis in the hands of Morgan. Alongwith his students namely Sturtevant, Bridges and Muller he proposed and experimentally demonstrated that the genes are the descrete hereditary particles arranged in a linear fashion

on the chromosomes. According to this hypothesis, it is an unit of recombination, mutation and function.

The gene theory as proposed by Morgan has great bearing on subsequent genetical research. However with the discovery of certain organisms particularly suitable for theoretical genetics like certain bacteria, fungi and virus and also with the discovery of certain novel genetic system bringing about recombination in these organisms for example transduction (6, 15, 16) transformation (7, 8, 9) lysis (12, 13) and parasexuality (15, 16, 17) have brought a greater insight. It has altogether given a new picture of gene and chromosome structure. More than one fact have accumulated which has contradicted the classical concept of gene.

Psuedoallelism :

The complexity of the gene has been observed in higher organisms like Drosophila, with respect to eye colour. The white versus red gene governing eye colour has been found to mutate to a variety of intermediate forms known by the descriptions as apricot. buff, eosin, coral, howey, pearl and blood. Altogether 15 alletes have been recognised at this locus and the number would probably be larger if finer gradations of this colour could be recognised. The presence of fine structure of gene in this organism has been shown by Oliver with respect to lozenz (lz) locus. When he crossed two mutants lzS× lzg, the F_1 was intermediate in expression as compared to the parents. However in F_2 he found a few wild type individuals unlike any of the parents. He explained this on the cistrons basis. The cross and their explanation can be given as follow—

$$P \quad \frac{+\quad lzg}{-\quad lzg} \times \frac{lzs\quad +}{lzs\quad +}$$

$$F_1 \quad \frac{+\quad lzs}{lzg\quad +}$$

$$F_2 \quad \frac{lzg\quad lzs}{+\quad +} \quad \frac{+\quad lzs}{+\quad lzs} \quad \frac{lzg\quad +}{lzg\quad +} \quad \frac{+\quad +}{lzg\quad lzg}$$

As there was no complement of the two genes l_zs and l_zg in the F_1, there is no possibility that these two represent two different functional units. However, since the wild type appeared in F_2 in a very low frequency because of within this functional unit crossing over, it appears that the unit of recombination is not the same as unit of function, in other words the unit of function, and unit of recombination are not one and the same as conceived in the Morgan's gene theory. Exploiting biochemical and enzymatic mutants in an array of organisms, a body of data has accumulated which shows that gene is a complex structure. It is now established that the gene or the recent 'cistron' is a unit of function but is not an unit of recombination or mutation since it is the site or sites within a cistron which are unit of mutation.

Benzer (1957) working with bacteriophase T_4, observed 145 different mutation sites of rIIA cistron spread over two regions, one having as many as 123 sites. He concluded and defined muton, recon and cistron. The muton is the smallest element in chromosome which when altered gives rise to a mutant form of organism ; recon is the smallest element that is inter-changeable but not divisible by recombination and the cistron is the region within which all mutants are non-complementary and show a cistron's effect. Similar observations were made by Demerec in Salmonella. He crossed 30 independent adenineless mutants and found that 5 cistrons were concerned and were located pretty close to each other. The recombinations were forced by transduction and it was found that each pase particle could carry two or more cistrons on certain locations. These examples are indicative of fine structure which becomes necessary to discuss at the molecular level. But before going to that, the property and suitability of these organisms will be analysed which have opened newer vistas in genetic research.

Ideal organism for genetic research

Much of the success in understanding gene structure and gene theory has come in by using some of the ideal organism

and the search is still on to find out a most ideal organism for genetic research. As Mendel had been lucky to use pea as the good genetic material over his contemporaries and made a break through in genetics, similarily the use of micro-organisms coupled with the presently available novel genetic tools for genetic analysis has been mainly responsible for the development of new gene concept. The obviously desirable properties of an ideal organism for genetic research are the one which possess ability to breed at high rate, multiply in huge number in short time, high mutation rate with regards to several traits, convenient handling, easy screening and sexuality. Though conventionally pea, maize, datura, drosophila have been successfully used as wide experimental genetic material, micro-organisms like bacteria (*E. coli*, *S. typhimuriam* etc). Fungi (*Nurospora orassa*, *Aspergillus niger*) and bacteriophages like T_4, T.M.V. have been discovered to possess these qualities. These have yielded to modern technology and have served ideal for genetic research. It may be mentioned here that an ideal organism would be one having all the above properties and in addition to have large and fewer number of chromosomes and ability to survive both in haploid and diploid stage, probably a fungus like Nurospora or Aspergillus could achieve these distinctions in future ; and may be that the gene be analysed in still finer details qualitatively as well as quantitatively, biochemically as well as biometrically.

The chemical basis of the gene

One of the major discoveries giving the chemical basis of gene is the unravelling of the DNA structure (3, 4, 5, 20). Through elaborate and accurate experiments on the bacterial transformation principle in premococcus, transduction studies, radiotracer techniques with phosphorus and sulphur, high absorption of mutagenic rays by nucleic acid, base analogues studies, etc, it has been amply demonstrated that the genetic specificity is locked up in DNA molecule. The DNA molecule is composed of double i.e. two intertwined complementary stands. The sequence of bases in one stand determines the

sequence of the other. The complementary stand as a consequence of pairing through hydrogen bonding between the purine (adenine and guanine) and pyrimidine (thymine, cyosine) bases. Adenine combines with thynine and guanine with cytosine. The bases combines with a sugar bond which is interlinked with phosphate bondage. This gives the continuity of different proportion of bases in the DNA molecule. This model suggests the continuity of genetic material throughout the length of chromosome and has explained clearly the anamoly of chromosomal duplication and division. It furnishes a possible mechanism of continuity of germplasm through chromosomes. But it has contradicted the classical concept of gene which proposes the discreteness of the genes and discontinuity of the genetic material through out the length of chromosome. According to this hypothesis the phenomenon of recombination gives the idea of space between the two adjacent genes. The continuity of genetic material within a chromosome is, however, obvious in the light of pseudoalleles and as has been demonstrated by DNA structure. Obviously then a set of nucleosides or a particular sequence of bases combination has been labelled to carry out a specific genetic function of more specifically synthesis of a particular amino acid. Taking the single base pair as the unit a series of biochemical pathways synthesizing amino acids, protein etc. have been codified in terms of genetic code.

The gene and the genetic code

The genetic code is a particular system or arrangement of base pairs spelling the formation of particular amino acid or biochemical entity. The code is based on 4 letters representing 4 bases pairs of DNA helics (AGTC or U). The controversy of 2, 3 or 4 letters coding have been discussed (2). By and large it is believed that genetic code contains 3 letters code based on these base sequences. The validity of this has been experimentally demonstrated in the formation of a comparatively large number of amino acids (18, 19) for example the sequence of UUU might determine phenylalanine, ATG-

threonine, and ATC, glutamic acid, each three letter word spelling a different amino acid. It should be remembered that the 3 letter code is non-overlapping and is "degenerate" i.e. in certain cases more than one symbol stand for a particular amino acid. The coding system though, has been amply worked out in micro organisms, universality of this system, with reference to higher organisms yet remains to be widely explored. Some of the studies in this direction are encouraging. It has also been seen in an analysis of liver cell that extract of mammalian cells contain the same amino acids as bacterial extracts, when given the same polynucleotides. Though this is a good example, the difference of opinion still exists on this topic and only the further elaborate experimentation will clean it out.

The regulatory gene and the operon concept

The revolutionary new, though still hypothetical, idea with respect to gene structure and function has come from the Biology Division of the Pasteur Institute, Paris, which is famous as the operon concept. Jacob and Monod (10-11) put forth this concept in relation to DNA-RNA-protein synthesis, based on their work on the lactose metabolizing enzymes in Escherchia.

The whole system can be diagrammatically expressed as follows ;
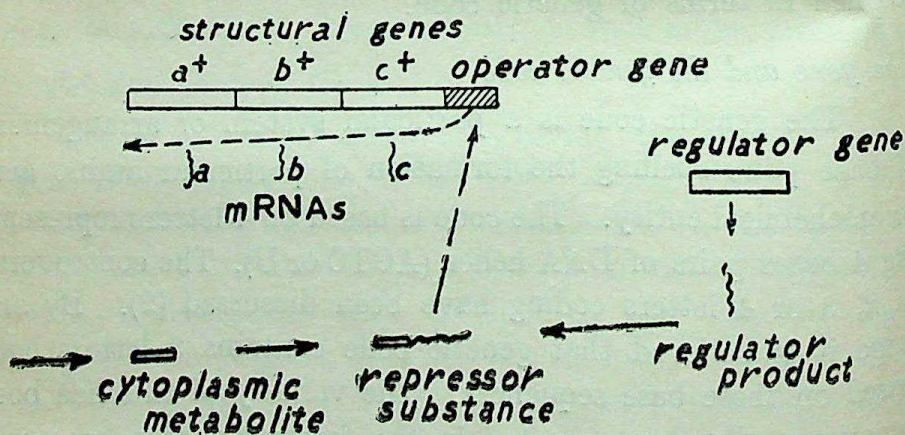
Fig. 1 : A generalized diagram for regulation of protein synthesis. (After Jacob and Monod 1961).

The structural gene as designated by a+–b+–c+ in the the diagram is one that design structure by coding for particular amino acid sequence in their protein product and may correspond to UUU-ATG-ATC as previously given. The comparatively new gene which comes into picture by the classical work of the above mentioned workers is the regulatory gene. Structural genes as given above only decide the amino acid sequence but not its rate of production. This has been proved by the that fact any mutation in the structural gene changes the nature of enzyme protein but its rate of production remains unaffected.

As is visualized in the diagram, given above, the structural genes a+–b+–c+ controlling a biochemical pathway were linked to a point in the chromosome which is designated as operator gene. The closely linked unit of structural genes and the operator gene are collectively called "Operon" and the whole concept is known as the operon concept. The function of the operator gene is only to control the transcription of the messenger RNA (mRNA). Therefore, it acts in a way that the synthesis of mRNA is not at random but is well controlled and starts from the operator gene. The operator gene works more or less like the receiver of the genetic message transmitted by the regulatory gene. This gene in the presence of the product of the regulatory gene suppresses the activity of the structural genes that are closely linked to it, perhaps, by blocking the formation of messenger RNA and puts its action "off". The regulator gene need not be genetically linked with the operator, it may be situated on a different chromosome altogether. This fact can be visualized from the linkage maps. The regulator gene specifies a regulator product which in association with some particular appropriate metabolite from the cytoplasm forms a repressor substance. The particular repressor substance released by regulatory gene is charged with instructions to identify its appropriate operator and to act against it so that effective RNA transcription is prevented. As a consequence, the linked structural genes are unable to direct

protein synthesis. The support to this statement comes from the fact that when the regulator gene is inactive or missing the protein synthesis goes on at its maximum rate. Again when there is sufficient raw material in the cytoplasm to act, the action of operator gene becomes "on". This mechanism is efficient in the sence that the cell does not have to carry around enzyme protein except when there is raw material for them to act.

This concept have been useful in providing a model for thinking of questions of tissue differentiation in multicellular organisms but as the evidences have come largely from the micro organisms, one wonders whether this system is valid in higher organisms too. Some parallel mechanisms in angiosperms can be cited here. McClintock (1961) has noted that the controlling elements, known as Ac-Ds system, is responsible for the expression of certain grain characters in maize. The Ds element can be correlated and may be thought of as corresponding to operator and Ac as the regulator gene. Several other controlling elements (P^{vv}, Dt dt etc.) have been reported in maize.

This hypothesis, though still much theoretical, has been helpful in furnishing a plausible explanation for the occurence of certain intricate genetic mechanisms like the mongoloid idiocy in man, which occurs due to trisomic condition and mechanisms leading to sterility because of addition of extra chromosome or chromosomes in many other organisms. It looks feasible that because of the presencce of an additional chromosome in the cytoplasm the regulation of gene action through regulator and operator genes is widely disturbed and leads to such abnormalities. Though there are limitations in this hypothesis, however, a fuller analysis of such systems in higher organisms will be a major step in the real understanding of the phenotype and the gene itself in much broader sence.

Much advancement has been made in the genetic knowledge, gene structure and function from Mendel to Jacob and Monod. However, there are many aspects of the gene concept which continues to be hypothetical and awaits a physical interpretation. The explaination of these hereditary mechanisms

in higher organisms are often simple and fit well with the classical gene concept. However highly controlled genetic analysis in an array of micro organisms, has painted a different complex, picture of gene structure and function. The genetic code coupled with the discovery of operon concept have given much finer details of the gene structure and function. This has brought the scientists nearer to the control of genetic abd biological functions of an individual and has given a new in sight in the understanding of the gene.

BIBLIOGRAPHY

1. Benzer, S. (1957).—*The Chemical Basic of Heredity:* 70-93: The Johns Hopkins Press Baltimore U.S.A.
2. Bonner, D. M. (1961).—*Heredity.* Prentice Hall Inc. Englewood Cliffs, New Jersey U.S.A.
3. Crick, F. H. C. (1954).—*Scientific American,* 191: No. 4: 227.
4. Crick, F. H. C. (1957).—The structure of DNA. *The Chemical Basis of Heredity.* 532-539. The Johns Hopkins Press Baltimore.
5. Crick, F. H. C. and Watson, J. D. (1953).—*Nature* London 171.
6. Hartman, P. E. (1957)—Transduction: *The Chemical Basis of Heredity.* The Johns Hopkins Press Baltimore. 408-467.
7. Hotchkiss, R. D. (1952)—*Phosphate motabolism.* 2: 426. The Johns Hopkins Press Baltimore.
8. Hotchkis, R. D. (1954)—*Proc. Natl. Acad. Sci. Wash:* 40-49.
9. Hotchkiss, R. D. (1957)—*The Chemical Basis of Heredity.* The Johns Hopkins Press Baltimore.
10. Jacob, F. and Monod, J. (1961)—*J. mol. Biol.* 3: 318.
11. Jacob, F. and Monod, J. (1963)—*Biological organisation, Acad. Press Inc. New York.*
12. Jacob, F. and Monod, J. and Wallman, E. L. (1953)—*Cold Spring. Harbor Symp. Quant. Biol.* 18: 101.
13. Lwoff, A. (1953)—*Bact. Rev. S.* 17: 269.
14. Lwoff, A. and Gutman (1950)—*Ann. Inst. Pastaur* 78: 711.
15. Lederberg, J. (1955)—*J. Cell. Comp. Physiol.* 45: 75.
16. Lederberg, J. (1956)—Genetic transduction. *Amer. Scientist* 44: 264.
17. Lederberg, J. and Tatum, E. L. (1946)—*Cold Spring. Symp Quant. Biol.* 11: 113.
18. Nirenberg, M. W. and Mathaei, J. H. (1961)—*Proc. Nat. Acad. Sci.* 47: 1588-1602.
19. Speyer, J. F., Lengyel, Pl, Basilio, C. and Ochoa, A. (1962)—*Proc. Nat. Acad. Sci.* 48: 63-68.
20. Watson, J. D. and Crick, F. H. C. (1953)—*Cold Spring Symp. Quant. Biol.* 18: 113.

PLANNED CHANGE AND INDIVIDUAL FREEDOM

SATYENDRA TRIPATHI
Reader in Sociology

Since the evolution of human civilization, the problem of 'freedom' has always been in existence. The Social Scientists and philosophers of the world made attempts to answer the question : what should be the relative amount of order and of freedom, or of cooperation, initiative, efficient execution and of intelligent understanding ? Unlimited freedom excludes order, cooperation, efficiency in production, security and even freedom itself. A complete withdrawal of individual freedom is not only against human nature and intolerable for human happiness, but it also reduces any incentive to progress. The right kind and right amount of freedom corresponds to a 'middle road' (Ginsburg : 'Diversities of Morals'—1952).

Meaning of Planned Change

At present time no country can afford to live next door to poverty and ignorance. It shows that the world has shrunk under the influence of the modern means of communications. Contacts and comparisions of social development are more frequent which inspire the citizens of traditional societies to achieve those standards. But in the competitive world-community, the possibilities of harming one another by newly developed weapons have become greater. Therefore, there is a double necessity on the part of backward areas to catch up with the general current of civilization.

It is a difficult task to define social change in a correct perspective which would be acceptable to all. Therefore, sociologists define social change according to their own conveniences. One view confines social change to changes in social structure, to change in the size of the society, the composition and balance of its parts, and the types of its organizations. Another view holds that social change embraces the changes

that occur in culture. There is also a view which restricts social change to the pattern of social relationships exhibited over some defined period of time in a given society. But the empirical studies of social change support the view that the decision, choices and purposeful acts of men are among factors of social change.

In the most concrete sense of 'change' every social system is changing all the time, whether caused from without or from within. Our under-developed Nation are having the tendency to adopt the rational mechanical industrial economy in place of the older communal familistic tool economy of the traditional society which consequently has been responsible for the break down of the traditional institutions. Secondly, change in power structure has been introduced by accepting the parliamentary democratic structure of power. Thirdly, the accepting of secular value system in place of our sacred religious values will also have a long term deeper implications for the Indian social structure where the changes will be accelerated with the passing of time. Similarly at the political level, it is significant that the 1961 election manifesto of the ruling Congress Party recognises the existence of major hindrances and obstacles to the growth of Indian Society. It views the process of India's economic transformation not only as a process of political change but above all as "a transformation of a caste and faction ridden backward society into a unified and integrated community......The fundamental problem in India is not only to increase greatly the living standards of the people, but also to bring about progressively social and economic equality. Existing inequalities and disparities in the social fabric are ethically wrong and will obstruct progress on all fronts and produce considerable strains. The new social order must preserve the worth and dignity of the individual and create a sense of equality, fraternity and of cohesion."[1]

Three fourth of the world's population is underhoused, under-clothed, under-fed and illiterate. They always were so before, but now this has become dangerous and also intolerable

[1] **The Hindustan Times, September 20, 1961 ; Page 6**

because the tools for removing these situations have come into existence. Therefore, every society plans to direct the change for achieving the targets of social development. It means social development is the purposive adaptation to altered conditions or the purposive alteration of conditions. Development signifies change from some thing thought to be less desirable to some thing thought to be more desirable. It further signifies an emphasis on the rational direction of human skill towards the attainment of desirable. Development, then is purposive, and purpose in human affairs is moulded by individual and social values ("Approaches to Community Development"—Phillips Roopp).

Individual Freedom

Freedom is a term which is used in many senses and we must decide upon one of them. 'Freedom' in its most abstract sense means the absence of external obstacles to the realization of desires. Taken in this abstract sense, freedom, may be increased either by maximising power or by minimizing wants (Bertrand Russel). Although men's desires vary, there are certain fundamental needs which may be taken as nearly universal : food, drink, health, clothing, housing, sex, and parenthood are the chief of these. Whatever else may be involved in freedom, certainly no person is free who is deprived of anything in the above list, which constitutes the bare minimum of freedom.

If we take a man's desires as a datum, it is obvious that the obstacles to his freedom are of two sorts, physical and social. For instance : the earth may not yield enough food for his sustenance, or other people may prevent him from obtaining the food. Society diminishes the physical obstacles to freedom, but creates social obstacles. Here we are liable to go wrong by ignoring the effect of society upon desire.

The problem of individual liberty does not arise among savages because they feel no need of it, but it does arise among civilized men with more and more urgency as they become more civilized. And at the same time the part played by Govern-

ment in the regulation of their lives is continually increasing, as it becomes more clear that Government can help to liberate us from the physical obstacles to freedom. The problem of freedom in society is therefore one which is likely to increase in urgency, unless we cease to become more civilized.

History tells us that every period of rapid progress has reduced the amount of freedom, whereas periods of calm adaptation have restored it. A revolution always requires a limitation of freedom, even when it is called liberation, and enacted in the name of freedom, whereas traditional authority is a process of gradual liberation, although from the point of view of some new possibilities it may suddenly appear as very oppressive.

There is a school of thought which shows that freedom is an exceptional good which has been produced by geographical accidents, namely such landscapes in which rebels could always escape the oppressing authority to fight back from another island, another forest, another mountain range (A Weber).

There is no doubt that the higher the technical possibilities the greater are the actual possibilities of individual freedom. One could admit the necessity of slavery when grain could be ground only by hand and when a small minority of people must have been freed from such drudgery in order to carry on and hand over knowledge, order and other features of culture ; but one can not admit slavery anymore when flour can be produced in a mill by wind, water or electrical power. On the other hand the machine is a new tool open to abuse and it is necessary to limit individual freedom of using it to the detriment of others. The very fact, however, of making such limitations necessary, puts such unlimited power in the hands of a few, forming the nucleus of a social group, namely the government or the ruling classes, that it becomes doubtful whether in the machine age a reasonably free society can be maintained.

The recent necessity of national economic planning makes certain people think that freedom is going to disappear from human society altogether (Hayck : "The Road to serfdom").

Some other people like K. Mannheim think that planning for freedom is possible. Many people hail the movement of 'regional planning and development' as the solution because they think decentralisation means maintenance of freedom. Even more so Community Development seems to be the antidots to authoritarian planning which would abolish freedom.

If the long trend of cultural development is once more considered, it becomes obvious that man has struggled for an ever greater control over nature and environment. He has therefore obtained a far greater freedom from the dictates of nature. In this process he has to give up some of the conquered freedoms to his own society, to his cultural environment, to his leaders and government. The net result of this two-fold movement is, however, an ever increasing although always threatened, degree of individual freedom.

Freedom is an essential to human happiness and progress and let us hope that this general progress will continue as a historically determined trend. To believe in freedom on the grounds of historical determinism should not prevent us, however, from building up freedom and trying to safeguard it, especially as we ought to remember that at every step—and planned change is one of such steps——we are taking over from nature new responsibilities for our own destinies.

What then is the difference between a cybernetic system such as the human body governed by the brain, or its copy the automatic machine governed by an electronic brain and the social system. It is essentially this : the human brain depends for its welfare entirely on the welfare of the whole organism. There is a complete functional, hereditary specialization of all organs and cells, none of which could live better because of a less good life of its neighbour. There is complete coincidence of interests. The individuality of the individual has completely eradicated the individuality of organ, tissue or cell.

In a social body (to a certain extent we are allowed to call it a body) the individuality of the individual member is as yet supreme. In the process of cooperation between individuals

the specialization is only acquired by education, not by heredity. The interests of the individuals consist in cooperation within the group, but there are also competing antagonisms and possibilities of some people improving their lot at the expense of others. Especially the power-detaining nucleus of the group is always prone to forget the general interest, substituting for it a more narrow clan interest. The group is not supreme, and therefore nobody can be empowered absolutely to sacrifice individual interest to it.

There is a valid objective reason, besides many emotional reasons, which could be brought forward in maintaining a reasonable degree of freedom in every society and should be set up as a target to be aimed at.

A derivative of this reason is that every social intentional act is in fact performed in the form of so many individual-intention acts. Whether a group action takes the form of building a house. tilling a field or digging a canal, it is so many people who do it and that means that every one has the intention of doing it, whether the individual targets are a better community, a gay afternoon or a chief's order. Now a far greater energy can be released, if the individual intentions which compose the social act are linked up with certain psychological incentives, one of which is enthusiastic voluntary action. A certain degree of freedom is also necessary for the participation of the people not only in the terms of providing their social energy, but also in other functions of the cybernetic structure.

In an authoritarian, and very often in a traditional society, man is conditioned by authoritarian and bureaucratic personalities. He is not supposed to express any opinion diverging from that of his superiors. Even being invited to do so, he will not overcome his conditioning at once. The slightest experience of an unmitigated authority can block entirely all ascending information. Education towards a type of personality which has its own dignity, its courage of opinion, the ability to agree or disagree i.e. to contradict without fighting and

hating, is one of the highest achievements of modern universal culture. Without such a foundation laid at the grass-roots of society, democracy at a national level is unthinkable.

It is always good to remember that every social group is composed of a nucleus or powerful minority and of the mass or weak majority. This point is important in social planning. By understanding this one may forestall Utopian targets of societies, in which freedom and equality will be expected at a greater dose than the people will be able to bear at their level of development.

Sociological Perspective

There are various types of social relations or socialities which connect two persons......brother and sister, shoe-maker and client and so on. Every social relation implies a complementary social relation or reference to a third person—brother and sister to parents, criminal and victims to judge etc. A net work of over-lapping complementaries leads to group formation. Likewise social relations may refer to concepts or inanimate objects......social media, and these form also a network of cooperation i.e. a group. In every group a certain number of complementaries are concentrated into a few people, the nucleus (a government, a landlord, a trade union boss etc.) These exercise control over resources or social media and power of organization over the ordinary people. Every person, sub-group, group, nucleus, through its complementaries carries a certain social strength.

There is always some kind of exchange taking place in the process of cooperation between two persons, sub-groups, groups and in particular between nucleus and mass. Goods, labour and services are being exchanged, but their respective prices of exchange ratio does not depend, as economists would say on a free interplay of offer and demand (this is true only between equals), but on the ratio of social strength. The nucleus being socially stronger than the mass, the exchange ratio whether in form of tribute, tax, rent, prices, wages etc.

will be mainly dictated by the nucleus, and in its favour. This will make rich people richer and poor poorer. Social strength is even more increased with the concentration of weatlth in the hands of the nucleus.

If freedom of initiative is unbridles, a very quick concentration of wealth and social strength in a few hands take place and the result is exploitation of man by man. If on the contrary, freedom of initiative is entirely forbidden for the sake of equality or collectionism, then this un-natural state of affairs can only be maintained by a strong central power which is then the nucleus and the result once more is exploitation of man by man.

Obviously the optimum solution is to grant a certain freedom of initiative, with decent limitation of its abuses and also check the power of a certain nucleus with the greatest practicable limitations to its social strength. This can be achieved by 'separation of power' by opposing instructions (Chief and council, factory-owner and trade union, landlord and tenants, association etc.).

In planned development the team or agency is supposed to be a temporary initiator and, although it will temporarily be in the role of a nucleus, and will have to divest itself on purpose of some prerogatives of authority, the important thing will be to leave behind a society which will not be ruled authoritatively by the local leaders, who in the beginning were sponsors, and at the same time controlled by the agency.

A sense of freedom is given to a person, less by heaping upon his helpless head an intricate and embarrassing choice of solution, than by granting him a social role in his society which he understands and from which he can make choices and decisions, connected with the whole framework of his social relations. Limitations of individual freedom in favour of the collective goods, are ceasing to be felt as irksome oppressions when they are intimatised and become moral precepts.

In a changing society, moral precepts which are not warranted any more by the common good, may suddenly appear as being oppressive. Certain traditional restrictions have to be abolished. The problem is to replace them with such restrictions as are realistically necessitated by common good. The transition for one set of limited freedom to another, will always form a while seem oppressive, until habit obliterates this feeling.

ON THE THEORY OF POETIC BELIEF AND POETIC APPRECIATION

VISHNUDEO PRASAD

Department of English, B. N. College,
Patna University.

We may not be philosophers, theologians, or metaphysicians, and still we may appreciate philosophical, religious or metaphysical poetry. Similarly, without being mystics, we may appreciate mystic poetry. In other words, we may appreciate the philosophical poetry of the *Divine Comedy* and of the *Bhagavad-Gita,* or the religious poetry of Herbert, Vaughan and Crashaw, or the metaphysical poetry of Donne and of Dante, without sharing the beliefs of the poets concerned. In the same way, we may appreciate the mystic poetry of Blake, even though we ourselves may never have fallen under the spell of a similar mystical illumination. And still more strangely, we may be roused to deep and full poetic appreciation of such poetry as has been woven out of the lukewarm beliefs of a poet, whereas our appreciation may be repelled by such poetry as has been founded on the rock of a poet's firm beliefs. So, it is not the stuff of a poet's beliefs that matters. What really matters is the stuff of poetry that embodies a poet's beliefs. In order that we may be able to appreciate the poetry of beliefs without sharing those beliefs, the poet concerned must have behind his beliefs the rich hinterland of a powerful emotional experience ; he must apprehend his beliefs sensuously and realize them in terms of imagination ; there must be a critical shifting of those beliefs by him in the midst of his creative intensity ; and at the same time he must be able to infuse verbal beauty and artistic organization into the pattern of his beliefs. Because it is only these, or some of these, powerful poetic elements that can keep the beliefs of a poet alive in the domain of poetry. Without these, or some of these, his beliefs are like dry bones ; these can never get resurrected into living poetry.

Because a poet's function is primarily to create poetry; it is not his function to build for himself a world of belief or beliefs, nor is it his function to fortify himself with his belief or beliefs. And, therefore, the moment a poet seeks to build up in his poetry the grand edifice of his belief, philosophic or any other, to the prejudice of his function as a poet, he finds himself, not in the fine edifice, but in the debris, of poetry. Even Dante, the great philosophical poet, did not write about philosophy to the prejudice of his function as a poet. Dante built up the magnificant structure of his supremely beautiful poem, the *Divine Comedy*, on the solid foundation of the massive Thomist philosophy of life, but even while doing so, he was occupied primarily with his poetic activity. His belief in that philosophy was subsidiary to his function as a poet. That is why we find Dante infusing into the philosophy of Aquinas his own emotional experience of love, his own personal spleen, and his own bitter regrets for the life's past happiness. And all these were matched by his sensuous apprehension of that philosophy, by his wealth of powerful visual imagination, and by a poet's unique vision of human suffering, of purgatorial pain and of paradisal bliss, and, above all, by a great artist's sense for organizing his stuff of experience into a fine pattern. Without the infusion of these poetic elements by the poet into the great poem, the whole of the Thomist philosophy of life as expressed in it, would not won have the appreciation of a reader of poetry. In the same way, Shakespeare's use of the muddled philosophy of life in his poetic dramas is not sustained by Shakespeare's belief in that philosophy, or by the inherent strength of that philosophy, but it is sustained and enlivened by the intensity and uniquences of poetry with which Shakespeare informs it. Thus the philosopihcal poetry of Shakespeare wins our appreciation, even though we may not believe in that philosophy. The very fact that Shakespeare's lines like:

As flies to wanton boys, are we to gods;
They kill us for their sport.

are as great poetry as Dante's:

La sua voluntade e nostra pace

even though the philosophy contained in the lines of Shakespeare's is inferior to that of Dante's, proves, beyond the shadow of any doubt, that the inferiority or superiority of a Philosophy or the half-heartedness or intensity of a poet's belief in that phiolsophy, does not matter at all. What really matters is whether or not the fire of genuine poetry illuminates his philosophy ; because our appreciation of that philosophy will depend on the genuineness of the poetry behind it, and not on our belief in it. That is why when Browning abandons his true function of a poet, and allows himself to be burdened by his sheer intellectual exuberance, the result, as regards his philosophical poetry, is disastrous. Whatever Browning may do, in *Rabbi Ben Ezra*, to dig his pet philosophy of life into our bones, we feel only repelled by it. That is so because the philosophy of life, as presented to us in its raw form in the poem, has not been turned into fine poetry. The crudenesses of the poet's feeling, and of his language, and his utter incapacity to apprehend the philosophy sensuously, leave us completely unimpressed by his philosophy. In other words, we do not care either for his philosophy or for his philosophical poetry. And, similarly, Arnold's philosophy of culture and enlightenment hardly inspires us, because it is clothed in heavy and academic poetry. And as regards Shelley's idealistic philosophy of life, it so often turns merely into a burning coal of unrestrained inspiration and unrestrained emotionalism ; and soon enough it gets reduced to the embers of sheer poeticalities. Consequently, our poetic appreciation of his philosophical poetry becomes impossible.

The religious belief of a poet fares no better in the realm of poetry, if the poet concerned chooses merely to flaunt his belief, and does not care to nourish the roots of his belief with the manure of genuine poetry. Milton was full of ardent religious belief. He sought to raise a great monument to his religious belief in the shape of the great poetic works of *Paradise Lost* and *Paradise Regained*. But he did not quite succeed, as is obvious from the fact that the large regions of his Hell and Heaven are found to be only full of the reverberations of

his magniloquent words. The sensuous poverty of his words, the impoverished world of emotions that his words betray, and the dearth of concretely realized experience that we discover behind the roll of his musical words, prevent us from sharing poetically the religious belief of Milton. But when Donne, a much smaller poet, gives us his small sonnet '*At the round earths imagin'd corners*', we get drenched to the bones with the poet's refreshing belief in the vision of the Resurrection of the Body. We may or may not believe in the fact of such a resurrection, but, without doubt, we believe in the truth of that poetry which has turned the vision of resurrection into a poetic fact. That is so because the whole poem is a burning example of a powerful poetic vision, which has been realized in terms of a powerful emotion and in terms of a concrete and powerful imagination, and which has been expressed with a sense of supreme restraint and with a supreme sense of art. Thus our poetic appreciation is full and deep, and we do not very much care to look into our attitude to the question of the poet's belief in the Resurrection of the Body. We get overwhelmed by the irresistible force of his poetry, and the problem of the poet's belief and the related problem of our own acceptance or non-acceptance of that belief, do not interfere with our appreciation of that poetry in which the belief in the Resurrection of the Body so prominently figures. Similarly, in the poem *Affliction* by George Herbert, we are so thoroughly gripped by the deep affliction of the poet's writhing soul and by his transparent sincerity, that we do not care to notice the cleansing fire of Christian faith, in which the poet's soul has been enveloped and to which he has so fully surrendered. But when D. G. Rossetti, in *The Blessed Damozel*, seeks to take us up his poetical ladder to Heaven, the visionary steps of that ladder appear to be collapsing under our feet. That is so because the poem has turned into a mere splash of fine colour and fine images, and is without the strength of fine poetry. And therefore the spell of his belief in the vision of Heaven does not bind us, whereas Dante's great poetry of the *Paradise* makes

the blisses of paradise such a living and palpable reality for us that even agnostics among us begin to yearn for entering into the world of those blisses.

Likewise, when we enter into the moral world of *Macbeth* as created by Shakespeare, or that of *Volpone* as created by Ben Jonson, or that of *Oedipus* as created by Sophocles, or that of *The Changeling* as created by Middleton, we are filled with an overwhelming sense of intense moral realization. Whatever be the posture of our own personal moral beliefs, the great poetry of these great works of art has the effect of producing in us the ferment of an intense realization about the inexorable moral laws of life. Even if all our moral sense might have been deadened by modern materialism, the fire of the great poetry in these great poetic dramas has the effect of igniting in us a sense of moral awareness ; it has a cleansing effect on us ; it becomes a kind of purgatory for us. But in the hands of a poet like Gray or a poet like Arnold, a moral attitude turns into a moral pose, or into a poetic pose. That is so because their poetry is found slipping either into the mire of sentimentalism or into the mire of academic moralizings ; in a poet like Massinger we get bogged in conventional moralities ; in poets like Ford and Shirley, we get only moral platitudes. In other words, it is the failure, on the part of these poets, to create powerful poetry out of their moral beliefs that constitutes the main reason why we feel so repelled by their moral attitudes. But poets like Shakespeare, Sophocles and others of their kind were, above everything else, great poets ; and, therefore, their fine potice grasp of the permanent human impulses fused in a powerful way with their grasp of the permanent moral impulses of man, and the result was powerful poetry. Their remarkable sense of language further enriched their poetry.

And so also the poetry of metaphysical beliefs or mystical belifs reinforces our conviction that the beliefs in themselves or by themselves are not material either to a poet or to a reader of poetry. Even the firmness or depth of these beliefs is not quite important. What is really material or important is what a

poet does to transmute these beliefs into poetry, so that a reader may be able to appreciate these bliefs as poetry, even though he may not be sharing these beliefs with the poet. The roots of metaphysical beliefs were not as deep in Donne as they were in Dante. This becomes obvious from the fact that Dante was so deeply impressed by the metaphysical system of Thomas Aquinas that he incorporated the whole of this system into the pattern of his poetry of the *Divine Comedy* ; whereas Donne seems to have merely picked up the broken fragments of different metaphysical systems and stuck them into his Love Poems or Divine Poems. And still Donne, almost like Dante, makes a profoundly poetic use of his metaphysical thoughts in his poetry. In the workshop of his unified sensibility, his metaphysical thoughts got fused into his feelings, and then they got soaked into the layers of his senses and also into the centre of his nervous system. And thus even his fragmentary metaphysical beliefs would suffer a sea-change and would emerge into the sunlight as fine poetry. Donne was not like Tennyson, who merely oscillated between his scientific and religious beliefs, and who failed to transmute his beliefs into poetry because of his incapacity to feel his thought 'as immediately as the odour of a rose.' A thought would crystallize into an experience for Donne; it would modify his sensibility ; but in the case of Tennyson, it would not do anything of the kind. Therefore, beneath all the trappings of poetry that Tennyson throws over his beliefs, we fail to discover the undertone of that personal emotion or that personal struggle, without which his beliefs fail to get transformed into genuine poetry. And so his poetic beliefs do not attract our appreciation. On the other hand, in the case of Donne, even though we sometimes wonder whether he used his metaphysical beliefs simply for the sake of enriching the complex mosaic of his poetry, we are almost driven into an appreciation of his metaphysical beliefs ; because Donne, who was primarily a poet and only secondarily a metaphysician, knew how to transform his beliefs into fine poetry. Even Dante who built up the pattern of the *Divine Comedy* round the metaphysical system of Aquinas, was not engaged primarily in expressing

his metaphysical beliefs. What he was primarily engaged in was to find 'the emotional and sense equivalent' for his beliefs, and he did succeed in doing it in a remarkable way. Sometimes, one almost gets this impression from him that even he was, perhaps, using his metaphysical beliefs merely as a vehicle for expressing his emotional experience of life, a point to which we have referred earlier also. Even a mystic poet like Blake did not give up his function of a poet, in the midst of his mystical illumination. In the midst of such an illumination, his capacity for understanding human nature remained undiminished, his sense of language remained as remarkable as ever and so also his vision of a poet remained quite undimmed. Consequently our appreciation of his poetry of mystical beliefs is full, even though we might never have experienced the flashes of mysticism in our own lives. And, similarly, Vaughan as a poet, through his fine spiritual and mystical illumination, seems to be removing the very bandage of worldliness from the eyes of even those who might have been blinded by it. We may not believe in the fact of such an llumination, but the powerful rays that radiate from his poetry, make us experience through our 'fleshly dress' 'bright shoots of everlastingness'. But when Blake gets into writing unsatisfactory poetry, his philosophy of *The Marriage of Heaven and Hell* does not touch even the fringe of our spiritual being. Similarly, when a poet like Wordsworth tries to burden his poetry of *Intimations of Immortality from Recollections of Early Childhood* with mystical philosophizing, without his being inspired with genuine poetic feeling, we are not quite appreciative of it.

Coleridge, when he remarked that 'a willing suspension of disbelief' accompanied much poetry, he, in his own way, was merely emphasizing the fact that an appreciation of the poet's belief by a reader was not an important condition for the appreciation of his poetry. So, in a poem like *The Rime of the Ancient Mariner*, Coleridge was not engaged in fostering in his reader a belief in supernaturalism. What he was really engaged in was task of artistic and poetic creation, the one prime task upon which

a genuine poet sets his heart ; and we as good readers of poetry share with him the pleasure of this artistic and poetic creation, and are not troubled at all by the qustion of belief or disbelief in the world of his supernaturalism. And so it is obvious that a genuine poet does not enter into poetic activity, with a view to injecting into his readers his belief or beliefs. It is a different matter that his beliefs might enter into his poetry. But that is nothing. It is only when a poet's beliefs fuse with his 'initial emotional impulses', that these beliefs come to acquire their full poetic meaning or their full emotional significance, either for the poet or for the reader. In the case of all such poets as Dante, Shakespeare, Donne, Herbert, and such others, whose poetry we are able to appreciate, or whose poetry, we, as good readers of poetry, should be able to appreciate, there has been such a fusion between their beliefs and their 'initial emotional impulses.' And so long as such a fusion takes place, it does not matter as to what beliefs get incorporated in their poetic worlds, nor does it matter whether we appreciate those beliefs or not. If we are able to share their 'emotional impulses', we can appreciate their poetry, even though we may not be sharing their beliefs. Because we go to poetry, not with a view to our being instructed in the nature of any kind of belief or beliefs; but we go to it for the 'strange consolation' that is offered to us by all good poetry. We go to it not for the pleasure of learning from it lessons of philosophy, or of metaphysics, or of theology, or for receiving from it any other kind of mental schooling; but we go to it for the pleasure of emotional, imaginative, and aesthetic satisfaction which is offered to us, in equal measure, both by the poetry of beliefs and non-beliefs. So, if the spring of a powerful poetic sensibility, which alone can keep a poet's beliefs alive, is dried up within a poet then his beliefs, howsoever deep or firm they be, are bound to wither away and die as poetry. Those beliefs may live in the books of philosophy or of theology or of metaphysics, but they will not live for us in the pages of poetry.

THE ESSENTIAL PROBLEM

R. K. SHRINGY

Deptt. of Musicology

Life, quite often, presents such baffling contradictions in experience that the intellect is exasperated and fails to see any conceivable order. Life then itself becomes a problem : that is, what is perceived in experience is a conflict between 'What is' and 'what ought to be' ; and this constitutes, what may be called, 'inner strife' ; which when not perceived in proper light, is projected on the universal scale resulting in struggle for existence. Indeed, life has been defined as , 'struggle for existence' and 'the survival of the fittest', by considered opinion : and this view makes strife and struggle the essential feature of life and banishes the idea of peace and harmony as illusion born of ignorance ; but it is hardly possible to rest content with this view point.

To understand the problem, it is said, is to rise above it. The problem that appears as the conflict between 'what is' and 'what ought to be' i.e. the fact and the ideal of fact, represents the confusion in-the reality as it is perceived and what it is conceived to be. What is perceived is essentially universal and what is conceived is essentially individual ; therefore, obviously, the problem arises from inadequate appreciation of the relationship between the two.

The individual, in confusion, is conceived to be a self-existing entity as opposed to the world outside, the former struggling to maintain its identity against the latter which seems to be encroaching upon its sphere. Enlightened opinion, however, conceives the individual and the universe to be in the relationship of subject and object in experience : but however, it does not differ from the common view in so far as the duality involved in both these conceptions is concerned ; the subject being conceived as opposed to the object.

In a year, a particular day has a specific significance and it holds a distinct position as far as the relative position of

the earth and the sun etc., is concerned and by virtue of this uniqueness it may be spoken of as having a distinct personality as opposed or as against the rest of the days in a year. Similarly a particular year has a distinct position in a century and a century likewise may be spoken of as having a distinct place in the scale of cosmic time. Although, the day or the year and the century as such become unique in their respective space of time, we cannot on that account conceive their uniqueness to be absolute; for, in fact their uniqueness is due entirely to the relative order to which they owe their place. A day is unique with reference to all other days in a year which are also unique in their own way; and if properly seen, all the days together contribute equally towards the uniqueness of each of them. Thus, each day of the year, though exclusively unique in its particular specification, is so, at the same time, because of its being in the relative order of the whole year. It is quite clear in this illustration that though the individual is unique in its specific sphere, the specificity which makes it so unique is significant in the relative order of the universal cycle of creation.

Obviously the individual, in spite of being unique, is only a relative expression of the absolute; and it will be entirely wrong to approximate the absolute to the uniqueness confined to the individual. But this is exactly what is conceived to be, in the terms of the individual being a self existing entity, considered also as the subject as against the objective world outside it. What is important in this context is to realise the perspective in which the individual being is conceived. The unique situation of the individual is unique only by virtue of the relative order in which it finds its place and therefore the uniqueness of the individual is not absolutely exclusive though relatively so. Thus, the unique implies the universe of the relative order which lends significance to it.

This brings us to the conclusion that the individual is a part and parcel of the universe to which it belongs and is relatively unique and therefore indispensable and equally important a link in the unfoldment of the universal being. The individual

is not therefore a self-existing entity or an absolutely defined 'subject' to be conceived as the independent enjoyer of the objective world. But, however, practically every individual feels to be an entity by itself and seeks to extend iteself to include everything else within its reach and thus gives room to conflict and strife.

The phenomenon of conflict and strife is essentially a problem of knowledge which operates in the subjective sphere of the individual and becomes significant only due to the ignorance with reference to the realisation in consciousness of the nature of actual relationship between the individual and the universal order to which it belongs. This misunderstanding leads to the duality of existence creating two worlds as it were, presumed to be entirely opposed to each other. The moment an individual carves out a portion out of the whole and calls it as its own, 'a subject' is born and also is created thereby 'the object' opposed to it. This phenomenon may precisely be described as 'the confinement of the whole into a part,' or more accurately as, 'the delimiting of the absolute in the terms of the relative. It is like taking a part and projecting it, by extending its dimensions, upon the whole i.e. taking the day for the year, by extending, in imagination, its specific characters to the extent of the whole year : in other words, however grotesque it may sound, it is like an organ of human body, say a kidney, proclaiming to be the whole of the body by extending its dimensions.

However much, the individual, which is essetially a relative entity, may extend in time space its specific character, it cannot cease to be specific and relative : and it is not given to the individual to function beyond the specific character lent to it by the relative order of the universe in which it finds its place. So that, extension in space does not change the specific character of the individual and does not affect its function, and moreover, the extension that may be admitted, is too, in the order of universal movement, and is not a product of individual effort : though, when that effort is practically located, it may be attributed to a particular individual ; which however, is not originally

restricted to it. Thus, the individual being a relative entity functions as a part and parcel of the universe and the duality in terms of the subject and the object is a conceived phenomenon to facilitate the practical transaction of the business of every day life and is not in any sense 'real'.

The confusion regarding the order in which the individual has its being as individual, creates an illusion of the dual existence of the subject and the object as two separate self-existing entities, always in conflict as the final nature of life and being; while insistence on individual achievement and failure goes to perpetrate this false division in experience and becomes a cause of further strife and conflict.

We have seen how the conflict arises by confining the absolute in the relative form and how, what is universally perceived is individually conceived with reference to the specific limitations of the individuals ; and the super-imposition of those limitations upon the un-delimited order of the universe in which the individual has its unique position, (the specificity of which, arising out of the relative order of the whole universe, accounts for the individuality of the individual being). Thus it is obvious that the individual being is a delimited form of the universal being and the delimitation so recognised is neither final nor absolute but is relative and temporal in spite of the uniqueness by which the individual being is characterised. Individual being is, therefore, 'a being', only because it is Being, first and foremost ; the limitations in time-space, lending a distinct identity to it, being only relative.

The apparent duality in terms of the experiencing subject and the experienced object, arising out of the misconceived notion of the individual, being a self-existing entity, essentially constitutes the basic problem of strife and conflict in the life of the individual; which, when not perceived in its proper perspective is projected on the universal scale and the whole life or life by itself thus comes to be misconceived as 'struggle for existence' and as 'the survival of the fittest' etc. The duality spoken of is neither entirely false nor entirely true : it represents relative truth

and has a practical value in the conduct of everyday life ; but its significance is misconceived when the essential Being, nondual and absolute, that forms the very substratum of the relative order which gives rise to the illusion of duality being the nature of reality is lost sight of. This duality may therefore be accepted as a practical aid to comprehending the relative order of the universe, manifesting the absolute Being, in countless forms and presenting a panorama of life that incorporates the infinite in the drama of numberless finite forms ; a magnificent view, the beauty of which is beyond conception.

ANTIBIOSIS OF SOIL MICRO-ORGANISMS

Dr. R. S. DWIVEDI

Department of Botany, B.H.U.

Soil is a good culture medium for micro-organisms which are usually present in large numbers. While it is true that numbers of these microbes vary widely both from soil to soil and in a particular soil at different times, it is possible to assess some idea of the number as determined by plate counts, usually present per gram of soil :

Bacteria	...	1 to 100	millions
Actinomycetes	...	1 to 10	,,
Protozoa	...	100000 to 1	,,
Fungi	...	50,000 to 1	,,
Algae	...	10,000 to 1	,,

Among the bacteria as Waksman and Horning (1943) have pointed out, various heterotrophic forms such as *Bacillus subtitis*, *B. mycoides* etc. and non-spore formers (*Pseudomonas fluorescens*, *Radiobacter* spp. etc.), the nitrogen fixing forms, *Azotobacter* and *Clostridium pastorianum* and the nitrifying organisms are of the universal occurrence. The surveys reported from different parts of the world for soil fungi indicate that of the moulds isolated by plating techniques certain species of the genera like *Penicillium*, *Aspergillus*, *Trichoderma*, *Gliocladium*, *Fusarium*, *Mucor* and *Zygorhinchus* are widely distributed.

The production of antibiotic substances by microbes has been known for more than sixty years. The discovery of the chemotherapeutic properties of Penicillin led to a greatly increased interest in antibiotics. It is now known that substances toxic to other micro-organisms, which usually diffuse into the surrounding environment are produced under certain circumstances by a wide range of micro-organisms, particularly by bacteria, fungi and actinomycetes. One case is known of production of an antibiotic substance by a unicellular green alga

Chlorella (Pratt, 1944), and the production of 'killer' substance, paramecin,by some strains of *Paramecium aurelia* (Sonneborn, 1939. Van Wagtendonk and Zill, 1947).

The two common groups of antibiotic-producing soil bacteria are the aerobic spore formers and the *Pseudomonas fluorescens* group. Taxonomically the spore formers are a difficult group and there is much confusion among the various antibiotics gramicidin, gramicidin-S, licheniformis and subtilin which are important ones but the degree of their chemical relationship is obscure (P. W. Brian, 1949).

The antibiotics produced by actinomycetes include such substances as Streptomycin, Streptothricin, Chloromycetin, litmocidin, Proactinomycin, lavendulin, actinorubin, sulfactin, actidione and grisein. There are several members of actinomyces producing antibiotics but there is a lack of knowledge at present to indicate whether certain species are particularly involved or whether certain antibiotics are of greater significance than others.

The study of production of antibiotics by fungi was initiated by Alexander Fleming in 1928. He was working with Petri dish cultures of the bacterium *Staphylococcus aureus* in St. Mary's Hospital, London. One of his cultures became contaminated by a mould, *Penicillium*. The species of *Penicillium* are common in soil and most of them are green. Fleming, about to discard the culture plate, noticed that there was a zone of dead *Staphylococci* around the circumference of the *Penicillium* colony. He tested the culture filtrates of *Penicillium notatum* with several pathogenic bacteria and found that it was some two or three times as effective as pure carbolic acid in stopping the growth of *Staphylococcus*, *Streptococcus*, *Pneumococcus*, *Gonococcus* and the diphtheria bacillus but it was without effect on others such as *Bacillus coli* and *B. influenzae*. Raistrick in 1932 obtained a culture of Fleming's mould on a synthetic medium and acidified the medium slightly, extracted with ether and on removal of the

ether obtained the antibacterial substance in a crude form. He gave the name penicillin to this substance which was very complex acid, instable in the conditions of the experiments. A large number of species of *Penicillium* have now been studied as well as other moulds. *P. notatum* and the closely allied *Penicillium chrysogenum* are the only ones which produce penicillin in appreciable amounts.

The speciation is more definite in fungi hence one can select potentially important antibiotics produced by them. More than thirty well-characterized antibiotics produced by fungi have been reported. Organisms producing penicillin, patulin, claviformin, lavcacin, clavatin, expansine, gliotoxin, viridin, griseofulvin, citrinin, aspergillic acid and penicillic acids are common in soil. All these antibiotics except penicillin and viridin are stable. Soil fungi have been studied less than bacteria and actinomycetes in connection with the production of antibiotics. Much attention has been paid on a common soil inhabiting fungus-*Trichoderma viride* having strong antagonistic activities. It produces viridin and gliotoxin which are toxic to other microbes. Gliotoxin in pure and crystalline form was isolated from one of the strains of this fungus. This substance is now known to be produced by some other forms viz. *Aspergillus fumigatus*, *Penicillium terlikowski*, *P. obscurum and P. cinerascens.* It is toxic substance strongly anti-bacterial and antifungal. Viridin also produced by *Trichoderma viride* is similar to those previously isolated by some workers and named palutin, clavatin and claviformin. It is also produced by some other soil fungi viz. *Aspergillus clavatus*, *A. giganteus*, *A. terreus*, *Penicillium patulum*, *P. expansum*, *P. claviforme* and *P. urticae*.

Brian, Curtis, Hemming and Norris (1957) isolated Pulvilloric acid, an antibiotic from culture of *Penicillium pulvillorum.* It is non-specific in its antifungal activity which is dependent on pH. Bamford, Norris and Ward (1961) isolated flavipin: an antibiotic from the culture of *Epicoccum nigrum* and *E. andropogonis.* It is an antifungal substance stable only in aqueous solution at low pH.

A very important and stable antibiotic—griseofulvin—is reported to be produced by *Penicillium nigricans* and *P. janezewskii*. It is capable of causing disturbances in the hyphal development of *Botrytis allii* and other fungi (Brian, 1960). It was isolated in pure form by Brian, Curtis and Hemming and was found to be chemically and biologically identical with the metabolic substances produced by *Penicillium griseofulvum*. Brian, Hemming, Moffatt and Unwin (1953) isolated Canescin-antibiotic—produced by *Penicillium canescens*. It is slightly antibacterial. Growth of *Bacterium coli* and *Salmonella typhi* in both at pH 5.5 or pH 7 is not inhibited by 100 mg/ml while growth of *Staphylococcus aureus* is inhibited by 100 mg/ml at pH 5.5 but not at pH 7. Albidin was isolated by Curtis, Hemming and Unwin (1951) from the culture filtrate of *Penicillium albidum*. It inhibits the germination of a range of fungal spores at concentrations varying from 0.04 to 3 mg/ml and is bacteriostatic. Humicolin—an antifungal substance was found to be produced by *Aspergillus humicola*. It was isolated by Curtis *et al* and inhibits the germination of spores of many pathogenic forms at 1 mg/ml. Frequentin was isolated from the mould *Penicillium frequentans* by Curtis *et al* (1951). It is obtained as crystalline needles after several recrystallizations and melts at 128° C to a yellow oil. It has both antifungal and antibacterial properties and it kills the cells of *Staphylococcus aureus* and *Bacillus subtilis* but does not show any effect on *Bacterium coli* and is very less effective on *B.globiforme*.

Soil fungistasis

The production of toxic substances by soil microbes impart the soil a characteristic property—the fungistasis. Due to this property of soil fungal spores do not germinate properly in soil. Consideration of the possibility that antibiotics may accumulate in soil to give the soil as a whole antibiotic properties gives us the impression of wide spread fungistasis. Dobbs and Hinson (1953) recognised this property of soil as they found complete inhibition of germination of spores of *Penicillium frequentans* buried in soil in folds of cellophane. Their

original findings have been confirmed and extended (Hinson, 1954, Dobbs et al, 1960, Jackson, 1958). It is thought that once germination of spores has occurred in soil, germ tube is less susceptible to fungistasis. Similarity between fungal behaviour in staled cultures and in natural soil have suggested that soil fungistasis may be a form of general staling between both like and unlike organisms. The fungistatic property of soil is decreased when energy rich substances as glucose, sucrose etc. are added to it.

Author's own research with fungistasis has shown that fungistatic action of soil is very much decreased when living roots of plants are present in soil. An experiment was set up taking spores of *Helminthosporium sativum* and *Fusarium culmorum* and wheat seedlings. Slides with spores suspension were coated and buried in natural soil in a pot and wheat seeds were sown on slides so that root hairs should travel on slide surface. Spores of both the fungi germinated satisfactorily when in contact with root hairs but not a single spore germinated in controlled conditions. This may be attributed to the fact that root system secretes some energy rich substances such as sugars, amino acids and other aromatic compounds which decrease the fungistatic property of soil. Jackson (1958) found that this property of soil is decreased when glucose is added to the soil.

Some aspects of role of antibiotics in soil

(a) Antibiosis and fungistasis in relation to root disease control :

The control of soil borne diseases by introduction of living organisms has led to the consideration of biological control of plant diseases. Sanford (1926) suggested that control of potato scab by green manuring was a biological control due to an increase in the population of certain saprophytic bacteria. Similarly infection of wheat seedling by *Ophiobolus graminis* could be completely suppressed by the antagonistic effect of various fungi and bacteria. In exploring

the possibilities of disease control by introducing antagonists into the rhizosphere, the potentialities of strains of fungi known to be normal colonizers of the root surface have not yet received much attention. *Trichoderma viride* has been considered to be very good organism to control the root disease pathogens. The growth of *Armillaria millea* causing root diseases of several plants, is checked by introducing this fungus as it shows lethal effect to *A. millea*.

(b) Dwivedi and Garrett (1968) working on fungal competition in agar plate colonization from soil inocula have found that the species spectrum of fungi colonizing plates of nutrient agar changed progressively with the degree of staling caused by earlier established fungal colonies. At the highest degree of staling, colonies were produced only by *Trichoderma viride* and three species of *Penicillium* viz. *P. vermiculatum*, *P. luteum* and *P. nigricans*. Tolerance of fourteen species of soil fungi to fungistatic growth products was indepedently assessed through the growth made by each species on a series of culture filtrates. It has been concluded that success of any species in colonization of staled nutrient agar is determined both by its tolerance to fungistatic growth and by its population level in the soil inoculum.

(c) The antibiotics and toxic substances produced by rhizosphere and rhizosplane microflora of leguminous plants have not received any attention in the development of root nodules. Author's work (1967) with *Trifolium pratense* has shown that there are some fungi which show stimulatory response to the developing nodules while some forms inhibit the nodule formation. It requires further investigation with a varying number of microbes and leguminous plants.

Thus a consideration of the evidences mentioned above will give the idea of antibiosis by soil microbes and its role in

governing the dynamics of rhizosphere population of microbes and possibilities for the biological control of root diseases.

REFERENCES

1. Brian, P. W., 1949: Ann. Bot. *13*(49), 59-77.
2. Brian, P. W., Curtis, P. J., Hemming, H. G. and G. L. F. Norris 1957: Trans. Br. mycol. Soc. *40*(3), 369-74.
3. Brian, P. W. 1960: Proc. Symp. Ecology of Soil fungi (pp. 115-29) Liverpool Univ. Press, Liverpool.
4. Curtis, P. J., Hemming, H. G. and G. H. Unwin 1951: Trans. Br. mycol. Soc. *34*: 332-39.
5. Dobbs, C. G. and W. H. Hinson 1953: Nature *172* : 197-99.
6. ——————and——————1960: Proc. Symp. Ecol. Soil fungi (pp. 33-42), Liverpool 1958, Liverpool Univ. Press. Liverpool.
7. Dwivedi, R. S., 1967: Proc. 54th Indian Sci. congr. (Botany section) p. 281.
8. Dwivedi, R. S. and S. D. Garrett, 1968: Trans. Br. mycol. Soc. *51*(1), 95-101.
9. Jackson, R. M. 1958: J. Gen. Microbiol. *18* : 248-58.
10. Pratt, C. 1944: Science *99* : 352.
11. Sanford, G. B. 1926: Phytopathology *16* : 525-547.
12. Sonneborn, T. M. 1939: Amer. Nat. *73* : 390.
13. Van Wagtendonk, W. J. and L. D. Zill 1947: J. Biol. Chem. *171* : 595.
14. Waksman, S. A. and E. S. Horning 1943: Mycologia *35* : 47.

THE NATURE OF SOVEREIGNTY IN MEDIEVAL INDIA

DR. J. CHAUBE

Department of History

Sovereignty is an essential attribute of the state. It is derived from the Latin word *superanus* meaning supreme. Sovereignty means that in every full-fledged or independent state there is an ultimate authority, an authority from which there is no appeal. In view of its modern attributes we have to trace its origin and development in Islamic polity.

The earliest period of Islamic history is known as al-jahiliya (age of ignorance). The Arab people then possessed no common bond to cement them into a nation wide unity. They had neither political life nor a system of law. They were leading nomadic life and were governed by a tribal organisation whose unit was the family. There was no state and no government in the modern sense of term. It is said that Prophet Muhammad was sent as the representative of God to rule over them. Muhammad undertook a tremendously difficult task of welding these congeries of tribes into a united single brotherhood bound by a common ideal and common aspirations.[1]

He rid them of their superstitious and suicidal customs without destroying the essential elements of their organisation. To bring about national unity in place of family tie, he supplied a common faith. The faith which united the Arab people into a compact nation can be put in a simple sentence. "There is one God and Muhammad is his Prophet."[2] From this time we trace origin of the Islamic state (Medina) and Prophet Muhammad as its first sovereign. He was the commander-in-Chief, the Supreme Judge and the Executive head. The Quran therefore, laid down some principles of statecraft and political

[1] Parmatma Saran: Islamic Polity: pp. 1-2.

[2] Ibid p. 2

obligations which the infant Muslim state needed. The Arab people offered their unquestioning obedience to Prophet Muhammad as the messenger of God.

The behest of Allah is "obey me, obey the Prophet and all those that are in authority among you."[1] Prophet Muhammada's words were final in temporal as well as ecclesiastical matters. According to the modern conception of sovereignty he was the final authority from which there could be no appeal.

The Second Stage

After the death of the Prophet, Abu Bakra became the Khalifa and sovereign of the Islamic state. He ruled according to the laws prescribed in the *Quran*, *Shariat* and *Hadis*. The problem arose about the choice of the next sovereign. The Quran directs the believers "to make over trusts to those worhty of them."[2] Thus the people regarded the Khilafat (Caliphate) as a gift of God and trust of the society. The Khalifa was therefore temporal and ecclesiastical head of the theocratic Islamic state. Such type of leadership created difficult problems of succession. The spiritual leadership required certain specific qualifications which a hereditary sovereign might not possess.

On the bais of this fact hereditary succession to the Khilafat was challenged. Its solution was found *variably* in election, nomination and hereditary succession. All these complications were due to theocratic nature of the state where a ruler was required to lead his people to prayer. There was no such problem in a secular state, in which the eldest son generally succeeded with or without religious qualifications.

(i) The reigning sovereign could appoint successors and accordingly Khalifa Harun appointed his three sons—Amin, Momin and Mutamin to succeed him one after another.[3]

---

[1] Ibid. p. 2

[2] The Quran tr. Maulana Muhammad Ali : Ch. 4 ver. 58 p. 90.

[3] K. D. Bhargava : A Survey of Islamic Culture and Institution. pp. 68-9.

(ii) The Arabs adhered to the elective principles but they were guided in their choice by seniority.[1] According to Sunni theory sovereignty lay in the Muslim brotherhood that might confer sovereign power on any bonafide Muslim.[2]

(iii) Since the time of the Khalifa, there was a tendency to nominate successor.[3] According to this rule the people were only to confirm the nomination of the ruler. Abu Bakra had nominated Omar as his successor or the next Khalifa.[4]

Thus we find that the concept of sovereignty was very considerably affected during the Khilafat period. However after the accession, the Khalifa was sovereign of the Islamic state. He combined in himself all functins of sovereignty i.e. legislative, executive, military and judiciary.[5]

The third Stage

Some further developments took place in the conception of sovereignty when the Muslims in their zeal to propogate Islam and turn Darul-Harb into Darul-Islam conquered the neighbouring countries. They were inspired to create a Pan-Islamic state.[6] First the Prophet and later on the Khalifa appointed governors to rule over recently conquered territories and vested in them both forms of sovereignty temporal and ecclesiastical and charged them with further carrying out the precepts of the Quran.[7] Later on he separated the two functions and assigned them to different persons.

In the year 8 A.H. he sent Abu Zaid al Ansari and Amar Ibn-Al together with a script inviting the people to embrace Islam. His instructions to them was "If the people are ready

[1] Ibid p. 67
[2] R. P. Tripathi : Some Aspects of Muslim Administration p. 2.
[3] Ibid p. 2.
[4] Saran p. 5.
[5] Bhargava p. 48.
[6] Saran p. 3.
[7] Bhargava p. 48

to pronounce the creed and ready to obey God and His Apostle, then Amar is to be governor and Abu Zaid to lead to prayer as also to receive admission into Islam and to teach the Quran.[1] Here the unitary form of sovereignty was bifurcated into two. Amar was the supreme authority in temporal matters while Abu Zaid in the eccelesiastical. Both had to owe nominal allegiance to the Khalifa but this allegiance in no way affected their sovereignty. After some time we find again the amalgamation of these functions into one. The same person was appointed as governor to collect the land tax, manage military operations as well as to lead to prayers. Although such a governor enjoyed sovereignty but he had to maintain nominal allegiance to the Khalifa.

After some time the Arab hegemony began to split into small Kingdoms under various dynasties. The historian Marizi states the prophecy of Muhammad "The Khilafat after me will endure for thirty years, after that will come the rule of Kings."[2] According to Ibn Khaldun there was nothing of the Khilafat after the death of Harun al Rashid. In 1258 Halaku the great Mangol conqueror extinguished it.[3] Even after the conquest of Bagdad, the sovereigns of various independent kingdoms continued to maintain formal tie with the central political institution of Islam known as the Khilafat.[4] It was purely symbolic.

The Muslim concept of sovereignty on the eve of the Turkish conquest of India was that the sovereign was the supreme will and commanding power of the state, but he did not possess aw-making power. He had to execute the laws of the Quran, Shariat and Hadis. He maintained nominal allegiance to the the defunct though symbolic Khilafat and this in no way affected his sovereignty.

---

1 Ibid p. 48.

2 The state and Religion in Mughal India : Roychoudhury ML p. 127 fn. 1.

3 Elliot & Dowson II p. 7.

4 Roychoudhury p. 127.

Sovereignty during the Muslim Rule in India

The Turkish invaders defeated the Indian rulers and laid the foundation of Muslim rule in India, finally assumed the role of earlier Hindu Empire-builders like Chandragupta, Samudragupta and Harsha. Thus, the sovereign power passed into the hands of the Muslim rulers. The social and political institutions were new to them, therefore they had to adjust themselves according to necessity. Although the theocratic nature of the state did not allow them to bring about radical changes in the concept of sovereignty. Neverthless some changes were made which were all due to the personal out-look of the Muslim rulers.

Their conception was like those Muslim sovereigns outside India. According to the Islamic ideals the essential attributes of a sovereign required that he should be a male adult, suffereing from no physical disabilities, a free born Muslim having faith in Islam and acquainted with its doctrines, capable of leadership, fit to govern on principles of equity and justice.[1] It was also essential for the Muslim rulers to obtain confirmation of their sovereignty from the Khalifa. We shall analyse the salient features and nature of sovereignty in Medieval India on the basis of the above mentioned considerations.

(*a*) *de facto sovereignty*

Sovereignty in Medieval India was based on the sword and was therefore essentially de-facto in character. A distinction is to be made between de-jure and de-facto sovereignty. The de-jure sovereign is the legal sovereign and de-facto sovereign is the actual sovereign who is obeyed by the people irrespective of the legal status. A de-facto sovereign as soon as establishes his authority permanently, begins to acquire alegal status and eventually becomes the de-jure sovereign.

After the death of Iltutmish, his son Ruknuddin was placed on the throne. He was the legal sovereign while his mother Shah Turkan ruled over the Sultanate.[2] Alauddin

[1] Pandey, p. 452

[2] Ibid p. 91

Khalji ceased to be a de-facto sovereign during the last days of his life, Malik Kafur the brilliant hero of the Southern campaigns, exercised actual power. Malka-i-jahan Māhru and crown prince Khizra Khan were deprived of their services to the old but de-jure sovereign.[1] He placed Omar Khan on the throne and himself assumed the role of a regent.[2] The Afghan theory of sovereignty which we shall discuss later was that it belongs to those who have power to hold it. According to Smith—Akbar a boy of fourteen was a sovereign in name during 1556-60 while Bairam Khan enjoyed powers and privileges of a de-facto sovereign.[3]

Shah Jahan ceased to be a real sovereign when his authority became inaffective. He was no longer the supreme power of the Mughal empire and his orders were disobeyed by none else than his own sons. While the old ailing monarch was on sickbed, his sons were engaged in a war of succession.[4] According to Willoughby "sovereignty is the supreme will of the state." Buth Shah Jahan was no longer the supreme will of the state. After his success, Prince Aurangzeb removed his father Shah Jahan, the de-jure sovereign, from the throne and confined him in the fort of Agra. He was deprived of the privileges of even a common man.[5] Now Aurangzeb became a de-jure as well as de-facto sovereign. We arrive at the conclusion that sovereignty in Medieval India was based on the sword and was therefore de-facto in nature.

(b) *Divine Right Theory*

According to the exponents of the divine right theory, the state is governed by God himself or by some superhuman man. God may rule the state directly or indirectly through some ruler who is regarded as the agent or vice-regerent of God. Such state is known as the theocratic or God ruled state.

[1] The Delhi Sultanate: Vidya Bhavan. p. 38.
[2] Ishwari Prasad: History of Muslim Rule: p. 115.
[3] V. A. Smith: Akbar the Great Mughal. p. 32.
[4] Ishwari Prasad. pp. 552-64.
[5] Ibid. pp. 568-70.

Such theory was known to the Ghaznavide and Ghoride rulers of Central Asia. The Sultan was believed to occupy the highest office among men. Nizamuddin of Samarqand maintains that Kingship is a divine gift. Fakhruddin Mubarak Shah calls himself Zillillah and Sāyai-Khuda.[1]

Among the Sultans of Delhi, Balban was the first ruler to claim himself the representative of God on earth. The title of zillillah was originally prerogative of the Khalifa but since the time of Seljuks, had come to be applied to others.[2] Balban was not satisfied like Iltutmish with the supreme leadership of the nobles. He considered himself to be the shadow of God and his theory of sovereignty had its origin in the Persian paganism.

Kingship is a great blessing and the highest office of the world. The kingly office is the creation of God and is received directly from Him. The heart of the king reflects the glory of God. A king, therefore must feel the importance and significance of the glory and grandeur conferred on him. A grateful king is sheltered under the canopy of God's protection. A king therefore, must seek God's pleasure by doing the approved and virtuous deeds.

Mubarak Shah declared himself the Great Imam or the reprsentative of God.[3] Muhammad Tughluq like Balban also believed that the sultan was the shadow of God. He inscribed on the coins "Al Sultan Zilli Allah (Sultan the shadow of God)."[4]

The Afghan rulers never regarded the sovereignty as the gift of God. Sher Shah appears to have believed that his mind received special suggestions and directions from God.[5]

Among the Mughal emperors, Humayun was the first to believe that the King was the shadow of God on earth. His

[1] Tripathi. p. 19.

[2] Ibid. p. 36

[3] Ibid. p. 53.

[4] Ibid. p. 60.

[5] Ibid. p. 118.

official historian Khwandamir calls him a personification of the spiritual and temporal sovereignty,[1] and His Majesty the king, the shadow of God "Hazrati Padshah Zilli Illahi."[2] Humayun also believed that he was the centre of the human world, just as the sun is the centre of the Universe.

Akbar had inherited philosophical mysticism of his father. To him "royalty is a light emanating from God, a ray from the sun, the illuminator of the Universe, the argument of the book of perfection, the receptacle of all virtues."[3] Such a conception of sovereignty was nothing new to the Rajput princes who traced their descent from the sun and the moon. But it was quite novel to the Muslims. Akbar's conception of sovereignty was the out come of three steams of thought the Muslim, the Muhgal and the Hindu which were active during the preceding centuries and which had a tedency to unite.

Like Blban, Akbar also considered sovereignty a divine blessing. According to Abul Fazl "Kingship is a gift of God and is not bestowed till many thousand grand requistes have been gathered in an individual". Race and wealth and the assembling of nobles are not enough for this great position.[4] To Akbar, the superiority of race was not necessary for Kingship but Balban laid great emphasis on the superiority of race. As the king was the shadow of God, the emperor laid stress on the court etiquette of Zaminbos (or Sijdah) on the ground that to add something for royalty is an emblem of the power of God and a light shedding ray from the Sun and the Absolute."[5] He started also the practice of jharokhadarshan. The people used to have his darshan like that of the sun in the morning. It seems that Jahangir and Shah Jahan continued this practice and believed in the divine right theory. Aurangzeb stopped the jharokhadarshan and ceased to consider himself the shadow of God, Zillila.

---

1 Humayun-namah, p. 126.

2 Tripathi. 117.

3 Ibid. p. 136.

4 Akbarnamah : Beverige II p. 421.

5 Tripathi. p. 135.

(c) *The Afghan Theory of Sovereignty*

The conception of sovereignty entered a new phase with the rise of the Afghans. The Afghans with their love of tribal independence were not prepared to recognise indivisible absolute sovereignty.[1] Malik Kala shared the throne with 30 to 40 leading Afghans.[2] Bahlul Lodi claimed nothing more than to be one among te peers.[3] The conception of sovereignty was a complete negation of the theory of Balban and Alauddin Khalji. He raised the prestige of the nobles at the expense of the sultan and reduced the kingship to some sort of exalted peerage. He used to sit on the carpet in midst of the nobles. Sikandar was not prepared to share sovereignty and unlike his father he sat on th throne in the open darbar. The Turkish court etiquettes were revived and the nobles were taught to respect the sovereign. But in Ibrahim Lodi there was a change for he held that all privileges and rights emanated from the sovereign. His assertion completely swept away the tribal claims.

(d) *Attitude towards the Khalifa*

The Muslim sovereigns regarded themselves as representatives of the Khalifa. The Ghaznavide and Ghoride rulers were alive to the importance of getting confirmation of sovereignty from the Khalifa of Bagdad. Ghiyasuddin received his investiture from Mustaqi, billah. Still more important was it for Yalduz to get sanction of his authority from the Khalifa.[4] Iltutmish was the first sultan who procured a robe of honour from the Kalifa of Bagdad.[5] He assumed the title of Nasir Amirulmuninin (Assistant of the leader of the faithful Khalifa). However this practice continued even after him. When Balban came to the throne the Khilafat was a defunct institution. Though there was no Khalifa, his memory was treasured by Balban who inscribed on the coins and read

[1] Awadh Bihari Pandey: The First Afghan Empire in India. p. 215.
[2] Ibid p. 215 fn. 1.
[3] Tripathi p. 80.
[4] Ibid p. 18.
[5] CHI. III. p. 54.

Khutba in name of the deceased Khalifa. It was a sort of challange to Mangol Khaqan, for it amounted to "The Khalifa is dead, long live the Khalifa."[1]

Although Alauddin Khilji was a powerful monarch who could hold his crown against any Asiatic monarch but he had respect for the Khalifa. He styled himself "Yaminul Khilafat Nasiri Amir-ul-Muminin" meaning right hand of the Khilafat and leader of the faithful.[2] Thus we see that the Khilafat continued to receive the homage of Alauddin Khilji.

The reign of Mubarak Shah is a landmark in the Sultanate period so for as allegiance to the Khilafat is concerned. He proclaimed that the sovereign of Delhi was independent of the Khilafat and refused to recognise the legal superiority of any power outside India. He declared himself the Great Imam, the representative of God (al Imam ul Azam Khalifa-i-Rabbul Alimin or Khilafat ullah or Amirul-muninin).[3] He deviated from the previous practice. His predecessons called themselves assistance of the defender of faith (Khalifa) but Mubarak Shah himself assumed the role of the Khalifa. With the assumption of tile of the Khalifa, Delhi came to be called Dar-ul-Khilafat.[4]

When Ghayasuddin Tughluq came on the throne, he restored his allegiance to the defunct Khilafat and styled himself as Nasiri Amir ul-Muminin but Muhammad Tughluq dropped all reference to "Khilafat." Although he did not assume the title of Khalifa or Amir-ul-Muminin. After successive failures in his schemes, he thought that his disregard of the Khalifa might be responsible for all these troubles and natural calamities. In a characteristic manner he craved for the favour of the Khalifa in Egypt to confirm his sovereignty over the sultanate of Delhi. He removed his name from the coins and inserted the Khalifa's name. This was a revival of the legal superiority of the Khalifa.[5] Firuz Tughluq also read the

[1] Tripathi pp. 36-7.
[2] Ibid. p. 50.
[3] Ibid. pp. 52-3.
[4] Ibid. p. 53 fn.
[5] Ibid p. 62.

Khutba in the name of the Khalifa and styled himself as the Naib of the Khlifa.[1]

The Afghan (Lodis) rulers had little regard for the Khalifa. Sher Shah revived the memory of Mubarak Shah and himself assumed title of the Khlifa As sultan ul Adil, Al Amirul Ghazi and Khilafat-Uzzaman.[2] Islam Shah and his successor followed the same practice.

Like his fater, Humayun was not willing to recognise any power politically superior to him. He did not follow the previous practice of the Muslim rulers of India and did not call himself "Khalifa or his assistant". In the proclaimation of Mahzar, Akbar claimed himself as Imam--Adil and Amirul Muminin[3], from this it is clear that he also did not recognise the Khilafat as the supreme authority in the Muslim world. His successors Jahangir, Shahjahan, and Aurangzeb followed the same policy.

Islamic Laws No check to Sovereignty

In Islamic polity Allah is regarded as the ultimate sovereign and the final law giver. His laws are condensed into Shariat.[4] The Muslim rulers could not change even a word of the Shariat as revealed in the holy of book of the Quran unlike the modern state where the King or members of the parliament can modify, change or substitute the laws accrding to their will. Islamic laws come from the mouth of God and therefore they are supreme. Similar opinion is expressed in the Brahadaranyaka Upanishad that law is the King of Kings. The dominating position of the law is due to the fact that the people concieved the law not as a man-made thing but divine in character.[5] Both in the Hindu and Islamic polity the King or the Sultan was not above the law but under it. In Hindu polity there is a provision to

[1] Ibid pp. 68-9.
[2] Ibid p. 98.
[3] Smith V. A. p. 128.
[4] Roychoudhury p. 122.
[5] Hindu Administrative system: Dikshitar p. 216.

punish the King if he deviated from the stated laws. Manu says :

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेदण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥

(Manu viii p. 336)[1]

But there is no such provision in the Islamic polity. The main source of the laws were the Quran, Shariat and Hadis. A Muslim ruler was required to rule accordingly in consultation with the Qazis. In practice these Qazis adhered to the Prophet's injunctions so far as lay in their power but they were meekly submissive when a powerful ruler tried to deviate from the Islamic laws. The orthodox rulers like Balban, Firuz Tughluq, Sikandar, Lodi, Shah Jahan and Aurangzeb ruled the country according to the Islamic laws. Balban entrusted the execution of the laws to the learned peers and God-fearing officials.

Among the Muslim rulers of India, Alauddin Khilji was the first who was opposed to the interference of the Ulema in the matters of the state and in this respect departed from the previous traditions of the monarchs of Delhi. The law was to depend on the will of the monarch and had nothing to do with the law of the Prophet. This was a guiding maxim of Alauddin. He said :

> "I do not know whether this lawful or unlawful whatever I think to be for the good of the state or suitable for the emergency that I decree and as far what may happen to me on the approaching day of Judgment that I know not".[2]

No Ulema could protest. He openly declared that 4/5 of the khams to be deposited in the state treasury and 1/5 to be distributed among the soldiers. The Islamic law prescribed that 1/5 should be deposited in the treasury and 4/5 to be distributed. Muhammad Tughluq also followed the same principle.

Akbar was the third ruler to follow the policy of Alauddin Khilji. According to Abul Fazl—the sovereign's conscience is

[1] Ibid. p. 216.

[2] Ishwari Prasad p. 109,

guided by God himself. As a corrollary he does not stand in need of guidance by the jurists and the religious law. Abul Fazl makes the position absolutely clear that there should not be any interference. According to him the root cause of trouble was the dual authority—i.e. the authority of the monarch and that of the Ulema. The obivious remedy was to combine these two authorities and go back to the principle of undivided sovereign power in one and the same person.[1] Thus Akbar ruled the empire according to his will and in the interests of the people. Except Alauddin Khilji, Muhammad Tugluq and Akbar almost all the Muslim rulers adhered to the principles of Islamic laws.

Children born of Hindu mothers, Women and Slaves were not barred from Sovereignty

Birth from non-Muslim mother was not derogatory and no opposition was put to the claimants born of Hindu mothers either in the sultanate or the Mughal period. Firuz Tughluq, a son of Nila Devi of Depalpur house was preferred to Muhammad Tughluq's natural son.[2] Sultan Sikandar was born of a goldsmith's daughter of Sarhind and even so he was raised to the throne.[3] Jahangir was born of a Rajput princess, the daughter of Bharmal, a ruler of Ajmer. He was crowned by non relse than Akbar himself. Khusrau, the son fof Manbai, daughter of Bhagawan Das was supported to contest his fater for the throne. Shah Jahan's mother was Jagat Gosain the dauthter ofMoti Raja. Kambaksh though born of a christian mother was a favourite of his father Aurangzeb.[4] Thus children born of Hindu mothers were not deprived of their claims to the throne.

As regards women, they exercised enormous powers during the minority or absence of the sovereign. The Islamic convention outside India had for-bidden women from the

[1] Tripathi pp. 139-40.
[2] Roychoudhury p. 133.
[3] The First Afghan Empire in India: Pandey. p. 100.
[4] Roychoudhury p. 133.

claim of sovereignty. Iltutmish, in violation of the tradition, nominated his daughter Raziah to succeed him.[1] For some time the nobles could not reconcile themselves to the idea of a women ruling over them. It had no parallel in the history of either the Ghaznavide or Ghories and was opposed to the conception of sovereignty as laid down by the authors of Muslim political theory.[2] After some time she was placed on the throne in the teeth of opposition of Muhammad Junaidi.

This is the solitary example in the history of medieval India. According to Dr. M. L. Roychoudhury, the Mughals did not recognise the title of women to hold sovereignty.[3] This is clear from a letter of Shah Begam written from Badakshshan to Babar "though I being a woman, cannot myself attain the sovereignty, yet my grandson Mirza Khan can hold it."[4] This claim was recognised by Babar. No doubt the harem exercised a great influence on the Mughal Emperors but the women never assumed sovereign power. Nur Jahan made the nearest approach to sovereignty having struck her portrait on the obverse of the royal coins.[5] But she could not claim herself a sovereign.

Minority was also no bar to sovereignty in Medieval India. Kaymurs, Shihabuddin Umar and Mahmud Tughluq were placed on the throne during their minority.[6] Akbar was hardlly about fourteen years of age when he was declared sovereign.[7]

The Muslim law had for-bidden a slave to claim sovereignty. But the foundation of Muslim rule in India was laid down by a slave Turk Qutbuddin Aibak. His authority was recognised even before he procured a letter of manumission.[8] Nasiruddin

[1] CH. III p. 56.
[2] Tripathi p. 28-9
[3] Roychoudhury p. 131.
[4] Tripathi p. 110.
[5] Roychoudhury p. 134.
[6] Pandey p. 453.
[7] Smith p. 22.
[8] Pandey p. 453.

Mahumud the younger brother of Muizuddin Muhammad Ghori sent the paraphernalia of royalty together with a Chhatra and Durbash.[1] Iltutmish was a slave of Qutbuddin. His election to the throne was opposed by Qazi Wajihuddin Kashani. He was able to silence his opponents by showing a letter of manumission.[2] Thus we see that a slave could also claim sovereignty.

Nasiruddin Khusrau had no special reverence for Islam even so he was accepted as the sultan of Delhi.[3] Alauddin Khilji frankly admitted his ignorance of the shariat but nobody could challenge him to rule.

In conclusion, it would not be very easy to locate medieval India sovereignty in any other person than the ruler himself. Hardly there was any consistency in the conceptions of sovereignty during the Muslim rule. The period is full of instances when the Islamic ideals and principles were flagrantly violated. It was necessary for the Muslim monarchs to rule according to the laws prescribed in the Quran, Shariat and Hadis but they summarily rejected them when they did not suit them. In the absence of any strong institution to check their vanity, they became an absolute despots and their will was the law. No doubt some of the orthodox rulers confined themseles within the limits of Islamic laws. Frequent changes in the conception of sovereignty were mainly due to the personality and outlook of the rulers.

---

[1] Tripathi pp. 22; Elliot & Sowson II p. 96.

[2] Ibid p. 25.

[3] Pandey p. 453.

MAN IN NATURE

R. MISRA

Professor and Head of the Department of Botany,
Banaras Hindu University

It is interesting to review the evolution of man through biological, cultural and environmental backgrounds and foresee his future as two of his attributes viz., knowledge and population have become explosive.

Man differs from other primates in his behaviour and accomplishment which are passed from generation to generation by teaching and learning. The capacity to resason and apply knowledge for betterment of the race and modify his environment are the essential features of his culture. In the study of man, therefore, there is broad overlap between the biological and social sciences.

From all accounts it appears that *Homo sapiens* differentiated from the main stock of hominids about 120,000 years back. Physically the modern man corresponding to the Cro-Magnon man evolved some 25-50 thousand years ago. He was a tool maker and an artist. Stone, bone, ivory and antlers of reindeer were used for tool and design. From the fossil records it appears that no animal was as widely distributed as man and he wandered extensively. Although there have been massive gene flows during the last five hundred years on account of development of communications, some rough correlation still exists between geographical areas and human features. On such basis the Caucasoid, the Mongoloid, the Negroid, the Australoid and the American Indians have been recognised. But all the races are found to be interfertile. Nevertheless, the cultural differences are even more marked than the biological ones.

It seems clear that early man was a part of the forest ecosystem. He hunted and ate meat. Killed bodies were

subsequently roasted when he learnt to use fire. By virtue of his intelligence and use of tools man must have been a very effective predator and a second or third order consumer. At times to some extent, he might be first order consumer as he gathered berries, fruits and roots which he could easily chew. Occasionally he was preyed upon by man eaters and this might have led to his gregarious life which meant moving about in packs or tribes, not unlike many animals showing territorial behaviour. Human population was small and divided into tribes, living in the forests. Only pathogens requiring alternate hosts could cause disease in the isolated tribes. Malaria and yellow fever might have been common.

Thus the man of the stone age was a predator on animals, occasionally prey for other predators, gatherer of various plant foods and a host for parasites.

Possibly man started building shelters from tree materials within the forest and navigated across freshwater and seacoasts for fishing. The primitive and temporary settlements modified the local environment and on the heaps of organic refuse nearer home, he might have found the very plants growing from the roots or seeds which he used to gather from the forest. Thus garbage dumps near primitive settlements became the nucleus of agriculture. The fire and the axe helped him in clearing the forest so that land could be reclaimed for larger settlements and cultivation. Selection of plants and domestication of animals for food and beast of burden followed as a natural corollary. It is believed that this happened some ten thousand years ago.

There is greater probability that man first learnt to reproduce plants from cuttings of roots and shoots as propagation by seeds requires greater skill. Thus probably taro, breadfruit, and bananas were first cultivated in the humid tropics of Indonesia and this was subsequently followed by rice cultivation by collection and sowing of seeds of the wild variety. More or less at the same time about seven to eight thousand years ago, cereal cultivation by seeds started in the Middle

East. Domestication of animals beginning with dog for hunting, and poultry and pigs for eating might have started at the same time. The domestication of plants and animals thus seems to have originated at 7 or 8 centers in the world. Rearing of cattle followed the primitive farming. The herd-tending nomads roamed about with their belongings, and cleared more of forests settling now and then at places temporarily. This may account for wider dispersal of materials and cultures for the following 3-4 thousand years. All these years the population of man, domesticated animals and plants must have increased at the cost of wild lives. Thus, the natural forest or grass ecosystem became locally unstable wherever men went in numbers. His clearings of the vegetation led to the invasion of alien plant and animal species setting up new equilibria in the biological systems as the physical environment also became modified.

Man was presumably a part of the tropical forest ecosystem where he had evolved. The interglaciary periods must have given chance earlier, for the migration of fauna and flora towards the cooler temperate regions. It is in this context that temperate life is regarded as attenuation of the tropical life. Later, in his adventurous wanderings man should have colonised and exploited these parts of the world before leading pastoral life. The forest came to be regarded as hostile habitat as it harboured most of the animals which preyed upon man and his domesticated animals besides destroying his cultivated crops.

Man is physically the same as about fifteen thousand years ago. But during this period his accumulation of learning passed through generations by means of language and culture, greatly altered his ecological position. He continuously increased his independence of the resources from any particular biological community. Thus, from being a member of any ecosystem, he has become the builder of ecosystems.

The complex relationships of organisms which obtain in a natural ecosystem, are simplified by the destruction of the forest of many species and its replacement by crop farms of a

few species in which he grows the plants and eats their products. With the aid of fire and cooking methods he became largely the first order consumer. Food production and control of harmful species must have led to the first spirt of human population.

The complexity of natural communities tends to produce biological and physical stability. There is a complicated network of checks and balances that promote the survival of the system as a whole. Upon the increase in the biomass of the population of any species the biomass of its predators and parasites also increases, thus trimming the sizes of various populations to more or less normal size of the biota. Man's attempt in this context, has been to make himself terminal in the food system so that his population biomass increased tremendously at the expense of the other species. It follows that the biomass of the producer organisms remained the same because organic production by crop plants occupying the land for short periods did not exceed the production of natural communities standing all the time on a given piece of land. Nevertheless, besides distorting the natural biomass pyramid, this process reacted on the habitat and changed the physical surroundings of men, very often adversely, and making the ecosystem unstable and unproductive.

The territorial instinct of man and invention of the wheel were instrumental in human settlements. Villages arose with concentrations of populations and farm products were transported with the help of draught animals and carts. The earliest settlement and civilizations of Asia Minor, Egypt, Mohanjodaro and Harappa seem to be four to six thousand years old. The rise of human population, however, even at that time was controlled by frequent famine and contagious diseases which became rampant as a result of crowded living. Thus man's digging on the environment causing soil erosion and disturbance in the climate, and his parasites controlled the growth of human population.

Agriculture and civilizations arose hand in hand. From the hides sewn by means of bone needles as early as the Cro-

Magnan man's time (50,000 yeras), weaving of cloth started from the stiff strong fibres of the stalks of flax plant in Egypt and Mesopotamia seven thousand years back. Wool and cotton fabrics were later inventions. But clothing did help populations of the tropics move into the temperate regions.

Agriculture not only led to urbanisation but also owning of land, leadership and division of labour and these in turn produced more and more complex social organisations. Control over nature and discovery and exploitation of natural resources became the motive power of human civilization. The cultural revolution of man has almost put a stop to his biological 'evolution' since he has created entirely an artificial environment for himself and now due to rapid development of communications there is no geographical isolation of gene pools. While animals become adapted by changing themselves to fit the environment, man alters the environment to fit his needs. For instance, fat and fir arise on the body of animals through selection of genes which lead to protection against cold but man meets the same situation by putting on clothes.

Cooperation in various fields of human activity and the foresight of many men for creating a better world have been other social characteristics for cultural revolutions. During the last four centuries the advances in Science and Technology have changed our life considerably and created newer problems which require urgent solution.

Cultural evolution as is evident, depends upon the transmission from each generation to its successors of all that has been learned, invented and created. Thus education is the most significant factor in this phenomenon. The evolution of script, paper, printing and publication of books are integral steps of this drama. The growth of physical and biological sciences have led not only to more comfortable life but also to human longevity and a tremendous increase in the population by control of diseases and higher production of food.

The sizes of human population have increased at a logarithmic rate thrice in the history of man; once when tool

making was achieved, the second time when agriculture was introduced and finally when science has been applied to all the problems of human existence. The present world population of three billions is expected to reach the six billion mark in 2,000 A.D.

The population of India including Pakistan remained thirty crores at the turn of the century. When Bankim Chandra wrote the poem "त्रिश कोटि कंठ कलकल निनाद कराले, के बोले मां तुमि अबले ?" he considered the large population as tremendous strength of the country. But today the population of India excluding Pakistan has gone up to more than fifty crores and it is regarded as the greatest weakness of the country. People are not dying with famine since food is being imported and transported to deficit areas, and diseases and wars are controlled. But economically the country has become much dependent upon the western world. In the wake of industrial, scientific, medical and nuclear advances the world is becoming integrated. Even if we succeed in creating one world government and society, the total output of food will fall far short of production. Starvation and malnutrition among three quarters of the population are more than real. Hence, control of population seems to be the urgent necessity.

As man tries to control crop pests by chemical poisons, the latter circulate through the ecosystem including man. When the poisons like DDT are washed down into the rivers and seas, they come back to man through the fish. Thus, a new risk to our health and life has been created in solving the food problem.

Although many of human diseases are controlled, incidence of nervous disorders and heart trouble has increased. Suicides have become common. All this shows that we are not getting happily adjusted in the man-made environments and thus clearly brings us to a revaluation of our material, aesthetic and spiritual life.

Resources can be conserved but values have to be discovered and cherished. The erosion of our natural ecosystems

has led to the erosion of not only material resources like soil, water, vegetation, minerals, etc., the biological part of which are renewable and others non-renewable, but it has also led to the erosion of our soul.

For the conservation of the natural resources which implies their wise use for maintaining a continuous and adequate supply, the science of ecosystem must be understood. It is understanding of not only the materials but also how they are produced. At the moment it appears as if we are cutting the branch of a tree while sitting on it.

The values of life are related to the practice of arts, sicence, enjoyment and a sympathetic relationship with other individuals and organisms. Do we not run away at times to wild landscapes from crowded cities of sky-scrappers for mental peace? We, indeed, find immense pleasure in watching nature and in studying the natural ecosystems.

Do we have a clear vision of our future ? Civilizations have arisen and sunk under the debris of time. Affluent societies think of ever-expanding economy. The non-renewable resources will soon be depleted. Technologists give us hope in discovering newer and replaceable resources but limits to ingenuity can also be reached. The modern man has disturbed the ecosystem and it is at the verge of going out of gears.

Education must be a continuous process. Unless the ecological conscience is aroused in the society our future remains uncertain. Let us live wisely.

Suggested Readings

Bates, M. 1961. *Man in Nature*. Englewood Cliffs, N.J., Prentice-Hall Inc., New Delhi.

Sears, P. B. 1962. *Where there is life*. Dell Publishing Co., N.Y.

INDUSTRY AND THE SEDIMENTARY PETROLOGY

RAM MURTI

Department of Geology

Economic growth of a nation depends upon the industry and the same depends upon the availability of the raw materials which are mostly obtained from the sediments or the sedimentary rocks with which sedimentary petrologists are well acquanted.

The application of sedimentary petrology, now a days, is being made to the following types of industries :

(i) Asphalt industry
(ii) Building technology
(iii) Cement and concrete technology
(iv) Ceramic industry
(v) Use in criminology
(vi) Filler industry
(vii) Glass industry
(viii) High way construction
(ix) Medicine industry
(x) Refractories
(xi) Water supply

Asphalt for Building Construction

The mastic asphalt is used in water-proofing building especially those constructed of rainforce concrete. A mastic asphalt is essentially a mechanical mixture of rock aggregate and specially selected asphalt cement in such proportions as will give a product which, when heated, can be worked with a float into the desired position, thereafter setting into compact voidless, impervious mass. This can either be prepared from natural rock asphalt or asphaltic bitumen mixing with limestone powder i.e. known as synthetic mastic asphalt. For a very long time there was no general recognised method of analysising these mastics which would give unequivocal sub-

stitute as to, source of origin of aggregate, sedimentary petrology helps a lot in finding out the source origin of aggregate.

Building Technology

The application of sedimentary petrology becomes of vital importance where sedimentary rocks are used for building purposes. (1) *Natural stones* whether utilized as primary constructional material or purely decorative facing or for other purposes should never be selected haphazardly, but rather with due regard for locality, source, durability with age, facilities which it offers for fashioning into set designs and, where employed externally, with particular reference to its weathering tendencies, especially in coastal, industrial and urban areas. The application of the microscope to the study of many selected building rock-types by means of thin section, has proved to be of vital importance in interpreting the phenomena observed above. Recently considerable technique of research has been conducted for the purpose of extending the appearance and for utilizing the slate, waste, part of research work has adopted the techniques which are applied by semidentary petrologists such as :

(i) Mineral composition
(ii) Mechanical analysis of dust
(iii) Determination of particle size
(iv) Classification of superfine material

Both consolidated and unconsolidated sediments have found their use as building materials. The consolidated sedimentary rocks that are used as primary constructional material as well as decorative material are limestone, sandstone and shale. They need systematic petrographic study which reveals mineralogical as well as textural properties. Rocks, which are of great importance as regards to in coherent sediments belonging to practically every type of sedimentary deposits whether mechanical, organic or chemical in origin, finds some economic use in construction work. Gravel, sand, clay and gypsum are used for construction of artificial product that are incarporated in modern buildings. The following are the

principal raw materials used in building industries and the products are derived from one or more rock types.

Raw Materials	*Products*
(i) Gravel	Concrete
(ii) Sand	Cement & limemortar concrete plaster, bricks, etc.
(iii) Clay	Bricks, tiles, ceramic products fire bricks & refractories.
(iv) Marl	Cement
(v) Lomestone	Lime, hydraulic lime, hydrated lime, lime putty and plaster.
(vi) Gypsum	Plaster.

Cement and Concrete Technology

The following raw materials are utilized in preparation of cement—(i) chalk, (ii) clay, (iii) magnesite, (iv) diatomite, (v) gypsum, (vi) dolomite, (vii) limestone, (viii) marl, (ix) mud, (x) santorine earth, (xi) shale.

The above shown naturally occurring rocks are capable of petrological study along conventional line to assist determination of impurity and interpretation of chemical analysis prior to selection and use. The following is a list of chief products manufactured from one or more of above ingradients together with their brief definitions:

Alumina cement, gypsum cement, plaster of cement, hydraulic lime containing 25% silica, calcium, gypsum mixed with cream of tortor, borax and recalcic quick lime magnesium lime natural hydraulic cement portland blast furnace cement. The microscopic study of portland cement requires a special technique for preparation of thin section. In place of water, glycerine spirit is used as lubricant because of its friability it has first to be impregnated with synthetic or other suitable substitute for grinding.

Ceramic Industry

The aid by which sedimentary petrography affords in the technology of ceramic industry is of two fold:

(1) Firstly the investigation of raw materials, and

(2) secondly the microscopy of synthetic product produced therefrom. The first demands the relevant petrographic methods where as the microscopic investigation of fire products is different matter altogether involving specialist knowledge of process conditions of firing, mineral conversions and inversions and recognitions by various means of complex synthetic silicates that is entering into their constitution. Petrological examination is only concerned with mineral composition. In investigation of fired bodies, a number of characteristics may be determined with the use of microscope added by spectrographical and X-ray methods. The following characteristics are generally found :

(i) Uniformity
(ii) Predominant particle size,
(iii) Structure,
(iv) Degree of conversion or inversion
(v) Artificial mineral
(vi) Presence or absence of glass

Use in Criminology

The microscope is employed now-a-days in the examination of fibres, dust, bullets, bank notes, stains and sand. Petrographic methods in general and petrological microscope particularly have now a days taken place in the investigation of crime. For instance if it is sometimes desirable to ascertain proof if possible by comparison of known material of definite origin for source of mud, sand, dust and other inorganic matters adhering to cloths, boots, skin and hair etc. and in such cases the most intensive researches often of minute materials are prosecuted. The evidences obtained from this method are coupled with other evidences.

Filler Industry

It is usually interesting substance i.e. one which has no chemical reaction with medium with which it is mixed. A

property common to practically all filler employed in industry is extremely fine state of division of constituent particles. Fillers employed in manufacturing process vary greatly in the mineral composition. In many cases they are by products quarrying operation which has long been regarded unremunarative crusher rim dust, a waste material for which there is no outlet with the growth of certain key in distinct such as plastic rubber asphalt, the demand for suitable inert filler has become great for example common fillers are (1) barite, (2) bauxite, (3) bentonite, (4) gronitic dust, (5) gypsum, (6) anhydrated lime, (7) anhydrite and so on.

Glass Industries

The raw materials of glass include high grade silica sand, siliceous rock, containing potash, pure sandstone quartzite, brown flint, and chert quartzite, vein quartzite, felspar and felspar kaoline etc.

So far sand as raw material is concerned, P.G.H. Boswell less it "down that ideal sand for best glass making is one with 100% silica and composed of angular grains all of the sand size and of the grade known as medium or fine."

Most objectional impurities in sand either iron oxide, limonite or clay, heavy minerals such as rutile, anatase, garnet, zircon, monozite if present in any quantity are also undesirable as they promote to resist fusion. The following two methods are employed for the examination of glass material:

(1) Composition of mineral
(2) Mechanical analysis

High Way Construction (*Road Construction*)

The following sedimentary rocks have been used as roadstone :

(1) Arkose, (2) Breecia chert, (3) Dolomite, Flint, Graywacke, Grit, Limestone, Quartizitic sandstone and so on. The appreciation of petrological microscope to study selected types as above is, now standard technical procedure. Particularly struc-

ture of rocks are also significant, mineral, composition, also, nature of cementing material and degree of decomposition as affecting durability.

Medicine Industry

The chief examinations of medical research opens to the collaboration to the sedimentary petrologists is leading to illucidation pulmonary diseases. Petrologists contribution to investigation to industrial dust as contribution to phthisis is essentially that of—

(1) examination of various rocks believes to cause silicosis, asbestosis.
(2) examination of inorganic mineral matters recovered from infected lungs of diseased persons.
(3) reconstruction of chemical and basis by which inorgaanic matter in fine state of inversion can react chemically with lung tissue and/or can promote aggregate condensive to development of fibrosis.
(4) in consultative capacity may be called upon to give expert's opinion in case of disputed claim to compensation under various schemes of disease.

Refractories

The selection of suitable raw materials for manufacture of all kinds of refractories products have for long time been done by extensive laboratory test involving microscopical examination of natural rocks. Almost all the (rock but) refractories are subject to petrological studies of incuherent particle. Such investigations if skillfully carried out never fail to throw considerable light on ultimate behaviour of grinding, crushing and mixing.

Water Supply

In respect of water supply sedimentary petrology properly adopted can more hold its own in this field, it does not matter whether the rocks are sandstone, conglomerate, gravel

or any other favourable rock type as subsurface natural water reservoir, they should invariably be studied and petrographic method employed to the full in determining the unseen character at any site.

Besides the above summary, a few words more may be written in connection with sedimentary petrology and industrialization.

Most of the deposits come from sedimentary rocks as 80% of the earth surface is covered by sedimentary rocks.

In U.S.A. 84% minerals are obtained from sedimentary rocks and in our own country it exceeds to 90%.

Examples of Sedimentary Deposits are :

Placer deposits, diamonds, pyrites, petroleum, coal, limestone, etc.

Sedimentary rocks bear the credit of being host rocks also, as for example lead and Zinc and other metals in Almara.

Thus we see that the most of the industries of a nation are some how or the other based on sedimentary rocks and the knowledge of sedimentary petrology plays an important role in the advancement of the industrialization.

AL-BĪRŪNĪ ON CHILD MARRIAGE

M. P. SINGH

An attempt has been made in this article to give a clear account of child marriage, during the early medieval period as described by Al-Bīrūnī. He came to India with the train of Mahmud of Ghazna in 1017 A.D. He studied Indian wisdom with keen interest and produced one of the world's remarkable books, 'Kitab-ul-Hind'[1] His 'Indica' is a mine of information which is based on personal observations as well as on a study of the literature of the Hindus.

Marriage being the most important of all the Saṁskāras, has been rightly considered a very important event in a Hindu's life. The ancient Indian literature is full of praise for it while discussing this institution. The Śatapatha Brāhmaṇa holds that a man is not complete without having a wife,[2] and Manu clearly declares that an unmarried man is unfit to perform a religious rite.[3] In this connection Al-Bīrūnī's statement is worth noting. He writes that 'no nation can exist without a regular married life' and he further adds that "every nation has particular customs of marriage and specially those who claim to have a religious law of divine origin."[4] Undoubtedly the Gṛhyasūtras attach considerable importance to the Gṛhasthāśrama, which is the source and centre of the main activities of this holy institution.[5]

The institution of marriage remained almost the same in all its broad features throughout the ancient period of Indian history,

---

[1] Al-Birūni's India, 2 Vols., London, 1910, Edited and Translated by Edward C. Sachau.

[2] Śatapatha Brāhmaṇa, V. 2.1.10 Cf. Aitareya Brāhmaṇa, IV. 27.5. Aitareya Āraṇyaka, 1.2.4.

[3] Manu, IX. 28. Cf. Yājñavalkya I, 78.

[4] Al-Bīrūnī, Vol. II, p. 154.

[5] Gobhila Gṛhyasūtra, III. 4.1-2. Cf. Baudhāyan Dhammasūtra, II. 6.11.29-30., Manu III. 77-79.

but the customs associated with it underwent many steady changes during the early medieval period. The commentaries and the digests, very sincerely preserved the rules of marriage sanctioned by the older smritis, but they preferred lowering down the marriageable age of girls. The question of pratiloma marriages could not be thought of and had gone out of practice before this period. Though the anuloma marriages were allowed ; but were losing grounds on account of caste restrictions. The widow marriage and divorce were almost stopped as well as opposed. In the place of widow remarriage practice of Sati was generally favoured. Thus this institution, like the caste system, was becoming more regid in its scope and narrow in its outlook.

The question of the marriageable age for both sexes will be considered. It varied considerably from time to time and from caste to caste. In early times generally adult girls were given in marriage. As regards men, there were no definite rules as to the age before which they were permitted to marry. A young man of more than twenty years was considered fit to be married. In this connection Al-Bīrūnī informs us that a Brāhmaṇa was allowed by his master to marry when the second period (Gṛhasthāśrama) of his life begins from the twenty-fifth year.[1] This obeservation of Al-Bīrūnī is quite near the truth when we examine it in the context of the general practice of the Hindus regarding the age of men when they took wives. The twice-borne boys were sent to study the Vedas after the Upanayana Saṁskāra. The period of the completion of Vedic studies was around twelve years. After devoting their full time to their studies the boys were allowed to marry. According to the Hindu view of life, this was the first stage of life, i.e., Brahmacharyāsrama which generally continued for twenty five years.[2]

As regards the age of girls for marriage, there is a lot of discussions by the writers of the Dharmaśāstras. They have devoted considerable space to the discussion of this problem.

[1] Al-Bīrūnī's India, Vol. II. p. 131.
[2] Ibid, pp. 130-3. Cf. Manu. II. 177-197.

In this connection the statement of Al-Bīrūnī is quite interesting. He says that the Hindus of his time arranged marriages of their sons, because they took place at a very young age.[1] At another place he informs us that no Brāhmaṇa was allowed to marry a girl who was above twelve.[2] This practice infact still exist to some extent. Al-Bīrūnī's remarks are no doubt based on his personal observations, though they also agree with the provisions of the Dharmaśāstras. The Vaikhānas Smārta sūtra says that a Brāhmaṇa youth should marry a girl (of the same varṇa) who has not crossed the stages of a nāganikā, or gaurī. According to this provision, a nāganikā is a girl over eight years but less than ten, and gaurī is one who is between ten and twelve and has not yet attained puberty.[3] Several Gṛhyasūtras lay down that the girls were given in marriage just before they attained puberty or immediate by after it. According to them, she must be a nāganikā, that is, a girl of tender age or who has not yet attained puberty.[4] These provisions of the law-givers regarding girls' marriage at an early age indicate that the tendency towards child marriage was gaining grounds. They are of opinion that a girl should be married between the age of seven and twelve. Between this period she attains the stages of gaurī, rohiṇī kanyā and rajaswalā.[5] Though they differ as to what should be the age corresponding to each stage, all agree that after these stages the marriage of a girl is an extremely sinful act. They condemn not only the parents but also the husband.[6] According to the Brahmapurāṇa after the age of four a girl can be given in marriage at any time.[7] Medhātithi while agreeing with

---

[1] Al-Bīrūnī, Vol. II. p. 154.

[2] Ibid. p. 131.

[3] Vaikhānas, VI. 12.

[4] Kane: History of the Dharmaśāstra, Vol. II, part I, pp. 440-445.

[5] Gobhila Gṛhyasūtra, III 4-5; Gautam XVIII 21-23, Vasishtha, XV 70; Parāśara, VII, 7; Manu, IX. 88 and 94. Yājñavalkya, I. 13-14 Nārada, stripumsa verses 25-27.

[6] Kane: H.D.S. Vol. II, part I, pp. 438-446.

[7] Brahmapurāṇa 165-8 cf. Vāyupurāṇa 83. 44.

the previous authorities, recommends the age of six or eight years for girls. He further says that between the eighth year and attaining puberty a girl can be given in marriage. He quotes Manu in connection with the relative ages of both sexes and adds that a man should marry a girl comperatively very young.[1] It has been further suggested that under no circumstances should the marriage of a girl be postponed beyond the age of ten.[2]

It may, however, be pointed out that the extreme view of the law-givers did not become popular from a long time. We learn from Al-Bīrūnī that during his times the normal age of a Brāhmaṇa bride was twelve.[3] On this point the views of Parāśara can be cited in confirmation. He fixes eight, nine and ten years for a gaurī, rohiṇī and kanyā respectively, and beyond this limit (after ten years) a girl is called rajaswalā. "If a person does not give away a maiden when she has reached her age of twelve, his pitṛs have to drink every month her menstrual discharge. The parents and also the eldest brother go to hell on seeing (an unmarried) girl reaching the stage of a rajaswalā." He further remarks that if a Brāhmaṇa youth marries such a type of girl, he becomes the husband of a Vṛṣlī, and is not to be admitted to dinner in the same row (as other Brāhmaṇas).[4] The Nītivākyāmṛta prescribes sixteen years for a boy and not more than twelve for a girl for marriage.[5] Thus Al-Bīrūnī's conclusion relating to early marriage, on the whole, agrees with the recommendations of the Smritis. Although he does not give the exact age of marriage except in the case of the Brāhmaṇas—which is twelve—this would very clearly suggest that the age at which a girl was given away in marriage was definitely less than twelve. Thus child marriage

[1] On Manu IX. 89, 90-91.

[2] Brihadyama, III 21-22.

[3] Al-Bīrūnī, Vol. II; p. 131.

[4] Parāśara, VII 8-9: The Smṛti chandrikā (I. pp. 73 and 81) quotes Parāśara, VII, 6-9 as from Yama cf. Sambandhaviveka, New I.A. Vol. IV, p. 254.

[5] Nitivākyamṛta, XI. 28 XXX. 1.

became an established institution of Hindu Society. We are informed that the Paramāra princes Rājamati was married to the Chāhamāna king Vīsaladeva III at the age of twelve.[1] The marriages of the daughters of Maharaja of Maṇḍovara and Jaitsī of Abu with Prithvīrāja III were child marriages.[2] The marriage of Kadamba of Goa, the heir—apparent, with the daughter of Vikramānka Chālukya of Kalyāṇa can also be mentioned in the category of childmarriage. These examples clearly establish that child marriages were quite common among the Hindus.

But it is difficult to say when and under what circumstances this practice was accepted by the Hindus. We have different views on this aspect of child marriage. C. V. Vaidya opines that child marriage had come into vogue between 600 and 1000 A.D.[3] Dr. Altekar while commenting on Al-Bīrūnī's observation, writes : "Parents in the lower section of society where the pernicious custom of the bride price prevailed to a great extent were the first to take advantage of the permission to marry girls at the age of 5 or 6 for their own selfish ends. Their examples was later followed by other classes and the custom of very young marriages thus began to be more and more common."[4]

But pre-puberty marriage was not the general rule for all. At any rate the ruling families would have freed themselves from the extreme restrictions of the law-givers regarding the age of marriage for girls. The Chachanāmah mentions that Chacha's daughter Bāī was a grown up woman. When Daharsīah, her elder brother, came to know that his sister had reached the age of maturity, he became anxious to see

[1] Visaladeva Rāso, II. 7.

[2] Prithvīrāja Rāso, Samaya VII, Samaya XIV.

[3] C. V. Vaidya : History of Hindu Medieval India, Vol. III, p. 396.

[4] Altekar, Position of women, p. 59. The neighbouring countries like Al-Arhan of India too observed the rules of marriages of the Hindus. Marvāzī says : that the inhabitants "marry their sons just as they give away their daughters (at an early age) considering this the proper thing." V. Minrosky, Marvāzi, (Tr.) p. 63.

her married.[1] It is said that unmarried Jānkī, sister of Drohar, was in love with Jaisiya, the son of Dāhar of Sindh.[2] It also indicates that she was quite grown up.

The custom of Svayamvara among the ruling chiefs of the Rajputs suggests that girls were sometimes married when they were fairly grown up. They could, as it was understood, select bridegrooms of their choice from an open competition. In this connection, the marriage of the Gāhaḍavāla princess, Saṁyogitā, with Raī Pithaurā, can be mentioned. She was quite young and wished to be married with the Chāhamāna monarch.[3] As regards post-puberty marriage we can mention the marriage of eighteen year old Jalhaṇā, the daughter of Sākambharī ruler Arṇorāja with fifty seven year old Kumārapāla the Chaulukya king of Anhilpātana.[4] Now we can conclude that post-puberty marriages were frequently taking place among the ruling families who could easily ignore the provisions of the Dharmaśāstras. This is also supported by the absence of pre-puberty marriages in the Rājataranginī. A story of the Deśopaddeśa of Kshemendra relates that girls were married at a mature age.[5] This view is also confirmed by the Samskrita dramas, where usually we find, the grown up heroines engaged in marriage scenes. Only the Brāhmaṇa brides were affected by the rules of proper age for marriage which began from about the 6th or 7th century and continued to the period under review as has been mentioned by Al-Bīrūnī.[6]

We do not find specific reasons for insisting on pre-puberty marriage in ancient Indian literature. P. V. Kane observes

[1] Chachanāmah, p. 43. cf. Elliot, Vol. I p. 154.

[2] Ibid, Elliot, Vol. I, 198. Post-puberty marriages were in vogue about 600 A.D. Bāṇa mentions that Prabhākaravardhana was led to think of the marriage of his daughter Rājyaśrī who had already attained puberty. Harshacharita, uchchhvās, IV.

[3] Prithvīrājarāso, Jangamakathā, Samaya LX, Rāsosāra, p. 241.

[4] Hemachandra, Dvyāśrayamahākāvya XIX, VV 21-35.

[5] Deśopadeśa, VII.

[6] Al-Bīrūnī, Vol. II, p. 131.

that ancient Indian writers should not be held up to ridicule for their recommendations regarding the lower age of marriage. He thinks that this practice was common throughout the civilized world.[1] Why did they do so ? The reasons of this development cannot be given with certainty. Some have suggested that on grounds of religious sentiment, the smriti writers recommended early marriage of girls. Another view is that this custom came into vogue as a means of protection of a Hindu girl from being forcibly taken away by the Muslims. C. V. Vaidya holds that it was a sure weapon to save Hindu girls from becoming Buddhist nuns. It was a common practice among the Buddhists who had allowed grown up women to become nuns.[2] A. L. Basham does not agree with these views and thinks that the sexuality of Indian character as well as heavy expenses of maintaining an unmarried daughter may have encouraged this custom of child marriage.[3] Basham's views cannot be accepted because sexuality and child marriage should not be grouped together. Indian sex literature recommends fully grown-up girls for purpose of sexual relationship, which is also evident in Indian sculpture in which well-developed women figures have been depicted. As regards financial burden it may be pointed out that though the birth of a daughter was not generally welcomed,[4] after birth it was the duty of the father to nurse his daughter well and give her in marriage with full consideration.[5] R. B. Pandey thinks that the ease-loving and luxurious life of the Aryans led them towards early sexual life. The discontinuance of Vedic study and Upanayana of girls, removed the restrictions on a disciplined and chaste life. Early marriages were indirectly influenced by

---

1 Kane : HDS, Vol. II. part I, p. 446.

2 C. V. Vaidya, Medieval Hindu India Vol. III p. 396.

3 A. L. Basham : Wonder that was India, p. 167.

4 Al-Bīrūnī, Vol. I, 10. 181.

5 Ibid. Vol. II, pp. 154 and 164 cf. Manu IX 118. Sulaimān while writing about the settlement of marriage says, "In this every one does what he can offered". Nainar, Arab Geographers' knowledge of South India, p. 103. cf. Chachanāmah, p. 43, Elliot, Vol. I p. 154.

foreign invasions, women among them did not enjoy a high position and were taken, as an article of enjoyment". Their onslaughts also influenced Hindu social life and perhaps for "safety and fashion both", the Hindus began an early married life.[1]

Dr. A. S. Altekar gives among other reasons the ramification of the caste-system, prohibition of intercaste marriages and difficulties in the selection of suitable bridegrooms. The Sati custom which was a common feature of Hindu life, forced the parents to think of early marriages. He further adds. "if the father is dead and the mother followed him on his funeral pyre, there would be a father-in-law at least to look after the young orphans, if they were already married. So why not provide them with an aditional guardian of natural affection by marriyng at an early age."[2]

Although Al-Bīrūnī and other Muslim writers nowhere discuss the causes of this practice, they deal with the prohibition of inter-caste marriages[3] and the prevalence of the practice of Sati.[4] Thus one is inclined to agree with Dr. Altekar that while the first restricted the area of choice, the second acted in favour of giving away girls at an early age. There is also some truth in C. V. Vaidya's argument that child marriage provided some sort of protection against women becoming Buddhist nuns. The view that the fear of the Muslims led to the adoption on this practice does not appear very sound. Child marriages had been in full vogue before the Muslims had become a powerful force in India. However, one is inclined to believe that the coming and establishment of Muslim rule in India, there was a further increase in the incidence of child marriages, which became a prevalent Hindu custom.

[1] R. B. Pandey: Hindu Saṁskāras, pp. 321-2.
[2] Altekar, op. cit. pp. 59-60.
[3] Al-Bīrūnī, Vol. II. pp. 155-6, Elliot, Vol. I, p. 16.
[4] Al-Bīrūnī, Vol. II, p. 155, Elliot, Vol. I, p. 11. cf. Yule, Marcopolo, Vol. II, p. 341.

SOME INTRODUCTORY ASPECTS OF MODERN ALGEBRA

Dr. P. B. K. SANKAR

Post-Doctoral Research Fellow, Department of Mathematics

The concept of number forms the basis of classical Algebra. In a sense, classical Algebra is a generalisation of Arithmetic. The numbers used for counting, viz., one, two, three, four etc., have been given the technical name of positive integers, natural numbers, or, whole numbers. By themselves, these numbers exhibit many interesting properties. One such property is that, given a collection of natural numbers, there is always a minimal member among them. This property forms the basis of Mathematical Induction. The concept of prime numbers is another fundamental property. An integer exceeding unity is called a prime number if its only divisors are (i) itself and (ii) the number unity. While any given number can be obtained by adding the number one to itself repeatedly, no such simple rule exists in the case of multiplication. To obtain a given number multiplicatively, we are required to break it up into prime factors. The unique factorisation theorem asserts that the particular prime numbers into which any given number is broken up, as well as the multiplicity of each factor (that is to say, how many times each factor should be repeated), are always unique. Having been given two or more numbers, it is possible to break them up into prime factors. The question that now arises is, what particular primes are common in all the factorisations ? In case no prime number is common, we say that the given numbers are relatively prime. If, however, some primes are common, we can determine the least number of times each such common prime is repeated. Then we can form the product of all common primes, each raised to the power equaling its least multiplicity. This product, when evaluated, is called the greatest common divisor (g.c.d.) of the given numbers. It can be formally defined as follows:

a number becomes the g.c.d. of some given numbers if (i) it is a divisor of all the numbers, and (ii) it is divisible by all other common divisors. Euclid's Algorithm states that there is a unique g.c.d. for every pair of positive integers, and that the g.c.d. can be expressed as a multiple of the first integer added to a multiple of the second integer. These multiples, however, may be positive, negative, or zero, but they are unique for the given pair of integers. In particular, when the given numbers are relatively prime, unity can be expressed as above. An analogous concept is that of least common multiple (l.c.m.). We shall again suppose that the given numbers have been factored uniquely into primes. This time, we have to see what prime numbers are required (apart from multiplicity) to build the given numbers. Take each such prime and raise it to the power equaling its maximum multiplicity, and then form the product. This product is called the lowest common multiple of the given numbers. To formally define it, we have to interchange the words "divisor" and "multiple", as also the phrases "is divisible by" and "divides". One interesting feature in the case of any two given numbers is that their product equals the product of their g.c.d. and l.c.m.

Underlying the proof of unique factorisation theorem is a minor but important result. If a prime number divides the product of certain integers, it must divide at least one of these integers.

Considering, now, all the integers, positive, negative and zero, we can define among them an interesting relation named congruence modulo a fixed positive integer. We say that one integer is congruent to another, if their difference is divisible by the fixed positive integer. This fixed positive integer, which is always taken to be greater than unity, is called the modulus of the congruence relation. Having taken the modulus as divisor, we try to equate, in a sense, the dividend with the remainder. The quotient, whatever it is, is incosequential. In view of division algorithm, we can always obtain a remainder, which is either zero or is positive but less than the

divisor. The different remainders obtainable are precisely the numbers zero, one, two etc. upto the number just preceding the modulus. Hence integers can be classified according to the remainders left by them. We get as many classes as there are units in the modulus.

If we have two pairs of congruences, that is to say, given two numbers, and two others respectively congruent to the former, relative to a certain modulus, then the sum and product of the first two numbers are respectively congurent to the sum and product of the last two. One point of caution, however, is that if a product is congruent to another product and there is a common factor, it is not justifiable to cancel out the common factor unless the same is relatively prime to the modulus in question. If the modulus is itself a prime number, we can ignore the warning, (save in the case when the factor to be cancelled is either equal to or a multiple of the modulus). This last mentioned case of prime modulus is most interesting, for, then, the congruent remainders, or, rather, the classes of congruent numbers, behave just like ordinary fractional numbers. One notable point is that, when a given integer is not congruent to zero, there exists another, such that their product is congruent to unity. The ultra-important condition is that the integer should be relatively prime to the modulus.

The congruent remainders are also known as residues, and the congruence classes as residue classes. The number of non-zero residues which are relatively prime to the modulus is called the φ—function of the modulus, after Euler. When the modulus is itself a prime number, its φ—function is clearly the integer just preceding it.

Modern Algebra differs from classical Algebra at the very outset. The concept of set pervades through the entire structure of Modern Algebra. The idea of set in Modern Algebra is as fundamental as the idea of number is in classical algebra. The impression that one gains, when one comes to hear such words as totality, collection, assemblage, aggregate, family, class etc. is the abstract way of defining a set. There

being logical difficulties in any definition being given precisely, it is best to leave the concept undefined. A satisfactory definition is that a set is a collection of objects, which are distinct and distinguishible. Intrinsically assumed is a rule, by which we can immediately say whether any particular object is, or is not, a member of a particular set. And among the members of the set, we suppose that each member is in some way different from others.

We say that one set is contained in another, if every member (element) of the former is also a member of the latter set. The first set is called a subset of the second set. Alternatively the second set is a super set of the first set. If two sets are such that each is a subset of the other, then they are defined to be equal. We also say that one set is inclusively related to another if the former is a subset of the latter. When the equality of sets is ruled out, the subset is called a proper subset. One should not immediately conclude that any two sets are thus comparable. If no member of one set is a member of another set and vice-versa, in other words, if two sets are such that they have not even a single common member, we say that the sets are disjoint. The idea of a null set (empty or void set) is another important concept. It corresponds in a way to zero in the number system. A null set is defined to be a set without members. Alternatively, a null set is a set, each of whose members satisfy two mutually contradictory properties. The null set is also a subset of every set.

Two or more given sets can be combined to form new sets, and this combination can be effected in more than one ways. The union of two or more sets is defined to be a set whose members are precisely members of the given sets taken together. That is to say, the union set is obtained by pooling together the members of the given sets, any repetitions occuring in this process having been weeded out, to conform with the definition that the members of a set must be distinct and distinguishible.

If one set is a subset of another, then their union is precisely the latter set. Thus, for example, the union of any given set with the null set is the given set. The idea here is analogous to the one in number system, viz., zero added to any number leaves the number unchanged.

To be a member of the union set of any number of given sets, it is necessary and sufficient for an object to be a member of at least one of the given sets. Thus the smallest superset of the given sets is their union.

Coming to the second way of combining two or more sets, we define what is known as their intersection. By this is meant a set, whose members are common to all the given sets. It is quite possible that the intersection may be the empty set. In the event of the intersection of every two sets being empty, we say that the given sets are mutually (or pair-wise) disjoint. The union set of such mutually disjoint sets is said to be partitioned by the individual sets. The intersection of any two sets is the largest subset contained in them.

The intersection of any set with itself is precisely that very set. The intersection of a set with one of its subsets is precisely that subset. The intersection of a set, in particular, with the null set is the null set.

The intersection of one set with the union of two other sets is precisely the union of its separate intersections with the latter sets. Similarly, the union of one set with the intersection of two other sets is precisely the intersection of its separate unions with the latter sets.

We some times come across what is known as an index set. Given a family of sets, we say that the family is indexed by a given set, if to each member of that set corresponds one and only one set of the given family of sets and vice-versa. Thus we can speak of the intersection (or union) of a family of sets indexed by a given set.

The third way of combining two sets is to obtain what is known as a difference set. Given two sets, we can form two

difference sets out of them. From the first set, we can eliminate members, if any, which are also contained in the second set. The remainder is the difference of the first set with the second. The members of this difference set are all members of the first set but not of the second. In the same way, we can form the other difference set. The two difference sets so obtained are entirely different. In fact, they are disjoint.

The difference set of a given set with any subset of the same is called the complement of that subset in the given set. If all the sets to be considered are taken to be subsets of one single universal set, and complement of any set means complement in the universal set, then, we have the following results :

(i) The complement of the union of two sets is the intersection of their separate complements,

(ii) The complement of the intersection of two sets is the union of their separate complements,

(iii) The universal set itself is the complement of null set and vice-versa,

(iv) The complement of the complement is the given set.

The last way of combining two sets is to form their symmetric difference. It is nothing but the union of the two difference sets obtained from the given sets. Obviously, the symmetric difference united with the intersection of two given sets gives precisely the union of the given sets.

Thus the union of any two sets is partitioned by their symmetric dfference and intersection. The symmetric difference itself is further partitioned by the two difference sets.

The null set obviously contains no members. Or, the number of members in the null set is zero. Another way of expressing the same idea is to say that the cardinality of the null set is zero. We can now imagine a set whose only member is the null-set. The cardinality of this new set will thus be one. Again, we can also imagine a set whose members are precisely, the null set, and the set consisting of the null set alone. The cardinality of such a set would be two. The process can be

continued and it is possible to construct a set of any given cardinality out of the null set, which, apparently, is worth for nothing.

In connection with the cardinality of a set, it is worth while to know what is meant by a mapping of one set to another. Let us suppose we are given two sets, which, for the sake of definiteness, are distinguished as the upper and lower sets. If, according to any law whatsoever, there corresponds to each member of the upper set, one and only one member of the lower set, then we say that there is a mapping of the upper set to the lower set. The law specifying the correspondence is called a mapping or function of the upper set to the lower set. The mapping is said to be onto, if each member of the lower set is the corresponding member (or image) of some member of the upper set. It is possible for more than one members of the upper set to have the same image in the lower set. All such members are pre-images of the member of the lower set, (which forms the image). If the lower set contains some members which are not images of members of the upper set, then we say that the mapping is into.

In other words, a mapping is onto, if the set of images (also known as image set or the image of the upper set) coincides with the lower set, and it is into if the image set is a proper subset of the lower set. A mapping is many-to-one if two or more members of the upper set have the same image. It is one-to-one if distinct members of the upper set have distinct images in the lower set. One should note that there is no such thing as one-to-many mapping. A correspondence between two sets becomer a mapping, if we can prove that equal members of the upper set have equal images in the lower set. That is to say, if two members in the upper set are the same, their images are also the same. A mapping becomes one-to-one if equal images correspond to equal members. That is to say, if the images of two elements are equal, then the elements themselves must be equal. A mapping is onto if to each member of the lower set corresponds a member of the upper set such that it is the pre-image of the member in the lower set. Th

upper and lower sets are some times called the domain and range of the mapping respectively.

Two sets are said to be in one-to-one correspondence if there exists a one-to-one and onto mapping from one set to another. In such a case, it is immaterial whether one set is chosen as the upper set or the other set is chosen. That is to say, there is an inverse mapping corresponding to each one-to-one and onto mapping.

If we have a mapping of one upper set to a middle set and a second mapping of the middle set to a lower set, then it is possible to combine the two mappings to form a single mapping from the upper set to the lower set. If the combined mapping is one-to-one then the first mapping is one-to-one. If it is onto, then the second mapping is onto. If both mappings are onto, then the combined mapping is also onto. If both mappings are one-to-one, so is the combined mapping.

Let us now suppose that there is an onto mapping of the upper set to the middle set and two other mappings of the middle set to the lower set. If the upper mapping is combined with either of the two lower mappings and the two new combined mappings are found to be the same, then the mappings of the middle set to the lower set are also the same. By equality of two mappings, we mean that they have the same domain, same range and also the same effect on each member of the domain. Hence if the combination of the upper mapping with a lower mapping is considered as a product of the mappings and the upper mapping is taken to be on the right of the product, then we conclude that an onto mapping can be cancelled from the right. Similarly we can also suppose that there are two mappings from the upper set to the middle set and a one-to-one mapping of the middle set to the lower set. We then have two combined mappings from the upper set to the lower set. If these combined mappings are found to be equal, then the two upper mappings are themselves equal. That is to say, a one-to-one mapping can be cancelled from the left.

We now define the identity mapping. We have a set and a mapping under which each member of the set is mapped on itself. Such a mapping is called the identity mapping on the set. Clearly, it is one-to-one and onto.

There is an interesting theorem concerning the identity mapping. Let us suppose we have a mapping of one set to another and a second mapping of the second set to the first. Then we have two combined mappings. The domain and range of one of these is the first set and that of the other is the second. However, these combined mappings need not turn out to be the identity mappings on the respective sets. But if they do so, then the two original mappings are both one-to-one and onto. Further, they are the inverses of each other. The converse of this theorem is also valid. This justifies the name of inverse mappings.

Given any finite and definite positive integer, we can form a set consisting of all natural numbers upto and including that integer. We say that a set is finite or that its cardinality is finite, if there is a one-to-one correspondence between this set and the set of natural numbrs mentioned above. The nullset is defined to be of finite cardinality. Two sets are said to be equi-potent, or of the same power, if their cardinalities are the same. The cardinality of any finite set is definitely greater than that of any of its proper subsets.

We say that a set is infinite, or that it is of infinite cardinality, if there exists a one-to-one correspondence between the members of that set and those of one of its proper subsets. Thus, for example, the set of positive integers is infinite, since there are as many even positive integers, as there are all positive integers. It is to be remarked that sets which are in one-to-one correspondence with the set of positive integers are said to be countable or enumerable.

From two given sets, we can form yet another set—their cartesian product—, which, of course, is not related to the given sets except in the matter of cardinality. We can take

one member of the first set and a member of the second set and form an ordered pair. Of the new set, this ordered-pair is a member. The Cartesian product of two given sets thus consists of ordered pairs of members taken from the given sets one from each. In general, there are two cartesian products, each different from the other, according as the first entries of the ordered pairs are chosen from the former or latter of the given sets. If the given sets are of finite cardinality, so are their cartesian products and the cardinality of each of them is the same, viz., the product of the cardinalities of the given sets.

It is also possible to form the cartesian product of a given set with itself. The particular subset of such a cartesian product, in which each ordered pair has its first and second entries identical, is called the diagonal of the cartesian product.

Any particular subset of this cartesian product is said to define an equivalence relation on the set, if (i) the diagonal is contained in the subset, (ii) the effect of interchanging the entries of the ordered pairs in the subset does not alter the same, and (iii) the existence of two ordered pairs in the subset such that the second entry of the former is the first entry of the latter, also implies the existence in the subset, of a third ordered-pair, whose first entry is that of the former ordered pair, and second entry of the latter.

Instead of forming the cartesian product and then taking a subset of the same, we can directly define an equivalence relation on a given set as follows : we speak of what is known as the binary relation, that is to say, a relation existing between two members of a given set. A relation is said to be determinable if any two members of a given set either have or do not have such a relation among themselves, there being no ambiguity or exception whatsoever. Thus, for example, equality in the set of complex numbers is a determinable relation, while comparison is not.

Now, let us suppose there is a determinable relation existing between any two members of a given set. The relation is called reflexive, if every member of the set is related to

itself. It is called symmetric if the statement that one member is related to another implies its converse, that is to say, the other member is related to the former. It is called transitive if the two statements, one member is related to a second and the second member is related to a third imply that the first member is related to the third. A determinable relation is said to be an equivalence relation if it is reflexive, symmetric and transitive. An example is the congruence relation modulo a positive integer, existing between the members of the set if integers.

There is a very important theorem concerning this equivalence relation. Let us suppose we have an equivalence relation defined on a given set. Then, corresponding to any particular member of the set, we can define what is known as an equivalence class of that member. This class consists precisely of those members of the given set which are equivalent to that particular member. In particular, the member concerned also belongs to this class, since every member is equivalent to itself. Thus we see that each member of the given set is a member of some equivalence class. If we have two equivalence classes, then they must be either identical or disjoint. For, if there is no member common to them, they are clearly disjoint. If there is at least one member common to them, then, by the symmetry and transitivity properties, we see that the two classes are just identical. Hence the distinct and mutually disjoint equivalence classes are such that their union is precisely the given set. Thus we have the theorem: the distinct equivalence classes of an equivalence relation on a given set provide us with a decomposition (partition) of the set as a union of mutually disjoint subsets.

Conversely, given a decomposition of a set as a union of mutually disjoint non-empty subsets, we can define an equivalence relation on the set for which these subsets are the distinct equivalence classes.

Since the subsets are mutually disjoint and their union is the given set, we can define an equivalence relation as follows: two members are equivalent if they belong to the same subset

and not so if they belong to different subsets. Then the converse becomes obvious.

The set of equivalence classes is called the quotient set of the given set modulo the equivalence relation in quetsion.

An equivalence relation becomes a partial order relation, if the property of symmetry is replaced by antisymmetry, which is defined as follows: A determinable relation on a given set is said to be anti-symmetric, if the statement that one member is related to a second and its converse together imply the equality of the members. Also in such a situation, the set is said to be partially-ordered by the relation.

If one member of a partially ordered set is related to another according to the principles of partial ordering, then we say that the first member is to the left of the latter, or the second member is to the right of the former.

The join of two members of a partially-ordered set, also known as their supremum or least upper bound, is a member (if it exists) of the set such that it is to the right of either of the given members and it is to the left of all other members which are to the right of the given members. In a less precise but more concise way, we can define the supremum as the leftist among rightists.

In the same way, the meet of two members of a partially ordered set (also known as their infremum or greatest lower bound) is a member (if it exists) of the set which is to the left of either of the given members and which is to the right of all other members which are to the left of the given members. Thus, in a concise way, the infreumum is rightist among leftists.

A partially ordered set, together with the partial order relation, is called a lattice, if every two members of the set have their infremum and supremum in the given set.

To illustrate the above remarks, we shall define what is known as the power set of a given non-empty set. By this we mean, the set of all subsets of the given set. The members of the power set are subsets of the given set. It is to be noted

that the empty set, as well as the entire given set are also members of the power set. Then it is easy to see that the relation of set-inclusion is a partial-order relation on the powerset. That is, a member of the power set is defined to be to the left of another, if, as subsets of the given set, the former is contained in the latter. Then, the join of two members is the same as their union (considered as subsets) and the meet similarly corresponds with their intersection. Hence the power set of any given set, together with the partial order relation of set-inclusion, is a lattice.

Now, coming to any lattice, it is possible to define the infremum and supremum of not just any two members but of a family of members indexed of by some specified set. If the inframa and suprema of all possible families of members exist in the lattice, then the lattice is said to be complete. It is to be noted that the power set is a complete lattice.

A lattice is said to be modular, or to satisfy the modularity condition, or law of modularity, if for any three given members of the lattice, the statement that the third member is to the left of the first, (there being no restriction on the second member) implies that the meet of the first member with the join of the second and third members is same as the join of the third member with the meet of the first and second members.

A zero element in a lattice, is a member, if it exists, which is to the left of all other members. Similarly, the unit element in a lattice, is a member, if it exists, which is to the right of all other members. It is easy to see that, the zero and unit elements, when ever they exist, are unique.

Clearly, the power set of a given set satisfies the modularity condition. Also, it has a zero element in it, viz., the empty set. The unit element in the power set is coincident with the given set. Hence the power set of agiven set with set-inclusion relation is a complete modular lattice with zero and unit.

A partially-ordered set becomes a totally-ordered set or a chain, if every two members of the set are comparable. That

is to say, either the first member is to the left of the second or vice-versa. This property is called the law of trichotomy. The partial-ordering relation, which also satisfies the law of trichotomy is said to be a linear (simple, complete, or total) ordering on the set.

A linear-ordering becomes a well-ordering if every non-empty subset of the given set has a zero element in it. The set in question is then said to be a well-ordered set.

A member of a partially ordered set is said to be a maximal member, if all members to the right of the same coincide with that member. Similarly, it is a minimal member if all members to the left of the same coincide with that member.

A partially-ordered set is called inductive, if the existence of a chain contained in it implies the existence in it of a member which is the supremum of all the members belonging to the chain.

It is to be noted that the three concepts of supremum, unit element and maximal element, are, in general, different. The supremum of a family of members contained in a partially ordered set is a member of the set (not necessarily a member of the family) which is (i) to the right of all members of the family and (ii) to the left of all other members of the set which are to the right of the members of the family. The supremum becomes unit element if it actually belongs to the family. The unit element becomes maximal if the only member to the right of the same is itself. But in the case of a lattice, if we consider the entire set as the family, then the three concepts coincide.

A family of sets is said to be of finite character, if every finite subset of every set of the family is also a member of the family.

Let us now consider a family of non-empty sets indexed by a non-empty set. It is then possible to form the cartesian product of the sets of the family. Since each set is non-empty and the index set is also non-empty, corresponding to each member of the index set we can choose a member from the set

of the family which is indexed by that particular member of the index set. We thus get a mapping or function from the index set to the union of the family of sets. Also, there exist many such functions. A member of the cartesian product mentioned above consists of a family of members indexed by the index set and which are images under the function considered. Thus, we can suppose that the cartesian product has, for its members, the functions themselves. Each of these functions is called a choice-function.

The Axiom of choice states that the cartesian product of any non-void family of non-void sets is a non-void set. That is to say, if there is a family of non-void sets indexed by a non-void set, then there exists at least one choice function for the family.

A number of equivalent statements exist for this axiom. It is possible to prove from the axiom, Tukey's Lemma, which states that every non-void family of sets of finite character has a maximal member. Derivable from Tukey's Lemma is Hausdorff Maximality Principle, which asserts that every non-void partially ordered set contains a maximal chain. An equivalent statement is Zorn's Lemma, which runs as follows: Every non-void partially ordered set, in which each chain has an upper bound, has a maximal element ; that is to say, every non-empty inductive set has at least one maximal element. Another variation of the same idea is the well-ordering theorem, which, in effect, means that every set can be well-ordered ; that is to say there exists some well ordering relation corresponding to every set.

————

माथुर मेमोरियल लेक्चर

भारत में खनिज उत्पादन की प्रगति

प्रो० निरंजन लाल शर्मा, अवैतनिक प्राध्यापक
इण्डियन स्कूल ऑव माइन्स, धनबाद

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्वान् प्राध्यापकों एवं भूविज्ञान के छात्रों के बीच व्याख्यान के लिए आमंत्रण पाकर मैं अपने को बहुत सम्मानित समझता हूँ। यह क्षण मेरे लिए इस कारण भी महत्व का है कि यहाँ मेरे श्रद्धेय गुरु स्वर्गीय प्रो० कृष्णकुमार माथुर

(स्व०) प्रो० कृष्णकुमार माथुर
(१८९३–१९३६)
संस्थापक अध्यक्ष, भौमिकी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

की स्मृति में कुछ कहने का अवसर मुझे मिला है। वे हमारे विश्वविद्यालय में भूविज्ञान के प्रथम भूविज्ञान प्राध्यापक रहे हैं। आज मुझे जो सम्मान दिया गया है, इसके लिए

मुझे चुनने में शायद यह तथ्य प्रेरक रहा है कि मैं और डा० विद्यासागर दुबे प्रोफेसर माथुर के सर्वप्रथम छात्र रहे हैं, जिन्होंने भूविज्ञान में इस विश्वविद्यालय से सर्वप्रथम एम० एस-सी० की उपाधि प्राप्त की है।

युवा कृष्णकुमार माथुर आगरा कालेज से, जो तब इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अन्दर था, १९१५ में स्नातक हुए और बी० एस-सी० की परीक्षा में सर्वप्रथम हुए। सरकार से १९१६ में उन्हें विदेश में पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति मिली, जिसे उन्होंने अंगीकार किया और प्रथम विश्व युद्ध के समय जबकि उत्तर प्रदेश का एक औसत छात्र किसी महाविद्यालय में अध्ययन के एक विषय के रूप में भूविज्ञान को जानता भी नहीं होगा, तब श्री माथुर ने किसी देश के उत्थान के लिए भूविज्ञान के महत्व को समझा था। उन्होंने इम्पिरियल कालेज ऑव साइन्स ऐण्ड टेक्नेलॉजी, लंदन में खनन भूविज्ञान (Mining Geology) विषय अपने ए० आर० एस० एम० डिप्लोमा और लन्दन विश्वविद्यालय की बी० एस-सी० उपाधि के लिए चुना। हमारे आदरणीय नेता स्वर्गीय पं० जवाहर लाल नेहरू ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अपने अध्ययन के विषयों में भूविज्ञान को भी रखा था। लेकिन प्रो० माथुर सम्भवतः उत्तरप्रदेश के प्रथम छात्र थे, जिन्होंने अपने भावी व्यवसाय के लिए भूविज्ञान चुना। प्रो० माथुर रायल स्कूल ऑव माइन्स में अत्यन्त कुशाग्र विद्यार्थी थे और वहाँ की सब परीक्षाओं में भी सर्वप्रथम आते थे। वे चाहते तो जियेलाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया में उनकी नियुक्ति अच्छे पद पर तत्काल हो जाती, लेकिन प्रो० माथुर कट्टर राष्ट्रवादी थे। अतः १९२१ में उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में नियुक्ति ली, जहाँ १९२० से भूविज्ञान की पढ़ाई शुरू हुई थी। उत्तर भारत में इस विषय में स्नातक तथा स्नातकोत्तर अध्ययन की सुविधा देने वाला तब यही (कलकत्ता विश्वविद्यालय को छोड़कर) पहला विश्वविद्यालय था।

आरम्भ में भूविज्ञान, खनन(Mining)तथा धातुकर्म (Metallurgy)विभाग एक ही थे और उस संयुक्त विभाग के विभागाध्यक्ष थे प्रो० एन० पी० गांधी, जो धातुकर्म में ए० आर० एस० एम० थे। १९२३ में भूविज्ञान विभाग खनन तथा धातुकर्म विभाग से अलग हो गया। एक-दो साल भूविज्ञान विभाग में प्रो० माथुर का सहयोगी केवल एक प्रशिक्षक (डेमान्स्ट्रेटर) था, और प्रो० माथुर को ही बी० एस-सी० तथा एम० एस-सी० के प्रायः सारे ही क्लास लेने पड़ते थे। वे न केवल एक अच्छे शिक्षक थे, बल्कि योग्य शोध-निर्देशक भी थे। ज्यों ही वे विश्वविद्यालय में आये, उन्होंने एम० एस-सी० के छात्रों को गुजरात, कच्छ, राजस्थान, बिहार, साल्टरेंज आदि के सुप्रसिद्ध भूवैज्ञानिक क्षेत्रों में ले जाना आरम्भ कर दिया। उन्हीं क्षेत्रों के शैलों पर उनके समय में ही और बाद में भूविज्ञान में कई विद्यार्थियों ने पी-एच० डी० प्राप्त की।

हम लोग तो आजादी के बाद ही हिन्दी को कालेजों में विज्ञान-विषयों के लिए शिक्षा का माध्यम बनाने की ओर ध्यान देने लगे हैं और अब भी पुरानी पीढ़ी के हम जैसे शिक्षकों के लिए अपनी भाषा में अभिव्यक्त करना कठिन मालूम पड़ता है। मगर मुझे याद है कि प्रो० माथुर ने हिन्दी में भारतीय भूविज्ञान पर (सम्भवत काशी विद्यापीठ में) बड़ा ही ओजस्वी व्याख्यान दिया था, और अपनी लागत से उन्होंने भारत के भूवैज्ञानिक शैल समूहों

को हिन्दी में तालिकाबद्ध कर वहाँ वितरण करने के लिए अनेक प्रतियाँ छपवायी थीं। उन्होंने हिन्दी में भूवैज्ञानिक शब्दों की एक शब्दावली भी तैयार करना आरम्भ किया था।

प्रो० माथुर अपने छात्रों के प्रोत्साहन के प्रभावशाली स्त्रोत थे, और मैं खुद अपना भविष्य उन्हीं की बहुमूल्य राय और पिता तुल्य वात्सल्य के कारण बना सका। आप मुझे क्षमा करें, यदि मैं इस सन्दर्भ में अपने स्वयं के विषय में तीन उदाहरण प्रस्तुत करूँ, जो प्रो० माथुर की कुशाग्र बुद्धि और कोमल हृदय की झाँकी कराते हैं। १९२७ में, जब मैं इण्डियन स्कूल ऑव माइन्स, धनबाद के लेक्चरर के विज्ञापित पद के लिए आवेदन करने में झिझक रहा था और अपने विश्वविद्यालय में ही प्रशिक्षक का कार्य करने में ही सन्तुष्ट था, प्रो० माथुर ने क्रोधित स्वर में मुझसे प्रश्न किया कि नगवा तुम्हें इतना अधिक क्यों पसन्द है कि अपना भविष्य बिगाड़ना चाहते हो ? फिर इसी क्रम में उन्होंने व्यंग करते हुए कहा कि विश्वविद्यालय के डाक्टर (डा० मंगल सिंह) के पास जाकर कुछ बलवर्द्धक औषधि (Tonic) ले लो। एक दूसरे अवसर पर दान्ता राज्य के भूविज्ञान पर रिपोर्ट नहीं पूरा कर पाने पर उन्होंने मुझे काफी झिड़का और बोले कि वे स्वयं शोध का काम करने की इच्छा न होने पर बदले में मर जाना ज्यादा श्रेयकर समझेंगे। १९३० में, जब मैं प्रो० माथुर से बनारस में मिला, उन्होंने इलाहाबाद में भारतीय विज्ञान कांग्रेस की भूविज्ञान शाखा के समक्ष दिये गये इंडियन स्कूल ऑव माइन्स के प्रिन्सिपल डा० डी० पेनमेन के व्याख्यान पर आरोष प्रकट किया। उस व्याख्यान में डा० पेनमेन ने जोर डाला था कि भूविज्ञान तथा खनन की शिक्षा के लिए धनबाद में स्थापित स्कूल सर्वाधिक उपयुक्त है। प्रो० माथुर ने मुझसे कहा कि कोई विशेष जगह संस्था को नहीं बनाती। यह तो शिक्षक होता है जो उसे बनाता है। उन्होंने अपना दृढ़ निश्चय प्रकट किया कि वे अपने विभाग को भूविज्ञान का वास्तविक शिक्षा केन्द्र बनायेंगे, जो अपने देश के कोने-कोने से छात्रों को खींचेगा।

प्रो० माथुर की प्रसिद्धि एक भारतीय भूवैज्ञानिक के रूप में विश्व भर में बहुत पहले हो गई होती, लेकिन दुर्भाग्यवश १८ जुलाई १९३६ को उनका असामयिक निधन हो गया। मेरा तो विश्वास है कि अप्रत्यक्ष रूप में उनकी ज्ञान-पिपासा ही उनका काल बनी। १९३४ में बिहार में प्रलयंकारी भूकम्प आया। सर्वप्रथम सूचना एकत्र करने के उद्देश्य से इस भूकम्प की संहार-लीला के शिकार सुदूर गांवों तक में उन्होंने स्वयं परिभ्रमण किया।

मुझे यह देखकर बड़ी खुशी होती है कि डा० राजनाथ ने, जो प्रो० माथुर के एक अन्य प्राचीन छात्र हैं, अवकाश लेने के पहले तक इस विभाग की सेवा की, तथा अब भी वे किसी-न-किसी रूप में इस विभाग से सम्बन्धित हैं। मेरे मित्र डा० विद्यासागर दूबे ने आर्थिक भूविज्ञान के अवैतनिक प्राध्यापक के रूप में बरसों तक इस विभाग की सेवा की है और इसकी श्रीवृद्धि में वे रुचि लेते रहे हैं। इस विभाग से दीक्षित छात्र गण प्रायः सभी राज्यों के रहे हैं। उन्होंने प्रो० माथुर द्वारा स्थापित इस विभाग की प्रतिष्ठा बना रखी है और उनमें से बहुतों ने सरकारी, खनिज उद्योग तथा शिक्षा के क्षेत्र में ऊँचे पद प्राप्त किये हैं। मैं इस विभाग की चतुर्दिक् सफलता और अधिक उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

इस व्याख्यान में, मैं भारत के खनिज उत्पादन का विवरण, विशेषकर वर्तमान सदी में खनिज उद्योग की प्रगति के सन्दर्भ में कुछ कहना चाहता हूँ।

प्राचीन भारत में खनिज तथा धातु का उत्पादन

चट्टानों तथा खनिजों का उपयोग भूवैज्ञानिक इतिहास के चतुर्थ कल्प से प्रारम्भ माना जा सकता है। यह लगभग १० लाख साल पहले प्रारम्भ हुआ और इसमें अत्यन्त नूतन (Pleistocene) तथा अभिनव (Recent) दो युग समायोजित हैं। इसी कल्प को मानव-अवतार का श्रेय प्राप्त है। भारत में आदिम मानव की उत्पत्ति अत्यन्त नूतन युग के मध्य-काल में अर्थात् ५ या ६ लाख वर्ष पूर्व हुई मानी जाती है। पुराविदों ने इस युग को **प्रस्तर युग** (Stone Age-६००,००० ई०पू०-४००० ई०पू०) की संज्ञा दी है। जीवाश्म मानुष की विभिन्न कालीन प्रजातियों द्वारा निर्मित प्रस्तर के हथियारों के आकार-प्रकार के आधार पर इस युग को तीन भागों में बाँटा गया है—**पुरा-प्रस्तर काल** (Palaeolithic Age), **मध्यप्रस्तर काल** (Mesolithic Age) और **नवप्रस्तर काल** (Neolithic Age)। इस युग में आदिम मनुष्य ने सामान्य कठोर चट्टानों तथा खनिजों का उपयोग किया, जैसे—क्वार्टजाइट, बेसाल्ट, संगुटिकाश्म (conglomerate), स्फटिक (quartz) चकमक (flint) चर्ट तथा स्फटिक के अन्य प्रकार, कोमल चट्टानों तथा लेटेराइट, चूना पत्थर, सेलखड़ी (soapstone), स्लेट और चिकनी मिट्टी (clay)। कुछ रंगीन खनिज आभूषण के रूप में भी व्यवहृत किये गये। नवप्रस्तरकालीन मानुष आग का उपयोग और बर्तन-निर्माण की कला से परिचित था। उसने स्वर्ण को भी आकर्षक रंग तथा नदियों में ढेलों के रूप में प्राप्त होने के कारण खोज लिया था। पुराविद **कांसा युग** (Bronze Age) को प्रस्तर-युग के तुरन्त बाद ही मानते हैं किन्तु भूवैज्ञानिक इससे पूर्व **ताम्र-युग** (Copper Age) को मान्यता देते हैं क्योंकि ताँबा धातु, कांसा का आवश्यक अवयव है। ताँबा से मनुष्य का परिचय सम्भव है। किसी प्राकृत ताम्र (native copper) के निक्षेप के अचानक अथवा ताम्र-कार्बोनेट खनिज, मैलाकाइट और ऐज़ुराइट के निक्षेपों के दृश्यांश पर जंगली आग या कृत्रिम आग द्वारा तांबे धातु के अचानक उत्पादन हो जाने के कारण हुआ हो। भारत में **हड़प्पा-पूर्व-युग** (४००० ई० पू०–२००० ई० पू०) को ताम्र युग माना जा सकता है, क्योंकि बलुचिस्तान तथा भारत के उत्तरी-पूर्वी सीमान्त के पुरा अवशेषों में पकी मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त ताँबा की कुल्हाड़ी तथा ताँबा का दर्पण तक प्राप्त हुआ है। इस सन्दर्भ में यह सूचना रुचिकर हो सकती है कि हाल ही में प्राकृत ताम्र खनिज के ढेले जम्मू एवं काश्मीर राज्य की जांस्कर पर्वतमाला की नदी-घाटियों में प्राप्त हुये हैं, और यह क्षेत्र उपर्युक्त युग में ताँबे का स्रोत हो सकता है।

ताम्र युग के तुरन्त बाद **हड़प्पा-मोहनजोदड़ो सभ्यता युग** (२५०० ई० पू० से १८०० ई० पू०) आता है। इस युग में मृत्तिका-शिल्प उद्योग की परिपक्वता के साथ उसमें वर्णक के रूप में हेमाटाइट और मैंगनीजयुक्त लौह अयस्क का उपयोग, अभ्रक, चूना और बालू का उपयोग मिलावटी पदार्थ (tempering material) के रूप में और झीलों की क्षारीय मिट्टी का उपयोग चमक पैदा करने के लिए विशेष उल्लेखनीय है। साथ ही पलस्तर उद्योग उन्नत था, जिसके लिए जिप्सम खनिज का उपयोग होता था। ऐलाबास्टर (जिप्सम का एक प्रकार), स्टिएटाइट तथा सेलखड़ी का उपयोग काट कर बनी हुई वस्तुओं के लिए होता था, जो चमकाई भी जाती थीं। ताँबा तथा इसके मिश्र धातु विशेषकर

कांसा बर्त्तनों, छुरे, चाकू और चूड़ी आदि के निर्माण में बृहत् मात्रा में प्रयुक्त होते थे। इस समय तक लोहा अज्ञात मालूम होता है। सोना और चाँदी आभूषण तथा बर्त्तनों में प्रयुक्त होने लगे थे। अनेक खनिज जैसे—स्फटिक तथा इसके प्रकार बिल्लौर (rock crystal), ऐमिथिस्ट, कैल्सिडोनी, अकीक (agate), इन्द्रगोप (carnelian), सुलेमानी (onyx) और ज़ैस्पर, लाजंवर्द (lapislazuli), फीरोजा (turqoise), सोडालाइट और जेड अलंकार के लिए काम आते थे। सिरुसाइट (cerussite) तथा हिंगुल (cinnabar) शृंगार प्रसाधनों के लिए व्यवहृत होते थे।

प्राचीन भारत में खनिजों के उपयोग तथा खनन और धातुकर्म की विधियों का महानतम विकास **बौद्ध तथा आयुर्वेद युग** (६०० ई० पू०–८०० ई०) में देखा जाता है, जो वैदिक युग के तुरन्त बाद का काल है। यह युग भारत में लौह युग के प्रादुर्भाव का काल माना जा सकता है। हम लोग अभी लौह युग में ही हैं, क्योंकि हमारी औद्योगिक सभ्यता का आधारभूत पदार्थ अभी भी लोहा ही है; यद्यपि दूसरे आवश्यक पदार्थों में परिवर्त्तन हो रहा है। ईंधन के क्षेत्र में, चारकोल से कोयला, खनिज तेल और अब परमाणु ऊर्जा खनिजों के उपयोग की ओर मानव बढ़ रहा है।

खनिजों से सम्बन्धित सर्वाधिक प्रमाणित और प्राचीनतम पुस्तक कौटिल्य (सामान्यतः चाणक्य के रूप में ज्ञात, जो सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रधान मन्त्री थे) का अर्थशास्त्र है, जो ३२१-२९६ ई० पू० में लिखा गया था। इसमें अयस्कों, खनिजों तथा धातुओं के गुण, बृहत् मात्रा में उनके उत्पादन की विधियाँ, ताम्र—मिश्र धातुओं (कांसा और पीतल आदि) तथा बेस—धातुओं के साथ सोना-चांदी के मिश्र धातुओं का निर्माण, और सोने में स्वर्णकारों द्वारा दूसरे धातुओं को मिलाने के तरीकों का विस्तृत विवरण है। इस कृति में मोती, मूंगा, हीरा, लाल, नीलम, पन्ना, दूधिया पत्थर (opal) आदि रत्नों के परीक्षण तथा खानों, धातुओं, टकसालों (mints) तथा समुद्रों के अधीक्षकों के गुण एवं कर्त्तव्य का उल्लेख है। इस पुस्तक में वनस्पति तथा खाद्य पदार्थों से प्राप्त अनावश्यक समझे जाने वाले उत्पादों का तथा लकड़ी के कोयले का उपयोग लोह-प्रगलन और चूना भट्टियों के लिए वर्णित हैं।

तांबे तथा इसके मिश्र धातुओं का धातु कर्म इस काल में काफी विकसित था। तक्षशिला (अब पाकिस्तान में) के पुरावशेषों में आभूषण, शृंगार के सामान, घरेलू बर्त्तन, शल्य-चिकित्सा के तथा दूसरे औजार इसी धातु तथा इसके मिश्र धातुओं से बने हैं। इसमें से कुछ में तांबे की शुद्धता ९९.७ प्रति सैकड़ा तक है। इस बात का प्रमाण मिलता है कि २०० साल से भी पहले 'सारक' नामक एक जाति थी, जो सिंहभूम (बिहार) ताम्र-मेखला में ताम्र अयस्कों के खनन तथा प्रगलन का व्यवसाय करती था। राखा नामक ताम्र खदान के आस-पास अन्तिम कुशान काल के प्रकार के पुराने ताम्र सिक्के मिले हैं, जिससे लगता है कि इस क्षेत्र में ३०० से ६०० ई० तक ताँबे का काम होता रहा है।

मद्रास राज्य में खुदाई से लोहा के अनेक हथियार, छुरे आदि मिले हैं जो ४०० ई० पू० के माने जाते हैं। सम्राट् अशोक के काल के कई नक्काशी किये पत्थरों पर अत्यन्त सुन्दर और बारीक ढंग से लिखा है। इससे उस काल में इस्पात के बारीक हथियारों के होने

का पता चलता है। इस प्रकार लोहे के बारे में भारतीयों को बहुत पहले से ज्ञान था, और भारतीय लोहार निम्न कोटि के अयस्कों लेटेराइट, लेटेराइटी मिट्टी, लोहमय बलुआ पत्थर या लोहमय मिट्टी से धातु निकालना जानते थे। कुतुबमिनार के निकट दिल्ली का प्रसिद्ध लोहस्तम्भ (जो ४०० ई० पू० में विजयस्तम्भ के रूप में मथुरा में बनाया गया था और दिल्ली के वर्तमान स्थल पर १०५० ई० में लाया गया) प्राचीन भारतीय कारीगरों के शिल्प, धातुकर्म और कला चातुर्य का ज्वलन्त उदाहरण है। १५०० वर्षों से भी अधिक समय से यह वर्षा, अंधड़ और अपक्षय का लगातार प्रहार सह रहा है, किन्तु इसमें जंग का कोई लक्षण तक दृश्य नहीं है। यही नहीं, बल्कि आधुनिक काल में भी एक ही प्रद्रावक (foundry) में एक ही बार इतने विशाल लोह-स्तंभ को जो ६०.९६ से० मी० लम्बा, ४१.६६ से०मी० आधार पर का व्यास और ३०.४८ से०मी० शीर्ष का व्यास और ६ टन वजन का है, ढालना अत्यन्त कठिन है। विश्वास किया जाता है कि पश्चिमी देशों को भारतीय इस्पात २००० साल पहले निर्यात किया जाता था, जो तलवार बनाने के काम में आता था।

दक्षिण भारत में प्राचीन काल से ही सोने की खुदाई बृहत् मात्रा में होती थी। स्वर्ण-युक्त क्षेत्रों (मैसूर के कोलार तथा रायचूर स्वर्णक्षेत्र) के प्राचीन खनन-स्थलों का अध्ययन प्रदर्शित करता है कि प्राचीन खनक बड़े ही चतुर पूर्वेक्षक (prospector) थे तथा खनन और धातुकर्म में अत्यन्त दक्ष थे। उन्होंने खानों में १९५ मीटर (६४० फीट) की गहराई तक काम किया था। रायचूर जिले में हट्टी स्वर्ण खुदान के निम्नतम तल पर स्थित बबूल के लट्ठे की काल गणना कार्बन—१४ आइसोटोप द्वारा निर्धारित की गई है, जिससे पता चलता है कि वहाँ भूमिगत खनन २०००-२५०० वर्ष पूर्व किया जाता था। यह भी विश्वास किया जाता है कि ये भारतीय खनक सुदूर दक्षिण अफ्रिका में रोडेशिया तथा आस-पास के देशों में स्वर्ण-खनन के लिए जाते थे। प्राचीन भारतीय खानों और दक्षिणी अफ्रीका की खानों में काफी समानता है। भारतीय इमली वृक्ष तथा जंगली रुई के पौधे दक्षिणी अफ्रिका की प्राकृत वनस्पति नहीं है, किन्तु वहाँ के स्वर्ण क्षेत्र में पाये जाते हैं। दक्षिण भारतीय भोजन में इमली का आवश्यक प्रयोग सर्वज्ञात है। ७७ ई० में प्लाइनी (pliny) ने लिखा था कि नायरों के देश (मालाबार) में सोने-चाँदी की अनेक खानें थीं, जिसमें भारतीय गहराई तक काम करते थे। भारतीय किसी भी दूसरे देश की अपेक्षा अधिक रत्न उत्पादित करते थे। अंतिम कथन सम्भवतः आन्ध्र प्रदेश के कर्नूल, अनन्तपुर और कृष्णा जिले की हीरा खानों के बारे में है। मुस्लिम काल (१३००-१६०० ई०) में संकलित अनेक भूमि खातों (records) में किसी में भी स्वर्ण खनन का कोई जिक्र नहीं हैं। इससे लगता है कि दक्षिणी भारत में १०० ई० के पहले ही स्वर्ण-खनन बन्द हो चुका था, जिसका कारण अभी तक कह पाना कठिन है।

राजस्थान के उदयपुर जिले में जावर के प्रख्यात सीसा-जस्ता निक्षेप की खोज राणा लाखा सिंह (या लक्ष सिंह १३८२-१३९७ ई०) के समय में हुई थी। सम्भवतः इस निक्षेप में तब से महा अकाल (१८१२-१३ ई०) के समय तक ४०० वर्षों से भी ज्यादा अवधि तक खुदाई होती रही।

भारत में आधुनिक खनन-व्यवसाय

ऐतिहासिक अभिलेखों के अभाव में, खनन तथा धातुकर्म सम्बन्धी हमारे प्राचीन कार्य-कलाप पुरावशेषों की खुदाइयों से विदित होते हैं। इनके अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन काल में भारत हीरा, सोना, ताँबा, सीसा, जस्ता तथा इस्पात का अग्रगण्य उत्पादक राष्ट्र था। लोहे तथा अलोहस (non-ferrous) धातु प्रगलनों के धातु मैलों (slags) के ढेर राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश, बिहार तथा दक्षिणी भारत के अनेक स्थलों पर पाये जाते हैं, जो प्राचीन खनन कार्यों के ज्वलन्त प्रमाण हैं। १८ वीं सदी के अन्त में ब्राजील में हीरा की खोज होने के पूर्व, संसार का सम्पूर्ण हीरा मध्य प्रदेश के पन्ना तथा आन्ध्र प्रदेश के वज्र करूर और अनन्तपुर जिले से आता था। पन्ना हीरा क्षेत्र अब सार्वजनिक क्षेत्र में विकसित किया जा रहा है।

कोयला रानीगंज कोयला क्षेत्र (पश्चिमी बंगाल) में १७७४ ई० से ही ज्ञात था, किन्तु नियमित कोयला-खनन १८१४ ई० में प्रारम्भ हुआ। अभी भारत में ८२० से भी अधिक कोयला खानें हैं,। इनके अतिरिक्त राजस्थान और मद्रास में एक-एक लिग्नाइट खान भी है। अब अनेक पूर्णतः यंत्रचालित कोयला खानें हैं, और सरकारी क्षेत्र में पिछले ५० सालों में अनेक कोयला खानें शुरू की गई हैं। भारत संसार का महत्वपूर्ण कोयला उत्पादक राष्ट्र हो गया है।

लोह अयस्क का खनन तथा प्रगलन १८७५ ई० में पश्चिमी बंगाल के वर्दवान जिले में प्रारम्भ हुआ, जब रानीगंज कोयला क्षेत्र के अनुत्पादक शैल संस्तर (barren measures) से मृण्मय लोहाश्म (clay ironstone) खनित किया गया और कुलटी में प्रगलित किया गया। फिर भी बृहत् मात्रा में लोह अयस्क का उत्पादन इस सदी के आरम्भ में ही संभव हो सका, जब मयूरभंज जिले (उड़ीसा) के विशाल हेमाटाइट निक्षेपों की खोज क्रमशः १९०४ ई० और १९०७ ई० में हुई। भारत लोह अयस्क में पर्याप्त संपन्न है और निश्चय ही संसार का महत्वपूर्ण लोहा-इस्पात उत्पादक राष्ट्र होकर रहेगा।

भारतीय लोहा एवं इस्पात उद्योग के विस्तृत विकास के लिए न केवल पूर्वस्थित संयंत्रों—टाटा लोहा एवं इस्पात कं०, भारतीय लोहा एवं इस्पात कं० तथा मैसूर सरकार का लोहा एवं इस्पात कारखाना का महती विस्तार हुआ है, बल्कि आजादी के बाद चार प्रमुख संयंत्र सरकारी क्षेत्र में खोले गये हैं, जो दुर्गापुर (प० बंगाल), राउरकेला (उड़ीसा) भिलाई (मध्य प्रदेश) तथा बोकारो (बिहार) में हैं। मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र तथा गोआ आदि दूसरे राज्यों में भी लोहा तथा इस्पात के कारखाने खोलने की योजना है।

मैंगनीज अयस्क के खनन का क्रमबद्ध अभिलेख इस प्रकार दिया जा सकता है—१८९१ में श्रीकाकुलम जिले (आंध्र प्रदेश) में, १८९९ में नागपुर जिले (महाराष्ट्र में) तथा १९०२ में झाबुआ जिले (मध्य प्रदेश में)। तीस वर्षों तक मैंगनीज खनिज के उत्पादन में संसार में भारत का स्थान सर्वदा प्रथम या द्वितीय रहा, किन्तु अब संसार में प्रथम और द्वितीय स्थान क्रमशः रूस और ब्राजील को जाते हैं; और भारत तीसरा अग्रणी उत्पादक राष्ट्र है। सेन्ट्रल प्राविन्सेज मैंगनीज ओर कं० (जिसमें अब भारत सरकार का प्रमुख हिस्सा है) मध्य प्रदेश में संपन्न मैंगनीज अयस्कों का खनन करने वाली सबसे बड़ी कम्पनी है।

सिंहभूम जिले (बिहार) में **ताम्र अयस्क** का पूर्वेक्षण तथा खनन यद्यपि पहले-पहल १८५७ में तथा फिर १८६२ में शुरू हुआ। किन्तु बीच-बीच में व्यवधान पड़ता गया और ताम्र अयस्क तथा धातु का नियमित उत्पादन वर्तमान इण्डियन कॉपर कारपोरेशन लि० द्वारा १९२८ में प्रारम्भ हुआ। राजस्थान की ताम्र मेखला में जियोलाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया तथा इण्डियन व्युरो ऑव माइन्स द्वारा पूर्वेक्षण के फलस्वरूप खेत्री में एक दूसरा भारतीय ताम्र क्षेत्र अस्तित्व में आ गया है। यहाँ सरकारी क्षेत्र में स्थापित हिन्दुस्तान कापर लि० द्वारा खनन हो रहा है। भारत अनेक मूल धातुओं जैसे ताँबा, सीसा तथा जस्ता में विपन्न है। दूसरे विश्व युद्ध के समय भारत में सीसा और जस्ता का बहुत अभाव था, जिसका कारण ब्रह्म देश का भारत से पृथक्करण और उसपर जापानी अस्थाई आक्रमण था क्योंकि ब्रह्म देश ही इन धातुओं का प्रमुख सम्भरणकर्त्ता था। भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग ने राजस्थान में उदयपुर के निकट जावर के प्राचीन सीसा-जस्ता निक्षेपों का सर्वेक्षण किया, और परिणामस्वरूप मेटल कारपोरेशन ऑव इण्डिया ने १९५० से **सीसा-जस्ता अयस्क** का खनन, प्रसाधन और सीसा तथा जस्ता सांद्रणों का पृथक्करण आरम्भ किया। सीसा-सांद्रण को झरिया कोयला क्षेत्र (बिहार) में टुन्ड्र नामक स्थान में प्रगालक को भेजा जाता है तथा जस्ता सांद्रणों को जापान इस शर्त पर भेज दिया जाता था कि धात्विक अवयवों का एक निश्चित प्रतिशत भारत को लौटा दिया जायेगा। जावर की खानों का १९६५ में राष्ट्रीयकरण कर दिया गया, और अब उनका प्रबन्ध भारत सरकार की संस्था हिन्दुस्तान जिंक लि० के हाथ में है। उदयपुर में एक जस्ता प्रगालक का निर्माण हो रहा है जो १८०० टन जस्ता प्रतिवर्ष उत्पादित करेगा।

आधुनिक **स्वर्ण खनन** मैसूर राज्य में १८८६ से कोलार स्वर्ण क्षेत्र में तथा १९०३ से हट्टी स्वर्ण क्षेत्र में शुरू हुआ, किन्तु अबाध गति से स्वर्ण का उत्पादन कोलार स्वर्ण क्षेत्र की खानों से ही हुआ। ये खानें संसार की सर्वाधिक गहरी खानों में से हैं। इन खानों का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और सरकारी क्षेत्र में भारत सरकार द्वारा यहाँ खनन हो रहा है।

बाक्साइट का खनन कटनी जिले (मध्य प्रदेश) में १९०८ में और खैरा जिले (गुजरात) में १९२० में शुरू हुआ, किन्तु तब तक इस खनिज का उपयोग केवल मिट्टी के तेल के परिष्करण (refining), फिटकरी के निर्माण और उच्चतापसह (refractory) ईंटों के बनाने में ही होता था। भारत में ऐलुमिनियम उद्योग बहुत नया है। इस धातु का प्रथम उत्पादन १९४३ में ऐलुमिनियम प्रोडक्शन कं० ऑव इंडिया द्वारा उनके अलवई (केरल) स्थित प्रगालक में शुरू हुआ। इसके लिए उन्हें कनाडा से ऐलुमिना का आयात करना पड़ा। भारतीय बॉक्साइट से ऐलुमिनियम धातु का उत्पादन सर्वप्रथम १९४४ में ऐलुमिनियम कारपोरेशन ऑव इंडिया द्वारा आसनसोल (प० बंगाल) के नजदीक उनके जे के नगर स्थित संयंत्र में शुरू हुआ। अब तो दूसरे भी ऐलुमिनियम संयंत्र हैं, जैसे—हीराकुंड (उड़ीसा) और रिहन्द (उत्तर प्रदेश) में। मेत्तूर (मद्रास) तथा रत्नागिरि (महाराष्ट्र) में भी संयंत्र स्थापित होने वाले हैं। मध्य प्रदेश तथा मैसूर की राज्य सरकारें भी सरकारी क्षेत्र में ऐलुमिनियम संयंत्र बनाने के लिए सोच रही हैं। इस प्रकार भारत दक्षिण-पूरब एशिया का अग्रणी ऐलुमिनियम उत्पादक राष्ट्र बनने के लिए कटिबद्ध है।

क्रोमाइट का खनन सर्वप्रथम मैसूर राज्य में १९०७ में और बिहार के सिंहभूम जिले में १९०९ में शुरू हुआ। **अभ्रक** का उत्पादन बिहार के कोडरमा क्षेत्र से और आन्ध्र प्रदेश में नैल्लोर क्षेत्र से १९०० के पहले से होता रहा है, किन्तु उस समय सारा उत्पादन इंग्लैण्ड को निर्यात कर दिया जाता था। राजस्थान में अभ्रक का खनन दूसरे विश्व युद्ध के समय महत्वपूर्ण हो गया। भारत संसार में अभ्रक का सबसे बड़ा उत्पादक राष्ट्र है और संसार की कुल जरूरत का ७५ प्रति सैकड़ा भाग प्रदान करता है। ब्लॉक या परतदार (sheet) अभ्रक और अभ्रक विपाटनों (splittings) में तो भारत का अधिकार है। अभ्रक विद्युत उद्योग के लिए इतना अधिक आवश्यक है कि दूसरे विश्व युद्ध के समय संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में अभ्रक भारत से हवाई जहाज द्वारा ले जाया जाता था। निर्यात के पदार्थ के रूप में अभ्रक नियमित रूप से विदेशी मुद्रा अर्जित करा रहा है।

मोनाजाइट की खोज केरल में इस सदी के आरम्भ में हुई और निर्यात १९११ में शुरू हुआ। १९१४ से भारत मोनाजाइट का अग्रणी उत्पादक हो गया। उस समय इसका उपयोग थोरियम नाइट्रेट बनाने में होता था जो ताप दीप्त गैस—मेन्टल (incandescent gas mantle) बनाने में प्रयुक्त होता था। बिजली बत्तियों में वृद्धि के साथ थोरियम का महत्व समाप्त हो गया तथा १९२२ और १९३१ के बीच उत्पादन में काफी ह्रास देखा गया। इस अवधि में मोनाजाइट सहउत्पादन के रूप में ही सामने आया और केरल के पुलिन बालू (beach sand) का खनन मुख्यतः इल्मेनाइट के लिए होने लगा, जिसकी माँग टाइटेनिया पेन्ट के लिए काफी अधिक थी। इस प्रकार भारत इल्मेनाइट का अग्रणी उत्पादक और निर्यातिक राष्ट्र हो गया। थोरियम धातु परमाणु ऊर्जा के स्रोत के रूप में अब तो सामरिक महत्व का हो गया है, तथा भारत सरकार ने मोनाजाइट के निर्यात पर रोक लगा दी है। यहाँ तक कि पुलिन बालुओं से प्राप्त इल्मेनाइट सांद्रण का भी निर्यात करने के लिए उसे मोनाजाइट से मुक्त होना आवश्यक है।

पेट्रोलियम का उत्पादन सर्वप्रथम १८८३ में आसाम से हुआ, तथा डिगबाय तेल क्षेत्र में प्रथम कूप में पूरा हुआ। उस समय उस कूप से २०० गैलन ही तेल प्रतिदिन निकलता था। इस प्रकार यह क्षेत्र पिछले ७७ वर्षों से तेल उत्पादन कर रहा है। इस क्षेत्र में अब तक खोदे गये १००० कूपों में से ४०० अभी तेल का उत्पादन करते हैं तथा अब प्रतिदिन का उत्पादन १९०० बैरेल (१ बैरेल = ४२ गैलन) है। दूसरे तेल क्षेत्रों में आसाम में मोरन, नहरकटिया, रूद्र सागर तथा लकवा और गुजरात में अंकलेश्वर, कैम्बे, कलोल तथा नवगाँव मुख्य हैं। आसाम में मिले कुछ नये तेल क्षेत्रों में आयल इंडिया लि० द्वारा (जिसमें भारत सरकार तथा बर्मा आयल कं० का बराबर साझा है) काम हो रहा है। गुजरात के तेल क्षेत्रों में भारत सरकार का तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग (Oil and Natural Gas Commission) कार्य कर रहा है, जिसमें रूसी भूवैज्ञानिकों और पेट्रोलियम इंजिनियरों का भी सहयोग प्राप्त है। भारत में कच्चे तेल का वार्षिक उत्पादन ५७ लाख टन तक पहुँच गया है, किन्तु अभी भी प्रति वर्ष लगभग १०० करोड़ रुपये का तेल आयात करना पड़ता है। विदेशों से कच्चे तेल का ही आयात करने तथा सरकारी क्षेत्र में अधिक तेल परिष्कारकों की स्थापना द्वारा भारत आयात की राशि घटाने के लिए प्रयत्नशील है।

भारत के अन्य महत्वपूर्ण खनिजों में मैग्नेसाइट, कायनाइट तथा सिलिमैनाइट उल्लेखनीय हैं, जो उच्चतापसह उद्योग के लिए अधिकाधिक प्रयुक्त होते हैं। **मैग्नेसाइट** का खनन १९०३ में सेलम (मद्रास) में शुरू हुआ, जो आज भी देश का प्रमुख उत्पादन केन्द्र है। भारत का मैग्नेसाइट उच्च कोटि का है और यह इस खनिज का प्रमुख निर्यातक है। कायनाइट तथा सिलीमैनाइट का खनन तभी आरंभ हुआ, जब १९१४–१८ में प्रथम विश्व युद्ध के समय औद्योगिक उपयोग की दृष्टि से इन्हें मान्यता मिली। **कायनाइट** का सर्वप्रथम १९२४ में सिंहभूम जिले (बिहार) के प्रसिद्ध लप्साबुरू निक्षेपों से उत्पादन हुआ। यह निक्षेप संसार का सर्वोत्तम और सबसे बड़ा कायनाइट निक्षेप माना जाता है। **सिलीमैनाइट** का सर्वप्रथम बड़े पैमाने पर खनन सोनापहाड़ (आसाम) में १९५० में आसाम सिलीमैनाइट लि० द्वारा शुरू हुआ। पिपरा (मध्य प्रदेश के रीवा जिले) के सिलीमैनाइट निक्षेप का खनन इससे पहले से ही हुआ था, किन्तु तब मूलतः सहचारी खनिज कोरंडम के लिए हुआ था। अब वहाँ सिलीमैनाइट का खनन होता है और डाक्टर दुबे की देखभाल में यहाँ का उत्पादन हो रहा है।

भारत के विभाजन के बाद प० पंजाब के साल्ट रेंज का विशाल जिप्सम निक्षेप भी हाथ से चला गया। लेकिन जिप्सम की मांग सीमेन्ट उद्योग के साथ-साथ सिन्द्री उर्वरक कारखाने के लिए भी पूरी करनी थी, जिसके लिए लगभग २००० टन जिप्सम प्रतिदिन चाहिए था। राजस्थान अब भारत का प्रमुख जिप्सम उत्पादक राज्य हो गया है। भारत में जिप्सम का कुल निचय (reserve) अत्यन्त विशाल है और भारत एशिया का अग्रणी जिप्सम उत्पादक हो गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत का खनन उद्योग अपनी महत्ता स्थापित कर चुका है। भारत की कुल भूमिगत और खुली खानों की संख्या ३३०० से भी अधिक है तथा प्रतिदिन उनमें काम करने वालों की संख्या सात लाख से भी ज्यादा है।

वर्तमान शताब्दी में खनिज उत्पादन की प्रगति

भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण ने १९०६ से खनिजों के वार्षिक उत्पादन का लेखा रखना शुरू किया। उस समय भारत ब्रिटिश साम्राज्य में था और उसके अन्दर बर्मा और पाकिस्तान सम्मिलित थे। क्रम से केवल १५ खनिजों के लिए सांख्यिकी उपलब्ध थी, वे थे—(१) सोना, (२) कोयला, (३) मैंगनीज अयस्क, (४) पेट्रोलियम, (५) नमक, (६) शोरा, (७) अभ्रक, (८) लाल-स्पिनेल-नीलम, (९) जेड पत्थर, (१०) ग्रेफाइट, (११) लोह अयस्क, (१२) टिन अयस्क (१३) क्रोमाइट, (१४) हीरा तथा (१५) मैंग्नेसाइट।

भारतीय खनिजों के उत्पादन और विकास की सामान्य प्रवृति को देखते हुए भारतीय खनिज उद्योग के विगत वर्षों को निम्न प्रकार विभाजित किया जा सकता है :

प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व (१९०६–१३)

इस काल में खनिजों के उत्पादन तथा मूल्य में सामान्यता वृद्धि होती गई। खनिज उत्पादन का मूल्य १९०६ में १०.१ करोड़ रुपये से १९१३ में १५ करोड़ तक पहुँच गया। आयात किये गये खनिजों, धातुओं तथा खनिज उत्पादों का मूल्य लगभग ४५ करोड़ रुपये था।

प्रथम विश्व युद्ध (१९१४–१८) तथा १९२४ तक

युद्ध के वर्षों में कुछ खनिजों एवं धातुओं के उत्पादन में सहसा वृद्धि हुई। जैसे, बर्मा के सीसा, चांदी, वुल्फ्रेम तथा टिन, भारत के कोयला तथा पाकिस्तान के नमक और क्रोमाइट आदि में। मूल्य में वृद्धि ने मैंगनीज अयस्क आदि कुछ खनिजों के उत्पादन के ह्रास पर पर्दा डाल दिया। युद्ध काल में औसत वार्षिक उत्पादन का मूल्य १६.७ करोड़ रुपये था। खनिजों तथा उत्पादों के आयात का औसत मूल्य प्रतिवर्ष २३.७ करोड़ रुपये था। खनिज उत्पादन में वृद्धि की यह रफ्तार १९२४ तक रही। १९२० तथा १९२४ में तो वृद्धि अपने चरम शिखर पर पहुँच गयी, जबकि कुल मूल्य (पेट्रोलियम को छोड़कर) क्रमश: २१.३ और २८ करोड़ रुपये हुआ।

अवनति काल (१९२४–३३)

अवनति काल में सबसे निम्न उत्पादन वाले वर्ष १९३०–३३ थे। १९२४ से ही खनिज उत्पादन के कुल मूल्य में (पेट्रोलियम को छोड़कर) भारी गिरावट होने लगी। १९३२ में कुल मूल्य १४.८ करोड़ रुपये हो गया था जो १९३३ में थोड़ा बढ़ा। इस काल में कोयला, मैंगनीज अयस्क, लोहा अयस्क, क्रोमाइट, अभ्रक, मैग्नेसाइट आदि के उत्पादन और मूल्य में भारी गिरावट हुई। खनिज तथा खनिज उत्पादों के आयातके मूल्य में भी कमी आई और मूल्य १९२९ में २९ करोड़ से १९३३ में १९.६ करोड़ रुपये तक हो गया।

पुनरुत्थान का काल (१९३४–३८)

भारतीय खनिज उद्योग, जिसने उपर्युक्त अवनति काल में काफी क्षति सही, १९३३ के उत्तरार्द्ध में धीरे-धीरे अपनी खोई हुई मर्यादा पुन: प्राप्त करने लगा। इस काल में खनिज उत्पादन का मूल्य १९३४ के २३·५ करोड़ से बढ़कर १९३८ में ३३·८ करोड़ रुपये हो गया। इस काल में कोयला, लोह अयस्क, क्रोमाइट, मैग्नेसाइट तथा इल्मेनाइट के उत्पादन में बहुत उत्थान हुआ, जब कि मैंगनीज उद्योग में उत्थान-पतन का दौर चलता रहा। खनिजों तथा खनिज उत्पादों के आयात का मूल्य १९३४ में २१·१ करोड़ रुपये से १९३८ में २७·२ करोड़ रुपये हो गया।

बर्मा का पृथक्करण (१९३९)

बर्मा के पृथक्करण ने खनिज उत्पादन में भारी क्षति पहुँचाई। विभाजन के पूर्व १९३८ में खनिज उत्पादन का मूल्य ३३.८ करोड़ रुपये था, जो उसके बाद १९३९ में घटकर २१.६ करोड़ रुपये मात्र रह गया। यह कमी लगभग ७० प्रतिशत पेट्रोलियम उत्पादन, तांबा तथा चांदी के अधिकांश भाग, टिन, सीसा, जस्ता तथा निकल अयस्कों, लाल तथा वुल्फ्रेम के लगभग संपूर्ण भाग की क्षति के कारण हुई। इन खनिजों में से अधिकांश के निक्षेप भारत में आवश्यकता की तुलना में नगण्य हैं और अभी तक इन खनिजों की क्षति पूर्ति संभव नहीं हो सकी है।

द्वितीय विश्वयुद्ध (१९३९–४५) तथा १९४६

इस काल में भारतीय खनिज उत्पादन बढ़ता गया और १९४५ में ४८.४ करोड़ रुपये मूल्य तक पहुँच गया। उत्पादन तो १९४१ तक ही बढ़ा, मगर उसके बाद १९४२ से गिरने लगा और १९४२–४५ की अवधि में तो कुछ खनिजों का निम्नतम उत्पादन हुआ। परन्तु

१९३९ से ही मूल्य में भारी वृद्धि होती गई, अतः उत्पादन में ह्रास मूल्य की वृद्धि द्वारा पूरा हो गया। युद्ध आरंभ होते ही आयात हुये खनिजों तथा खनिज उत्पादों में वृद्धि होती गई, १९४२ में थोड़ी कमी आई, किन्तु फिर ११.७ करोड़ रुपये पर मूल्य पहुँच गया। १९४६ से प्रायः सभी खनिजों के उत्पादन और मूल्य में बढ़ोतरी हुई, जो १९४६में ४९.२ करोड़ रुपये था।

पाकिस्तान का निर्माण (१९४७)

पाकिस्तान का निर्माण भारतीय खनिज उद्योग पर शायद ही कुछ प्रभाव डाल सका, क्योंकि पाकिस्तान की सीमा के अन्दर गया प्रदेश १.१–१.५ करोड़ रुपये मूल्य के ही खनिज उत्पादन के लिए उत्तरदायी था। फिर भी इस विभाजन के कारण, भारत के हाथ से साल्ट रेंज का सेंधा नमक और उच्च कोटि का जिप्सम, बलूचिस्तान का धातुकर्मी क्रोमाइट, अटक तेल क्षेत्र का पेट्रोलियम और प० पंजाब का तृतीय कल्पी कोयला निकल गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद (१९४७–६६)

दूसरे विश्वयुद्ध तक भारत में अधिकांश खनन यूरोपीय पूँजी तथा तकनीकी बुद्धि द्वारा होता था और इस संबंध में कोई अपनी विशिष्ट नीति नहीं थी। फलतः अनियमित रूप से खनन होता गया। आंतरिक उपभोग के लिए आवश्यक कोयला, तेल और लोह अयस्क को छोड़कर अधिकांश खनिजों का खनन कर उन्हें बिना परिष्करण के कच्ची हालत में ही निर्यात कर दिया जाता था। खनिज आधुनिक उद्योगों के मेरूदंड है तथा वर्त्तमान औद्योगिक सभ्यता मूलतः खनिज उत्पादों पर ही खड़ी है, अतः भारत की नई सरकार एक सुदृढ़ राष्ट्रीय खनिज नीति लेकर सामने आई। कच्चे खनिजों के पूर्णतः निर्यात से हटकर अब अल्प मात्रा में उपलब्ध खनिजों के निर्यात पर रोक लगा दी गई है तथा अधिक मात्रा में उपलब्ध खनिजों को भी कच्ची अवस्था में निर्यात करने की जगह उनकी परिष्कृत उच्च कोटि को या उनके उत्पाद को निर्यात करने पर बल दिया गया है। खनिजों के खनन तथा उपभोग में संबंध बनाये रखने की आवश्यकता अनुभव की गई है। भारत सरकार के ६ अप्रैल, १९४८ के औद्योगिक नीति अधिनियम तथा खनिज उद्योग के लिए विगत तीन पंच वर्षीय योजनाओं में निर्धारित नीतिओं से यह साफ़ प्रकट होता है कि खनिजों के संरक्षण और आर्थिक खनन पर बल दिया गया है। खनिज फसली जैसे पदार्थ नहीं हैं, जो एक बार समाप्त होने पर पुनः उगाये जा सकें। उपर्युक्त तथ्य को वे लोग भूल जाते हैं, जो भारत में खनिज तथा खनि उद्योग पर अत्यधिक सरकारी नियंत्रण की आलोचना करते हैं। खनिज निक्षेपों के क्रमबद्ध खनन और विकास के लिए खनिज अधिनियम आवश्यक है तथा खनि नियम इसलिए बनाये जाते हैं कि वे खनिज संपत्ति की खनि प्रक्रिया में पड़ने वाली तकनीकी, आर्थिक, राजनीतिक कानूनी और सामाजिक समस्याओं का समाधान दे सकें। सभी नियम समाज के हित के लिए ही बनाये जाते हैं।

भारत में खनिज तथा खनि नियम मुख्यतः दो वर्गों में रखे जा सकते हैं—एक तो खनिज के विकास एवं संरक्षण के लिए, और दूसरे खनन में व्यस्त मनुष्यों की सुरक्षा और कल्याण के लिए।

तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों तथा १९४८ के बाद प्राप्त अनुभवों, विशेषतः

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में एक नई खनिज नीति ३० अप्रैल, १९५६ के औद्योगिक अधिनियम के रूप में रखी गई। इसके अनुसार खनिजों को चार भागों में रखा गया है :

(१) परमाण्विक खनिज (Atomic minerals), जो परमाणु ऊर्जा अधिनियम में उल्लेखित है। इनका न तो कोई खनन कर सकता है, न विक्रय कर सकता है, और न ही प्रयुक्त कर सकता है, जब तक कि भारत सरकार से लाइसेन्स न मिला हो।

(२) खनिज तेल (पेट्रोलियम तथा प्राकृतिक गैस), जिसका भावी विकास सरकार के जिम्मे होगा।

(३) प्रधान खनिज, जिनमें (अ) कोयला, लोहा, मैंगनीज, क्रोमियम, टंगस्टन ताँबा, सीसा तथा जस्ता के अयस्क, जिप्सम, गंधक, सोना, हीरा आदि खनिज सम्मिलित हैं। इनका भावी विकास सरकारी क्षेत्र में होगा। (ब) सभी दूसरे खनिज (नीचे लिखित गौण खनिजों को छोड़कर) जो धीरे-धीरे सरकार द्वारा खनित होने लगेंगे और निजी क्षेत्र सरकार का पूरक रूप में काम करेगा।

(४) गौण खनिज, जैसे इमारती पत्थर, संगमरमर, स्लेट, मृत्तिका, चूना पत्थर, कंकड़, गुटिका और गोलाश्म, बालू तथा सड़क पत्थर, जो स्थानीय उद्योगों का निर्माण करते हैं। जिन क्षेत्रों में ये पड़ते हैं, उनकी राज्य सरकारें इनका देख-रेख करेंगी।

यद्यपि भारतीय खनिज उद्योगों को अनेक स्थानीय समस्याओं का सामना करना पड़ा है, किन्तु इस उद्योग की लगातार उन्नति होती गई है। केवल १९६६ तथा १९६७ में अवनति देखी गई, जिससे रुपये का अवमूल्यन तक करना पड़ा।

१९४७ (आजादी का प्रथम वर्ष) में भारतीय खनिज उत्पादन का कुल मूल्य ६४ करोड़ रुपये था, जिसमें पेट्रोलियम तथा गौण खनिज भी सम्मिलित है। १९५० (प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व) में मूल्य (पेट्रोलियम तथा परमाणु ऊर्जा खनिजों को छोड़कर) ८३.४ करोड़ रुपये और १९५५ (प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतिम वर्ष) में मूल्य (पेट्रोलियम और परमाणु उर्जा खनिजों को छोड़कर) १०० करोड़ रुपये पहुँच गया। मूल्य आगे भी बढ़ता गया और १९६० (दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंतिम वर्ष) में १६४.४ करोड़ रुपये (पेट्रोलियम तथा परमाणु ऊर्जा खनिजों को छोड़कर, किन्तु गौण खनिजों को सम्मिलित कर) हो गया। १९६६ (तीसरी पंचवर्षीय योजना के अंतिम वर्ष) में भारत में खनिज उत्पादन का कुल मूल्य (जिसमें सभी प्रधान खनिज सम्मिलित हैं, किन्तु पेट्रोलियम, परमाणु ऊर्जा खनिजों, गौण और गोवा के खनिज उत्पादन के मूल्य सम्मिलित नहीं है) २४७.७ करोड़ रुपये था।

जिन खनिजों का मूल्य सम्मिलित नहीं किया गया है, उनका मूल्य भी ध्यान में रखते हुये यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि १९४७ से अब तक के २० वर्षों में खनिज उत्पादन के मूल्य में चौगुनी और विगत ६० सालों में २५ गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई है। जिन खनिजों की सांख्यिकी का लेखा रखा जाता है, उनकी संख्या भी ५० से अधिक हो गई है।

कोयला तथा लिग्नाइट अग्रणी खनिज वर्ग है, जिससे १९६६ में १८४.५ करोड़ रुपये की प्राप्ति हुई, जो उस वर्ष के खनिज उत्पादन के मूल्य का ¾ भाग है। लोहस धात्विक खनिजों (लोहा, मैंगनीज, क्रोमियम तथा टंगस्टन के अयस्क) लगभग २६ करोड़ रुपये या कुल मूल्य के लगभग १०.५ प्रतिशत का हुआ।

अलोहस धात्विक खनिज (ऐलुमिनियम, ताँबा, जस्ता, टाइटैनियम, सोना तथा चाँदी ८.८ करोड़ रुपये का या कुल मूल्य का लगभग ३·६ प्रतिशत हुआ। शेष मूल्य २८·३ करोड़ रुपये या कुल मूल्य का लगभग ११·४ प्रतिशत अधात्विक खनिजों (या औद्योगिक खनिजों) के उत्पादन से आया, जिन्हें धातु के लिए न गला कर उद्योगों में सीधा कच्ची अवस्था में या कुछ परिष्करण के बाद भेज दिया जाता है।

१९६६ में भारतीय खनिज उत्पादन के कुल मूल्य में विभिन्न राज्यों का हिस्सा अलग-अलग रहा। इसका कारण विभिन्न राज्यों में खनिज भंडार की अलग-अलग मात्रा तथा उनके विकास की अलग-अलग अवस्था है। भूपटल में खनिज बहुत ही असमान रूप से वितरित हैं। अपने देश में भी वे यत्र-तत्र जमा हैं। विगत काल में सक्रिय दीर्घकालिक भूवैज्ञानिक प्रक्रमों द्वारा खनिजों का निर्माण और आर्थिक निक्षेपों के रूप में सांद्रण हुआ, और विशिष्ट वातावरण एवं परिस्थितियों में भूसतह पर या उसके निकट या काफी गहराई में वे निर्मित हुए। अतः खनिज संपत्ति का उस क्षेत्र में सृजन कभी नहीं हो सकता, जहां वह पहले से ही अस्तित्व में नहीं है।

१९६६ में खनिज उत्पादन के संपूर्ण मूल्य २४७.७ करोड़ रुपये में बिहार सदा की तरह अग्रणी राज्य रहा। इसने ९३.८ प्रतिशत भाग दिया। बिहार के बाद प० बंगाल से २१ प्रतिशत, मध्य प्रदेश से १४.३ प्रतिशत, आंध्र प्रदेश से ६.१ प्रतिशत तथा उड़ीसा से कुल मूल्य का ५.८ प्रतिशत आया। इन राज्यों द्वारा ऊँचे स्थानों की प्राप्ति का कारण प्रमुख कोयला उत्पादक होना है जो मात्रा तथा मूल्य दोनों में अग्रणी खनिज है। इन राज्यों से घिरा प्रदेश लोहा तथा मैंगनीज अयस्कों, क्रोमाइट, चूना पत्थर, डोलोमाइट, बाक्साइट, कायनाइट, अग्निसह मिट्टी, स्फटिक तथा क्वार्ट्जाइट में काफी समृद्ध है, और अधिकांश लोहा और इस्पात के कारखाने इसी क्षेत्र में है। इस संदर्भ में यह भी स्मरणीय है कि भारत के कुछ राज्य, जैसे जम्मू एवं काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, आसाम और मनीपुर, त्रिपुरा आदि केन्द्र शासित राज्यों में अभी भूवैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णतः सर्वेक्षण नहीं हुआ है, अतः उनके खनिज भंडार न तो पूर्णतः ज्ञात ही हैं, न ही उनका खनन हुआ है।

आजादी के बाद भारत सरकार ने अनेक संस्थाएं खोली हैं, जैसे भारतीय खनिज-विभाग, परमाणु ऊर्जा विभाग, तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग, आयल इण्डिया लि०, कोयला विकास निगम, राष्ट्रीय खनिज विकास निगम, हिन्दुस्तान इस्पात संगठन, कोलार स्वर्ण खनन संस्थान, मैंगनीज ओर लि०, हिन्दुस्तान कॉपर लि०, हिन्दुस्तान जिंक लि० तथा पाइराइट तथा रसायन विकास निगम लि० आदि। अनेक लोहा तथा इस्पात कारखाने, फेरो—मिश्रधातु संयंत्र, ऐलुमिनियम संयंत्र, खनिज सज्जीकरण संयंत्र, कोयला सज्जीकरण, तेल परिष्करणी तथा उच्चताप कारखाने, उर्वरक-कारखाने आदि सरकारी और निजी क्षेत्र में खोले गये हैं। इन सभी कारणों से भारत में खनिज उत्पादन में उन्नति हुई है और निस्सन्देह होती जायेगी। खनिज उद्योग की समृद्धि राष्ट्रीय शक्ति का उत्थान करेगी। संसार के मानचित्र पर भारत निश्चय ही संपन्न राष्ट्र के रूप में प्रकट होकर रहेगा।

———

'भारतेंदु' की निरुक्ति

डॉ० श्याम तिवारी
लेक्चरर, हिन्दी विभाग

(क) भारतेंदु का इतिवृत्त

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों में सर्वप्रथम सर जार्ज ग्रियर्सन हरिश्चंद्र को अपने समय का सर्वाधिक प्रसिद्ध भाषाकवि, भाषा-साहित्य का सबसे बड़ा प्रचारक, अनेक शैलियों का सिद्धहस्त लेखक, हरिश्चंद्र चंद्रिका नामक सबसे अच्छे पत्र का सम्पादक और उत्तर भारत का सर्वश्रेष्ठ आलोचक बताते हुए लिखते हैं कि सन् १८८० में इनकी ख्याति इतनी बढ़ गई थी कि देशी पत्रों के प्रायः सभी संपादकों ने एक मत होकर इन्हें 'भारतेंदु' उपाधि प्रदान की थी।[१] देश-विदेश में व्याप्त हरिश्चंद्र की इसी ख्याति के संदर्भ में इनके प्रसिद्ध जीवनी लेखक शिवनंदन सहाय का कथन है कि उक्त उपाधि का प्रस्ताव रामशंकर व्यास ने २७ सितम्बर, १८८० ई० के 'सारसुधानिधि' नामक पत्र में सर्व प्रथम प्रकाशित कराया था। तब से देशी-विदेशी सभी इन्हें भारतेंदु कहने तथा लिखने लगे[२] और यह इतना प्रचारित हुआ कि हरिश्चंद्र का उपनाम बन गया।[३]

रामशंकर व्यास ने **'एक देश हितैषी'** के नाम से **श्री बाबू हरिश्चंद्र और काशी** शीर्षक अपने प्रेरित पत्र में इस उपाधि की प्रस्तावना इन शब्दों में की थी—**"हिंदी भाषा के उत्पादक और जन्मदाता, देशोपकारियों में अग्रगण्य, विदग्धों में शिरोमणि, सकल गुण-निधान, चतुर सुजान, श्री बाबू हरिश्चंद्र जी महाशय हम लोगों के परम सहायक और मान्य हैं। हम सब इनके उपकार डोर में बँध रहे हैं। बाबू साहिब हिंदी भाषा के परमाश्रयभूत हैं और इन्हीं से हिन्दी सनाथ है। सज्जन मंडली उक्त बाबू साहिब के लेख को चातक की नाईं प्रत्याशा किया करती हैं......सज्जन कुमुदगण, रसिक शिरोमणि बाबू हरिश्चंद्र के नाम से प्रसन्न होते हैं। मेरी अल्पबुद्धि में यदि बाबू हरिश्चंद्र को भारतेंदु, माहेहिंद, द मून आफ इंडिया की उपाधि दी जावे तो सर्वथा उचित हो"**।[४]

हरिश्चंद्र के अध्येताओं में प्रायः सभी ने 'सारसुधानिधि' में प्रकाशित इसी प्रस्ताव को भारतेंदु पदवी का मूल माना है। किंतु ब्रजरत्नदास और लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एक दूसरे मूल की ओर संकेत करते हैं।[५] ये 'सारसुधानिधि' के प्रस्तावक 'एक देश हितैषी' को रामशंकर व्यास के स्थान पर रामेश्वरदत्त व्यास से प्रतिज्ञापित भी करते हैं।[६] दोनों

---

[१] दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिंदुस्तान, पृ० १२४, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १८८९।
[२] शिवनंदन सहाय : सचित्र हरिश्चंद्र, पृ० ३२०, खंग विलास प्रेस, बाँकीपुर, १९०५।
[३] राधाकृष्ण ग्रंथावली, पहला खंड, पृ० ४०५।
[४] सारसुधानिधि, पृ० ३००, १२ आश्विन चन्द्रवार, सं० १९३७।
[५] ब्रजरत्नदास : भारतेंदु हरिश्चन्द्र, तृतीय संस्क०, पृ० ११५; लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रथम संस्क०, पृ० २२।
[६] वही।

विद्वानों ने भारतेंदु प्रस्ताव की जिस आदि घटना का उल्लेख किया है, उसका आधार सुधाकर द्विवेदी लिखित 'राम कहानी' की भूमिका है। उसके अनुसार 'एक देश हितैषी' की विस्तृत प्रस्तावना के ६ वर्ष पूर्व नवंबर, १८७३ के 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में बालशास्त्री की जाति-व्यवस्था को लक्षकर जब हरिश्चंद्र ने 'सबै जाति गोपाल की'[1] शीर्षक व्यंग-लेख लिखा तो शास्त्री जी के सहयोगी रघुनाथ जी बड़े कुपित हुए और बाबू साहिब के दरबार में आकर उनसे बोले—**"आपको कुछ ध्यान नहीं रहता कि कौन आदमी कैसा है, सभी का अपमान किया करते हो। जैसे आप अपने सुयश से जाहिर हो, उसी तरह भोग विलास और बड़ों के अपमान करने से आप कलंकी भी हो। इसलिये आज से मैं आपको भारतेंदु नाम पुकारा करूँगा।"**[2]

सुधाकर द्विवेदी के कथनानुसार भारतेंदु उपाधि का इतिहास नवबर, १८७३ के पश्चात् आरंभ होता है किंतु लगभग ६ वर्ष बाद तक इसका उपयोग तथा प्रचार नहीं हुआ। इस अवधि के प्रकाशित लेखों में प्रस्तुत विषय की चर्चा अनुपलब्ध होने से उपाधि का यह स्रोत प्रत्यक्ष प्रमाणों से पुष्ट नहीं है। इसके विपरीत सितम्बर, १८८० से ही 'भारतेंदु' पद का क्रमिक प्रयोग मिलता है। इसीलिए श्यामसुन्दरदास भी मूल प्रस्ताव एवं प्रस्तावक के प्रति अपनी अनभिज्ञता प्रकट कर इस संदेह को पुष्ट करते हैं। उनका कथन है कि **"रामशंकर व्यास इस प्रस्ताव को लेकर अग्रसर हुए"** परन्तु यह ज्ञात नहीं है कि यह किसके मस्तिष्क की उपज थी।[3]

'सारसुधानिधि' के प्रसिद्ध 'प्रेरितपत्र' के पश्चात् यद्यपि भारतेंदु उपाधि के प्रस्ताव ने हिंदी पत्रों ारा संचालित आन्दोलन का रूप ले लिया था, तथापि सन् १८८१ के मध्य तक लोगों ने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया था। क्योंकि अगस्त १८८१ के 'हरिश्चंद्र चंद्रिका मोहन चंद्रिका' में किसी न० ल० प० ने इस पर खेद और आश्चर्य व्यक्त किया है। साथ ही, 'कवि वचन सुधा' में प्रकाशित काशीनाथ के उस प्रस्ताव का उल्लेख भी किया है जिसमें एक समाज एकत्र कर हरिचन्द्र को भारतेंदु उपाधि देने का संकल्प किया गया था।[4] किंतु समारोहपूर्वक उपाधि प्रदान करने का यह अवसर कभी आया ही नहीं, केवल पत्रों के प्रस्ताव तथा अनुमोदन पर इसका व्यवहार आरंभ हुआ।

---

[1] सर हेनरी एम० इलियट : मेम्वायर्स ऑन दि हिस्ट्री फोक लोर ऐंड डिस्ट्रीव्यूशन ऑव द रेसेज़ ऑव द नार्थ-वेस्टर्न प्राविंसेज़ ऑव इंडिया, खंड १, पृ० ११३, द्वितीय संस्क०, लंदन, १८६९।

[2] सुधाकर द्विवेदी : राम कहानी, पृ० २, चंद्रप्रभा प्रेस, १९०८; विशेष दे० क० व० सु०, नवम्बर, १८७१ पृ० ५३ पर हरिश्चंद्र का काशी के पंडितों पर जाति व्यवस्था संबंधी आक्षेपपूर्ण लेख।

[3] श्यामसुन्दर दास : भारतेंदु हरिश्चन्द्र, पृ० ७९।

[4] हरिश्चन्द्र चन्द्रिका मोहन चन्द्रिका, श्रावण, सं० १९३८, पृ० २२; भारतमित्र, १५ जनवरी, १८८५, पृ० १-२; धर्म दिवाकर, पौष, सं० १९४१, पृ० १३०; रामशंकर व्यास संपादित 'चन्द्रास्त' (१८८५), पृ० १५।

हरिश्चन्द्र की प्रशंसा में भट्ट गोपालशास्त्री के श्लोक प्रकाशित करते हुए 'कवि वचन सुधा' संपादक ने ७ मार्च, १८८१ की संख्या में पृष्ठ ५ पर पहली बार 'भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र' लिखा और ३० मई, १८८१ के अंक में उसे दुहराया। मई, १८८१ के 'विद्यार्थी सम्मिलिता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका मोहन चन्द्रिका' में हरिश्चन्द्र की उदारता की सूचना देते हुए उन्हें **'चंद्रिका चंद्र भारतेंदु'** कहा गया।[१] तीन मास पश्चात् अगस्त, १८८१ के 'आनंद कादंबिनी' में 'भारतजननी' की समीक्षा में ग्रंथकार का नाम **'श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र भारतेंदु'** लिखा गया।[२] पुनः एक मास बाद 'क्षत्रिय पत्रिका' में **'भारतेंदु हरिचन्द्र'**[3] और दो मास बाद 'गोमहिमा' की समीक्षा में ग्रंथकार को **'भारत भूषण वाराणसी वसुन्धरा भरण आर्य भाषा भाग्य भाजन श्री भारतेंदु हरिश्चंद्र विद्वद्विटप'** लिखा गया था।[४] २२ सितम्बर, १८८२ को हरिचन्द्र ने मिस्र विजय के उपलक्ष में बनारस इंस्टीट्यूट की ओर से आयोजित समारोह में अपनी 'विजयिनी विजय पताका' (या वैजयंती) शीर्षक कविता का पाठ किया। उससे प्रभावित हो लंदन से फ्रेडरिक के० हरफोल्ड ने राष्ट्रगीत (नेशनल एंथम) के हिंदी अनुवाद के लिए हरिचन्द्र को लिखे अपने १६ मार्च, १ जून और ८ जून, १८८३ के पत्रों में नाम के साथ भारतेंदु उपाधि का व्यवहार किया था।[५] ये पहले विदेशी पत्र हैं जिनमें इसका प्रयोग मिलता है।

नाम के साथ भारतेंदु उपाधि के इन प्रारंभिक प्रयोगों के बावजूद, कुछ को छोड़कर तत्कालीन हिंदी पत्रों में इसकी परंपरा कुछ बाद से चली। ज्वालादत्त प्रसाद ने हरिश्चन्द्र के उद्देश्यों से अनुप्राणित होकर १८८१ में भारतेंदु नामक पत्र ही निकालना आरंभ कर दिया था जो शीघ्र ही बंद हो गया किंतु जब यही पत्र पुनः २२ अप्रैल, १८८३ से राधाचरण गोस्वामी के संपादकत्व में वृंदावन से **"षोडस कला सहित पूर्णचंद्र के समान प्रत्येक पूर्णमासी"** को निकलने लगा, लिखने-पढ़ने तथा पत्र-पत्रिकाओं में भारतेंदु उपाधि की लोकप्रियता बढ़ने लगी।[६]

सन् १८८० तक हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र में हरिश्चन्द्र की प्रसिद्धि का जो उल्लेख ग्रियर्सन ने किया है और जिसके कारण देशी पत्रों द्वारा प्रस्तावित भारतेंदु उपाधि को सर्वमान्य हो जाना लिखा है, उसका आशय यह है कि तब तक हरिश्चन्द्र के भाषा एवं साहित्य संबंधी आदर्शों के अनुगामी हिंदी लेखकों, कवियों और पत्रकारों का समूह तैयार हो गया था और सन् १८८४ के आते-आते हरिश्चन्द्र एक व्यक्ति के रूप में संस्था की मर्यादा ग्रहण कर चुके थे। इस अवधि में हिंदी भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में उन्हें अपना आदर्श बनाकर चलने वाले लेखकों तथा पत्रकारों ने भारतेंदु उपाधि को लोकप्रिय बनाने में पूरा योग दिया और

---

[१] विद्यार्थी सम्मिलिता हरिश्चंद्र चंद्रिका मोहन चंद्रिका, ज्येष्ठ सं० १९३८, पृ० ९८।
[२] आनन्द कादम्बिनी, खं० १, सं० १, पृ० ३।
[3] क्षत्रिय पत्रिका, खं० १, सं० ४, पृ० ११२; खं० १, सं० ९, पृ० २०९।
[४] हरिश्चन्द्र चन्द्रिका मोहन चन्द्रिका, कला ८, किरण १०, पृ० १२५।
[५] शिवनन्दन सहाय : सचित्र हरिश्चन्द्र, परिशिष्ट, पृ० २५-३०।
[६] भारतेंदु, पुस्तक १, नियम १ (२२ अप्रैल, १८८३)।

उनकी मृत्यु के उपरान्त नाम से संवत् चलाने, स्मारक स्थापित करने, उनकी कृतियों तथा आदर्शों को प्रचारित करनेवाले समकालीन पत्रकार-लेखकों और आधुनिक हिंदी तथा हिंदी साहित्य के संदर्भ में उनका मूल्यांकन करनेवाले परवर्ती आलोचकों ने भारतेंदु उपाधि को उपनाम के रूप में स्वीकार कर लिया। आगे चलकर यह उपाधि व्यक्तिनिष्ठ विशेषण के रूप में इतनी रूढ़ हो गई कि उसके साथ असली नाम का उल्लेख ही अनावश्यक हो गया। यही नहीं, जब हिंदी सेवा के लिये जीवित साहित्यकारों को भारतेंदु उपाधि देने का प्रस्ताव किया गया तो उसका यह कहकर विरोध हुआ कि इसका एकनिष्ठ महत्व हरिश्चन्द्र तक है, इसकी प्रस्तावना आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास की महान् घटना है। अतः इसे सबके लिए सुलभ करने का अर्थ केवल इसकी महत्ता को घटाना ही नहीं, अपितु इसका निरादर और उपहास भी करना होगा।[१]

भारतेन्दु उपाधि की प्रस्तावना और प्रयोग का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करने के बाद, अब उसके वास्तविक अर्थ की व्याख्या करने का कार्य बच रहता है। इसके लिए चंद्र-रूपकों का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है क्योंकि तभी उन रूपकों के विभिन्न प्रयोगों के संदर्भ में विकसित इस उपाधि की सार्थकता का रहस्य तभी प्राप्त किया जा सकता है। आधुनिक हिंदी भाषा और साहित्य के इतिहास में 'भारतेंदु' की स्थिति और औचित्य का निर्णय भी तभी किया जा सकता है, जब यह देख लिया जाय कि इसकी उद्भावना तथा प्रयोग के विस्तार-क्रम में प्रयोगकर्ताओं का अभिप्राय क्या है ?

(ख) भारतेंदु उपाधि की पृष्ठभूमि : चंद्र और हरिश्चंद्र का समीकरण

यह एक मनोरंजक तथ्य है कि हरिश्चंद्र के नाम तथा कार्य की विशेषताएँ आरंभ से ही चंद्रमा की विशेषताओं से समीकृत होती रही हैं। वस्तुतः ऐसी ही उक्तियाँ भारतेंदु-कल्पना की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती हैं। ये इस तथ्य को भी स्पष्ट करती हैं कि इस उपाधि की उद्भावना नितान्त आकस्मिक घटना नहीं थी क्योंकि इसके पीछे हरिश्चंद्र के चंद्र-सुलभ गुण-कार्य की तुल्यता सिद्ध करनेवाली उक्तियों का एक लंबा क्रम है जो हिंदी-आकाश में उनके उदय काल से ही आरंभ हो जाता है।

भारतीय वाङमय में चंद्रमा का व्यक्तित्व गुण और दोष के अद्भुत समन्वय से निर्मित

---

[१] स्व० ब्रजरत्नदास तथा बाबू रामचंद्र वर्मा से लेखक को ज्ञात हुआ कि सन् १९३० के आस-पास ना. प्र. सभा के कुछ सदस्यों ने श्यामसुन्दरदास को उक्त उपाधि से सम्मानित करने की बात चलाई थी और उसे सभा द्वारा स्वीकृत तथा प्रस्तावित करने की चेष्टा भी की थी। किंतु विरोध के कारण वैसा न हो सका। इस ढंग का प्रस्ताव पहले पहल हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की ओर से हुआ था। 'सम्मेलन के प्रस्तावित मंतव्य' में सोलहवाँ प्रस्ताव भारतेंदु उपाधि था, जिसका विवरण नागरीप्रचारिणी पत्रिका के १५ जुलाई, १९१० के अंक में पृष्ठ ७-८ पर दिया है। इसी प्रकार हिंदी सेवा के पुरस्कार-स्वरूप कुछ पत्र संपादकों ने लेखकों को 'भारतेंदु' बनाया तो 'प्रेमघन' ने उसका तीव्र विरोध किया था। दे० आनंद कादंबिनी, माला २, मेघ १०-१२, सं १९४२, पृ० ७।

हुआ है। वह एक ओर पौराणिक परंपरा में कामी, लंपट, लांछित, क्षयी और राहुग्रस्त वर्णित है, तो दूसरी ओर काव्यशास्त्र की परम्परा में प्रसिद्ध उपमान की स्थिति से सौंदर्य, यश, मंगल और अमृतत्व का प्रतीक रहा है।[1] इन द्विविध परम्पराओं के अनुसार हरिश्चंद्र के कृतज्ञता-ज्ञापकों, प्रशंसकों, उपाधि प्रस्तावकों और आलोचकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के चंद्ररूपकों की सृष्टि की है। इन रूपकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें प्रशस्ति-रूढ़ियों के साथ हरिश्चंद्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की सच्ची प्रशंसा का पूरा-पूरा निर्वाह मिलता है। चंद्र की तुल्यता, समता और सहधर्मिता की जो सांगरूपकता इनके साथ घटित हुई है, वह तब और संगत हो जाती है जब हम देखते हैं कि हरिश्चंद्र के जीवन और कर्म में चंद्रत्व के नियामक तत्व स्वतः संगठित हो गये हैं। 'कवि वचन सुधा' की सुधा, 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' की चंद्रिका, देश तथा भाषा-हित का प्रकाश, बड़ों के तथाकथित अपमान और भोग-विलास का लांछन आदि तत्व इन रूपकों के महत्वपूर्ण उपादान हैं। इन विशेषताओं को लेकर चलनेवाले रूपकों का उपसंहार 'भारतेंदु' के रूप में हुआ। श्यामसुन्दरदास का मत है कि **भारतेंदु उपाधि की उद्भावना किसी बड़े ही विलक्षण बुद्धिवाले का काम था और इसके लिए उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है क्योंकि बाबू हरिश्चंद्र इसके सर्वथा उपयुक्त पात्र थे।**[2] वास्तव में 'भारतेंदु' पद हरिश्चंद्र के चंद्रोचित गुणों और क्रियाओं का सच्चा रूपक था। वह उनके साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आयोजनों से अर्जित यश के संदर्भ में अद्वितीय विशेषण भी था। यही कारण है कि इस उपाधि में निहित रूपक, चंद्र-विषयक शास्त्रीय धारणाओं से संगठित होने पर भी हरिश्चंद्र के गुण-कार्य का सच्चा प्रतीक बनकर अपनी योजना में पूर्णतया सार्थक, सकारण और उचित प्रतीत होता है। हरिश्चंद्र के चंद्र रूपक की पिछली योजनाएँ किस प्रकार भारतेंदु उपाधि का मूल बनीं, इसके कुछ तथ्यपरक तथा मनोरंजक विवरण, विषय को ऐतिहासिक विकास-क्रम से समझने में सहायक होने के कारण प्रस्तुत किये जाते हैं।

अगस्त, १८६८ में 'कवि वचन सुधा' नामक पत्र प्रकाशित हुआ था जो तत्कालीन हिंदी-उर्दू पत्रों से विलक्षण था।[3] इसकी **'सुधा'** आकाशीय चंद्र की अलौकिक सुधा से भिन्न थी, क्योंकि वह काव्यप्रेमी **'रसिक चकोरों'** के लिए थी। पहले इसमें प्राचीन कवि वाणी की 'सुधा' संचित होती थी, बाद में नये सुकवि जन की **'अमृत वाणी'** से युक्त होने पर नित्य नवता के गुण से संपन्न हुई। **'सुरपुर'** से भिन्न कोटि की नवीन **'सुधा'** प्रस्तुत कर हरिश्चंद्र ने पार्थिव चन्द्रमा का स्थान प्राप्त किया।[4] जून, १८७४ में जब 'हरिश्चंद्र मैगजीन' आठवें नम्बर के बाद 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' हो गई, तब उसका सिद्धान्त वाक्य भी बदल गया।

---

[1] दे० लेखक का 'विश्वासों में चंद्र कलंक' लेख मराल, फरवरी, १९६४, यूरेका पब्लिकेशंस, वाराणसी।

[2] श्यामसुन्दरदास : भारतेंदु हरिश्चंद्र, पृ० ७९-८०।

[3] शिवनंदन सहायकृत सचित्र हरिश्चंद्र में उद्धृत गार्सां द तासी का कथन, पृ० ६९।

[4] दे० 'कवि वचन सुधा', भाद्रपद, सं० १९२६, भाद्रपद, सं० १९२७ और भाद्रपद, सं० १९२९ के अंकों में मुख पृष्ठ के शीर्ष पर प्रकाशित एवं क्रमशः परिवर्तित सिद्धांत वाक्य।

अब वह काव्य सुधा से **'रसिक'** और **'बुधजन'** को तृप्त करनेवाली 'कवि वचन सुधा' की प्रतिज्ञा के साथ कवि रूपी कुमुदों का हृदय विकसित करने, रसिक चकोरों को सुख देने, प्रेमियों को अपनी सुधा प्रदान करने, भारत के आलस्य रूपी तम को हरने, उद्यम रूपी औषधि प्रदान करने और खल-चोरों को दलने का संकल्प लेकर अवतरित हुई।[१] इस संकल्प में चंद्रिका के उन सभी गुणों का समावेश गिया गया है जिसके कारण चंद्रमा क्रमशः कुमुदप्रिय या कुमुद बंधु, सुधांशु या सुधाकर, तमोहर, ओषधीनाथ और शुभ्रांशु आदि कहे जाते हैं।[२] अक्टूबर, १८६९ में 'कार्तिक कर्म विधि' प्रकाशित हुआ। उसके मुखपृष्ठ पर एक श्लोक में उसे राका-ज्योत्सना-स्वरूप अलभ्य अमृत कहा गया है जो हरिश्चंद्र रूपी चंद्रमा से इस संसार को सुलभ हुआ था।[३] सितंबर, १८६९ में ड्यूक ऑव एडिनबरा काशी आये थे। उनके स्वागत में २० जनवरी, १८७० को आयोजित सभा में पुरस्कृत काशी के विद्वानों ने वाद में अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए हरिश्चंद्र को एक मान-पत्र भेंट किया था। उसमें विद्वज्जन की प्रतिष्ठा का एकमेव कारण बताते हुए इन्हें नाम के आधार पर चंद्र और सूर्य के सम्मिलित गुणों का पुंज कहा गया।[४] असल में, पुरस्कार एवं आर्थिक सहायता द्वारा गुणियों तथा पंडितों का सम्मान करना इनका स्वभाव था जो चंद्रमा की आह्लादित तथा आलोकित करनेवाली विशेषता के अनुरूप था।[५] इसी दृष्टि से 'कवि वचन सुधा' में प्रकाशित श्लोक में शीतला प्रसाद त्रिपाठी ने हरिश्चंद्र को प्रियदर्शन चंद्रमा के समान आह्लादकारी कहा भी है। उसका आशय है कि हरिश्चंद्र में लोक रंजनकारी तथा प्रियदर्शी चंद्रमा के जो गुण सुने जाते हैं वे वस्तुतः उनमें परिलक्षित भी होते हैं।[६] हरिश्चंद्र के स्वभाव का यह पक्ष चंद्रमा के समान उनके आकर्षक व्यक्तिव में निहित, व्यवहार की अनुरंजनकारी विशेषता को उजागर करता है। इस संबंध म अम्बिकादत्त व्यास का कथन है कि

---

१ 'कवि जन कुमुद गन हिय विकासि···मंगल करै।' तथा 'विद्वत्कुलामलस्वान्त··· श्री हरिश्चंद्र चंद्रिका।' दे० हरिश्चंद्र चंद्रिका, जून, १८७४, खंड १, सं ९ (मुख पृष्ठ)।

२ मोनियर मोनियर विलियम्स : ए डिक्शनरी ऑव इंगलिश ऐंड संस्कृत, दे० 'चंद्रमा', 'सोम'।

३ लोकानां पापरूपप्रबलतमतमो नाशनायाशुशक्तं,
तीक्ष्णं त्रितापं पटुतरमनिशं यः परन्दुःखहेतु।
दातुं शक्तं त्रिलोकैरसुलभममृतं कार्तिकं कर्मवैधं
राकाज्योत्स्ना स्वरूपं विलसतु जगति श्री हरिश्चंद्र चंद्रात्॥

४ तपने गतवत्यस्तं समुदयति कलानिधौ प्राचि
चित्रातत्र प्रथितिः समुदयमायाति यद् हरिश्चंद्रः
विद्वज्जन प्रतिष्ठाकारणमेवं हरिश्चंद्रः यद्वत्
स्वभावगत्या दिन-रात्र्योर्वा हरिश्चंद्रः।

५ चदि आह्लादने से चंदयति आह्लादयति बनता है। चंद्रमा का अर्थ ही है आह्लादित करनेवाला।

६ श्रूयते ये हरिश्चंद्रे जगदाह्लादिनो गुणाः दृश्यंते ते हरिश्चंद्रे चंद्रवत् प्रियदर्शने। क० व० सु०, जून, १८७१, पृ० १६६।

"दूर से लोग इसकी मधुर कविता सुन आकृष्ट होते थे और समीप आ मधुर श्यामसुन्दर घुंघराले बालवाली मधुर मूर्ति देख बलिहारी होते और वार्तालाप में मधुर भाषण, नम्रता और अतिशिष्ट व्यवहार से वशम्बद हो जाते थे।"[१] १८७१ के 'कवि वचन सुधा' में हरिश्चंद्र को संबोधित किसी कवि के कुछ श्लोक प्रकाशित हुए हैं। उनमें एक श्लोक का भावार्थ है : हे गुण-गौरव के अन्यतम रक्षक और समस्त दिगंतराल को अपनी कीर्तिरूपी चंद्रमा से रंजित करनेवाले हरिश्चंद्र ! मैं तुम्हें नरेंद्र की पदवी को पहुँचता हुआ देख; ठीक ही प्रसन्न हो रहा हूँ।[२] इसी प्रकार जयनारायण पाठशाला के अध्यापक भट्ट गोपाल शास्त्री ने भी हरिश्चंद्रसंबंधी प्रशंसात्मक श्लोक रचे हैं।[३] जुलाई, १८७४ के 'चंद्रिका' में प्रकाशित सदगुर परसाद ने अपने पत्र में संपादक हरिश्चंद्र को 'श्रीयुत काव्यकला कलाधर' और 'कविकुल कुमुद प्रकाशक' विशेषणों से संबोधित किया है।[४] इसके पूर्व 'कवि वचन सुधा' में नारायण कवि का 'कविता वर्धिनी सभा' के संबंध में एक कवित्त प्रकाशित हुआ था जिसमें उन्होंने उसके कवि-प्रकाशक, सभापति आदि के रूप में हरिश्चंद्र की प्रशंसा की थी।[५] इस सभा की स्थापना गुणियों का मान बढ़ाने, नवीन कवियों को प्रोत्साहित करने और हिंदी कविता में वृद्धि करने के उद्देश्य से हरिश्चंद्र ने की थी।[६]

हरिश्चंद्र के काव्य तथा कवि-प्रकाशक और कवि रूप का परिचय हमें सन् १८६१-६७ के बीच ही मिलने लगता है। किंतु इनके प्रभावशाली ढंग से साहित्य क्षेत्र में अवतरित होने का समय १८७० में 'कवि वचन सुधा' जिल्द २ के प्रकाशन से आरंभ होता है। यही कारण है कि गार्साद तासी ने 'इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी' के द्वितीय संस्करण (१८७०-७१) में हरिश्चंद्र को संपादक, प्रकाशक और अनुवादक लिखा है।[७] सन् १८७० के बाद

---

[१] अंबिकादत्त व्यास : बिहारी बिहार, भूमिका, पृ० ४७, भारत जीवन यंत्रालय, सं० १९५५।

[२] राजन्नरेंद्र पदवी मधि रोहसित्वं सत्योऽव्मुत्सव विधिर्विहितो यथा मे
तज्जापयामि गुण-गौरव रक्षिमुख्य कीर्तीन्दुरंजित समस्त दिगन्तराल।
—क० व० सु०, २८ सितंबर, १८७१, पृ० २४।

[३] कलाभिरिन्दुस्तव यातु तुल्यताम् तथापि मन्ये महदन्तरं स्फुटम्
दोषाकरौ सौ प्रथितः क्ववैश्यराट् बाबू हरिश्चंद्र गुणाकरस्त्वम्
नामैकदेशेन तवैव नामवान् न चंद्रिकाभिश्च सदा प्रकाशवान्
त्वंचंद्रिकाभिः सततं विशाम्यते प्रकाशको लोक मनोहरश्च।
—क० व० सु०, ७ मार्च, १८८१, पृ० ५।

[४] हरिश्चंद्र चंद्रिका, जुलाई, १८७४, पृ०४; इसके पूर्व यही विशेषण हरिश्चंद्र के लिए मन्नालाल ने सुन्दरी तिलक की भूमिका में दिया था।

[५] क० व० सु०, जि० २, नं० ७, पृ० ५५।

[६] वही, जि० २, नं० १, पृ० ८, अगस्त, अक्टूबर १८७०; जनवरी, अप्रैल, जून, १८७१; ११ दिसंबर १८७६; २ जून, १८७७; ६ अगस्त, १८७७; १५ अक्टूबर, १८७७; ८ अप्रैल १८७८ के अंकों में उक्त सभा के विवरण देखिये।

[७] लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (अनु०) हिंदुई साहित्य का इतिहास, दे० हरिचंदर, शीतला प्रसाद तिवारी और तमन्नालाल संबंधी विवरण।

'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' और 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के प्रकाशन क्रम में हरिश्चंद्र का कवि, लेखक, पत्रकार, अनुवादक, हिंदी के प्रबल समर्थक, उद्धारक, निर्माता, कर्णधार, नेता, प्रेरक का समर्थ रूप स्पष्ट होता गया, साथ ही प्रेरणा प्राप्त समर्थक तथा अनुगामी लेखकों, कवियों और पत्रकारों का दल भी संगठित होने लगा। इस प्रकार हरिश्चंद्र **'कवि कुल कुमुद प्रकाशक'** और **'काव्य कला कलाधर'** होकर हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अभिनव प्रकाश के प्रदाता बने। इनके प्रशंसकों ने हिंदी भाषा और साहित्य, हिंदू समाज, देश तथा धर्म हितकारी कार्य के लिए इन्हें विक्रम, हरिश्चंद्र, राजाभोज से बढ़कर गुणग्राही, कर्ण, एशिया का महाकवि, शायर मारूफ बुलबुले हिंदुस्तान, भारत भूषण[१] आदि कहा तथापि चंद्रमा के साथ इनके नाम, गुण, कार्य आदि की तुल्यता प्रकट करनेवाले रूपक ही विशेष लोकप्रिय रहे। इन रूपकों के निर्वाह में प्रशंसकों की भूमिकाओं का जो भी महत्व हो, लेकिन यह स्पष्ट है कि अपने विभिन्न आयोजनों के नाम, कार्य, गुण आदि को चंद्रमा से समीकृत करने के लिए हरिश्चन्द्र की ओर से भी पूरा-पूरा प्रयत्न हुआ। रामशंकर व्यास ने अपने 'प्रेरितन्पत्र' में हरिश्चन्द्र के गुणों आदि की चर्चा और भारतेंदु उपाधि की प्रस्तावना के पश्चात् रूपक-निर्वाह के लिए आवश्यक समानधर्मी तत्वों का विवरण देते हुए लिखा है—

"जो जो लक्षण चन्द्र में चाहिए वे प्रस्तुत बाबू साहिब में पाये जाते हैं। जो कोई कहे कि इसमें आप प्रमाण क्या रखते हैं तो मैं सिद्ध कर दिखाता हूँ—(१) चन्द्र से चन्द्रिका की उत्पत्ति है और यहाँ हरिश्चन्द्र से अभिनव किरणावली चन्द्रिका प्रकट हुई है। (२) चन्द्र में सुधा है, यहाँ इसमें भी कविवचन सुधा भी प्रस्रवित है। (३) चन्द्र में कलाएँ चाहिए, यहाँ अनेक गुण समूह देदीप्यमान कलाएँ हैं। (४) चन्द्र में लांछन कहिए, तो इनमें ईश्वर ने कोई ऐगुण नहीं रक्खा, यह सबसे भारी लांछन है। (५) वह किसी को सुखद और किसी को दुखद है, पर बाबू साहिब सदा सबको सुखद हैं, इतना उससे विशेष है।"[२]

हरिश्चन्द्र की मृत्यु के पश्चात् कवियों तथा लेखकों ने शोकोद्गार प्रकट करते हुए रचनाओं में अनिवार्य रूप से हरिश्चन्द्र के चन्द्र-रूपक का निर्वाह किया।[३] उनकी मृत्यु को प्रायः **'चन्द्रास्त'** और उन्हें राहुग्रस्त लिखा।[४] आगे चलकर भारतेंदु के अध्येताओं और

[१] दे० क० व० सु०, जि० २, नं० ११, पृ० १६४ (प्रेरित-पत्र); २७ अगस्त, १८७७, पृ० ७; राधाकृष्ण ग्रंथावली, पहला खंड, पृ० ३६६; शिवनंदनसहाय कृत सचित्र हरिश्चंद्र, पृ० ३६०, शोकावली में प्रकाशित केदार कवि की रचना, पृ० २६; क० व० सु० ७ मार्च, १८८१, पृ० ४; रामशंकर व्यासः चंद्रास्त, पृ० १०; सचित्र हरिश्चंद्र, पृ० ६०, २८०; रविदत्त शुक्ल : जंगल में मंगल, पृ० २६; हरिश्चंद्र चंद्रिका मोहन चंद्रिका, कला ८, किरण १०, पृ० १२५; शोकावली में रामशंकर व्यास लिखित चंद्रास्त, पृ० २।

[२] सारसुधानिधि, २७ सितम्बर, १८८०, पृ० ३००।

[३] दे० 'रक्ताश्रु', ब्राह्मण, खं० २, सं० ११, पृ० २; 'भारतेंदु अवसान', प्रेमघन सर्वस्व, भाग २, पृ० ६२, १६७-१६८, १७७; प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, पृ० १०५; पीयूष प्रवाह, २५ मार्च, १८८५, पृ० ६; शोकावली, पृ० ३४।

[४] दे० 'मित्र विलास' का चन्द्रास्त शीर्षक लेख (राधाकृष्ण ग्रंथावली, भाग १, पृ० ४१८); रामशंकर व्यासकृत चन्द्रास्त; शिवनंदन सहाय : सचित्र हरिश्चन्द्र, पृ० ३३८; श्यामसुन्दर दास : भारतेंदु हरिश्चन्द्र, पृ० ८०।

आलोचकों ने भी रूपक की इसी परंपरा में 'भारतेन्दु के नक्षत्र मंडल' और 'भारतेन्दु मंडल' जैसे पदों की सृष्टि की और उनके प्रयोग का क्रम चलाया।

(ग) 'भारतेन्दु' में 'लांछन' का रहस्य और उसकी व्याख्या

हरिश्चंद्र की चंद्रोपम विशेषताओं को व्यंजित करनेवाली उक्तियों के क्रमिक विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रशस्तियों, सिद्धांत वाक्यों, प्रशंसात्मक उक्तियों और श्रद्धांजलियों में 'भारतेंदु' कल्पना किस प्रकार चरितार्थ तथा पुष्ट होती गई है। इस कल्पना को उपाधि के रूप में मनोनीत करनेवाले चन्द्ररूपक के तत्वों और उपादानों—सुधा, चंद्रिका, सर्वप्रियता, आह्लाद, शीतलता, कामुकता, परोपकार, प्रकाश, कला, राहुग्रस्तता आदि में उस कलंक का विशेष महत्व है जिसकी अवस्थिति को शिवनन्दन सहाय ने जगदुपकारार्थ माना है।[1] सच पूछा जाय तो लांछनरहित इंदु की कल्पना ही अधूरी है। पौराणिक चन्द्रमा लांछित-गुणवान् और कलंकी-यशस्वी के रूप में चित्रित है। साहित्यशास्त्र में कलंक-दुर्गुण का निषेधकर उसे प्रायः सौंदर्य तथा यश का वर्द्धक गुण माना गया है। पुराण और साहित्य की इन्हीं परंपराओं में हरिश्चन्द्र के चन्द्र-रूपक संगठित हुए, जिनमें लांछन की दो परस्पर विरोधी व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। सुधाकर द्विवेदी के उल्लेखानुसार रघुनाथशास्त्री ने भारतेंदु नामकरण के लिए जो तर्क दिया था, उसके कुल तीन आधार थे—**'सुयश से जाहिर होना'**, **'भोग विलास में लिप्त रहना'**, और **'बड़ों का अपमान करना।'** उनके विचार से हरिश्चन्द्ररूपी चन्द्रमा में 'सुयश' गुण को छोड़कर अन्तिम दोनों कलंक रूपी अवगुण थे। इसलिए उन्होंने आलंकारिक भाषा में उनके बहु-प्रचलित तथा शास्त्रानुमोदित उपमान इंदु के साथ 'भारत' जोड़कर भारतेंदु की उद्भावना की थी। इस संदर्भ में द्विवेदी जी का यह भी कहना है कि यह उद्भावना **"हँसी या निंदा करने की गरज"** से हुई थी जो **"जमाने के फेर-फार से"** सम्मान-सूचक संबोधन बन गई।[2]

कहते हैं कि शास्त्री जी द्वारा तथाकथित नामकरण किये जाने के अवसर पर कृष्णदेव शरण सिंह 'गोप' और सुधाकर द्विवेदी के साथ हरिश्चन्द्र के अन्य दरबारी भी उपस्थित थे जिन्होंने इस नाम का हँसकर समर्थन किया था। उसी समय द्विवेदी जी ने 'भारतेंदु' की व्याख्या निष्कलंक एवं पुण्यदर्शन **'दूज के चाँद'** के रूप में की, जो सभी को प्रिय लगी। हरिश्चन्द्र ने इस पर प्रसन्नता तथा सहमति व्यक्त की। वे इसे प्रतीक बनाकर अपनी पोथियों पर छापने लगे।[3]

विचारणीय है कि कोप में परिहास अथवा निंदा करने के उद्देश्य से खरी-खोटी सुनाने के बजाय किसी को भारत का इंदु बना देना कहाँ तक प्रासंगिक, संगत और विश्वसनीय है? इसमें सुयश से सर्वविदित तथा लांछित-गुणवान् इंदु का औचित्य तो किसी हद तक सिद्ध हो सकता है परन्तु दूसरे विशेष पद 'भारत' का यहाँ कोई तुक नहीं प्रतीत होता। कुपित

---

[1] शिवनन्दन सहाय : सचित्र हरिश्चन्द्र, पृ० ३२१।
[2] सुधाकर द्विवेदी : राम कहानी।
[3] वही, पृ० २, चन्द्रप्रभा प्रेस, १९०६।

व्यक्ति द्वारा उक्त नामकरण किये जाने का लोगों ने हँसकर समर्थन किया, यह भी असामयिक है। जहाँ तक द्वितीया के चन्द्रमा को प्रतीक रूप में मान्यकर छापने का प्रश्न है, वह नवम्बर, १८७३ (संभावित घटना काल) से जून, १८७४ (हरिश्चन्द्र चन्द्रिका का प्रकाशन-काल) के बीच हरिश्चन्द्र की पोथियों और पत्रों पर दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके अतिरिक्त नामकरण के समय सुधाकर द्विवेदी (जन्म २६ मार्च, १८६०) १४ वर्ष के किशोर थे।[१] आठ वर्ष तक निरक्षर रहकर ९वें वर्ष उन्होंने पढ़ना आरम्भ किया था। इस क्रम में प्रथम वर्ष के बाद ३ वर्ष तक कर्ण रोग से पूर्णतः बधिर होकर वह घर रहे, फिर अध्यापन के लिए बनारस आये थे।[२] इस वय में जब कि वह संस्कृत की निम्न कक्षा के साधारण विद्यार्थी थे, हरिश्चन्द्र जैसे आनरेरी मजिस्ट्रेट, म्यूनिस्पल कमिश्नर, लोकविश्रुत कवि, मान्य लेखक, प्रौढ़ सम्पादक और रईस के दरबार में उनकी उक्त व्याख्या का इतिवृत्त यदि असंभव नहीं तो असामान्य अवश्य है। दूसरी मुख्य बात यह भी है कि भारतेंदु उपाधि के इस मूल का उल्लेख सुधाकर द्विवेदी को छोड़कर हरिश्चन्द्र काल के किसी भी लेखक या कवि ने नहीं किया है। अतः अपुष्ट होने के कारण 'राम कहानी' की भूमिका में लिखी बातों की उपर्युक्त असंगतियों के संदर्भ में दो निष्कर्ष निकलते हैं :

(१) हरिश्चन्द्र के सभासद, मित्र और भारतेंदु मंडल के परवर्ती विशिष्ट लेखकों में होने के कारण सुधाकर द्विवेदी द्वारा उल्लिखित 'भारतेंदु' नामकरण की घटना अविश्वसनीय तो नहीं कही जा सकती, किंतु उसका उद्देश्य हँसी या निंदा करना था, इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। (२) समकालीन लेखकों द्वारा अनुल्लिखित तथा अपुष्ट होने से भारतेंदु उपाधि की सर्वमान्य व्याख्या तथा प्रस्तावना का श्रेय सुधाकर द्विवेदी को नहीं दिया जा सकता। रघुनाथ शास्त्री के कथन का अभिप्राय चाहे हँसी या निंदा करना हो, चाहे व्याजस्तुति करना तो भी जिन कारणों ने उन्हें भारतेंदु नामकरण के लिए प्रेरित किया, वे मूलतः हरिश्चन्द्र रूपी चन्द्रमा में लांछन रूपी 'भोग विलास' और 'बड़ों के अपमान' की प्रवृत्तियाँ ही थीं, अतः वे भी विचारणीय हैं।

'भोग विलास'—रघुनाथ शास्त्री ने हरिश्चन्द्र रूपी 'भारतेंदु' में पहला कलंक भोग विलास बताया था। उधर हरिश्चन्द्र रसिकता का स्रोत मानकर इसे कवि के लिए आवश्यक समझते थे। संपत्तिशाली सेठ घराने में जन्म लेने के कारण सामंती ठाट-बाट और चाल-चलन में उनकी स्वाभाविक रुचि थी। आरम्भ ही से कौतुकप्रिय, भावुक और स्वच्छंद प्रेमी होने से उन्होंने जीवन के भौतिक सुखों को अबाध भोगा था और उसके लिए धन को पानी की भाँति बहाया था। वेश्याओं और उपपत्नियों की संगति वह प्रेरणाप्रद मानते थे।[१]

---

[१] ब्रजरत्नदास : भारतेंदु मंडल, पृ० १३४।

[२] दे० पं० सुधाकर द्विवेदी का संक्षिप्त जीवन चरित्र, पृ० ९, ११, भारत जीवन प्रेस, प्रथम संस्क०, १९११।

[१] वेश्याओं और उपपत्नियों के सहवास संबंधी विवरण के लिए दे० ब्रजरत्नदास : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० १२६; किशोरी लाल गुप्त : भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ० ३४०; राधाचरण गोस्वामी के तत्संबंधी प्रश्न और भारतेन्दु के उत्तर के लिए दे० बनारसीदास चतुर्वेदी : संस्मरण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२, पृ० ३५।

राधाकृष्णदास प्रस्तुत प्रसंग की एक घटना का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—**"एक दिन अपने कुछ अंतरंग मित्रों के साथ बैठ थे और एक बार विलासिनी भी वर्तमान थी। उसने कुछ ऐसे हाव-भाव-कटाक्ष से देखा कि इन्हें कुछ नवीन भाव स्फुरण हुआ और तुरन्त एक कविता बनाई, और उसे उन मित्रों को सुनाकर कहा कि हम इन सबों का सहबास विशेषकर इसीलिये करते हैं। कहिये, यह सच्चा मजमून कैसे लब्ध हो सकता था।"**[1] स्वामी श्रद्धानन्द (१९२६ ई० में मृत) अगस्त, १८७६ की एक घटना का विवरण लिखते हैं—**"भारतेन्दु की संगत में (मेरी) मानसिक पवित्रता का भाव ढीला पड़ने लगा। सामने से कोई सुन्दरी आ रही है और उसको देखते ही उसके शरीर, वस्त्र, चाल-ढाल पर भारतेन्दु जी ने कवित्त कहना आरंभ किया और उसके सामने तक पहुँचने पर पूरा हो गया। कविता का तो यह आदर्श समझा जाता परंतु ब्रह्मचर्य, सदाचार और मानसिक पवित्रता पर कुल्हाड़े की चोट लगाई जाती थी।"**[2]

भारतेन्दु में कलंक के इसी रूप को हरिश्चन्द्र के जीवनी-लेखकों ने 'गुलाब में काँटे' के समान कहा है। किन्तु, भोग विलास सम्बन्धी इस नितांत वैयक्तिक प्रश्न को, नैतिकता की दृष्टि से हेय एवं गर्हित मानते हुए भी न तो परहित विरुद्ध आचरण कहा जा सकता है और न उसे सामंती-संस्कृति की विशेषताओं से परे ही माना जा सकता है। शिवनन्दन सहाय का निष्कर्ष है : **"चन्द्र भी निर्दोष और हमारे हरिश्चन्द्र भी निर्दोष। अब रही लांछना सो वह भासने पर भी केवल आभास मात्र ही है। चन्द्र और हरिश्चन्द्र दोनों ही में लांछना केवल जगदुपकारार्थ है।"**[3] अस्तु, रघुनाथ शास्त्री का भोग विलास रूपी लांछन का आरोप असत्य न होते हुए भी पौराणिक चन्द्र की कामुकता के संदर्भ में रूपक के लिए ही महत्वपूर्ण है, किसी लेखक या कवि से, जब कि वह उसकी लक्ष-सिद्धि में बाधक न होकर साधक हो, उसका प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। व्यभिचार और स्वच्छंद यौनाचार नैतिकता की दृष्टि से हेय भले ही हो किन्तु हरिश्चन्द्र की स्वीकारोक्ति—**'दिवाने सदा सूरत निवानी के'** को तीव्र आलोचना का विषय मानकर उसे उनके जीवन-चरित्र की रचना में प्रधान बाधक समझना भी उचित नहीं है।[4] क्योंकि वे स्वयं अपने इस दुर्गुण को अच्छा नहीं समझते थे।

सच तो यह है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में हरिश्चन्द्र अनुकरणीय तथा आदर्श नहीं थे। उनका मुख्य क्षेत्र हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्यसंबंधी आयोजनों का था। इसमें उनका योगदान अभूतपूर्व तथा विस्मयकर है। अतः आदर्शवादी जीवनी लेखकों के लिये उनकी जीवन-पुस्तक के खुले पृष्ठ बाधक अवश्य हैं और इसके लिए वे विधाता को दोषी बना सकते हैं जिसने **'नभचंद्र को भी कलंकित किया और भारतेन्दु के उज्ज्वल चरित्र को भी कुछ**

---

१ राधाकृष्ण ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० ४११-१२।

२ स्वामी श्रद्धानन्द : कल्याण मार्ग का पथिक, पृ० ३९-४०, ज्ञानमंडल कार्यालय, काशी, प्रथम संस्क०।

३ राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृ० ४११; शिवनन्दन सहाय : सचित्र हरिश्चन्द्र, पृ० २६५, ३२१; ब्रजरत्नदास : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० १२५।

४ पहला, वही।

धब्बा लगा दिया।'[१] इसी प्रकार रघुनाथ शास्त्री के आरोप का लांछन रूपी 'भोगविलास' इंदु का पौराणिक धर्म हो सकता है, भारतेन्दु का नहीं हो सकता। उनका वास्तविक धर्म तो 'बड़ों का अपमान' करना था जिसमें लांछन का व्यंग्यार्थ ढूंढ़ा जा सकता है।

'बड़ों का अपमान'—भोग विलास के बाद लांछन का दूसरा रूप 'बड़ों का अपमान', जहाँ रघुनाथ शास्त्री के तथाकथित आक्रोश का कारण है, वहीं वह प्रकारांतर से भारतेन्दु जैसे रूपक का रहस्य भी उद्घाटित करता है। पहला हरिश्चन्द्र के स्वच्छंद आचरण का प्रतिनिधित्व करता है, दूसरा स्वच्छंद विचार का। असल में भोग विलास रूपी लांछन के समान, **'सज्जनों के मान के कारण', चन्द्रवत् प्रियदर्शन', 'अजातशत्रु'** और **'देश हितैषी'** हरिश्चन्द्र रूपी चन्द्र का यह लांछन भी हित विरुद्ध न था। उन्होंने देश, धर्म, समाज और भाषा के विरोधियों के लिए ही अपमान की नीति अपनायी थी। **"उन्हें गुण से प्रयोजन था, वे सत्य के अनुगामी थे। किसी का क्यों न हो, दोष देखा और मुक्त कंठ से कह दिया, असत्य का लेश आया और पूर्ण विरोधी हुए। हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म और हिन्दू साहित्य इनको परम-प्रिय था।"**[२] इन विषयों में किसी भी बड़े-से-बड़े व्यक्ति को हित विरुद्ध देखकर वह चुप नहीं रह सकते थे। उनकी कटु आलोचना करने में वह कभी नहीं हिचकते थे। पत्रों के सिद्धांत वाक्यों की स्पष्टवादिता के कारण समाज के अनेक वर्गों के लोग उनसे चिढ़ते थे।[३] परन्तु हरिश्चन्द्र ने **'देश और समाज के लिये जो उचित समझा निःसंकोच होकर कह डाला।'**[४] उनकी शिक्षा थी—**"जो जो बातें उन्नतिपथ की काँटा हों, उनकी जड़ खोदकर फेंक दो। कुछ मति डरो। जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जाति से बाहर न निकाल दिये जायेंगे, दरिद्र न हो जायेंगे, कैद न होंगे वरंच जान से न मारे जायेंगे, तब तक कोई देश भी न सुधरेगा।"**[५] सुधार-संस्कार के इसी क्रांतिकारी उद्देश्य के चलते हरिश्चंद्र अपयश के भागी बने, लांछित और कलंकित हुए, क्रिस्तान, नास्तिक और 'डिसलायल' कहे गये, सभी वर्गों के बड़े लोगों के कोपभाजन बने। किंतु उन्होंने 'कौन आदमी कैसा है' इसकी बिना परवाह किये, धर्म, समाज, देश और भाषा के विरोधियों की कटु आलोचना की। उनके व्यंग्य लेखों, विभिन्न संवादों के साथ संपादकीय विचारों, प्रहसनों, नाटकों, सामयिक कविताओं में इस कटुता, तीव्रता और मार्मिकता का स्पष्टीकरण हुआ है। उनमें सभी क्षेत्रों के विरोधियों को कठोर आलोचना का विषय बनाया गया है।

हरिश्चंद्र के सुधार अभियान की गौरवशाली परंपरा का आरंभिक संकेत हमें क० व० सु० जिल्द २ से मिलने लगता है। तब इसका रूप वैधानिक सुधारवाद का था।[६] लेकिन बाद में राजनीति और हिंदी भाषासंबंधी नीति को लेकर उनका प्रारंभिक सुधारवादी स्वर

---

[१] सचित्र हरिश्चन्द्र, पृ० ३२१।

[२] राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृ० ३७२।

[३] वही, पृ० ३५८।

[४] ब्रजरत्नदासः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० १७९.।

[५] रामविलास शर्मा लिखित 'भारतेंदु युग' के पृ० १७९ पर उद्धृत।

[६] कवि वचन सुधा, जिल्द २, नं० १, पृष्ठ २, ७.।

क्रमशः कठोर होता चला गया।[१] आगे क० व० सु०, जिल्द ३, 'हरिश्चंद्र मैगजीन' और 'हरिश्चंद्र चंद्रिका में तो वह राजविरोधी स्वर में बदलकर और भी कटु हो गया। लेखन विधाओं में, चाहे गद्य हो या पद्य, सभी ओर इस प्रवृत्ति का क्रमिक विकास देखा जा सकता है। अक्टूबर, १८७० के 'कवि वचन सुधा' में प्रकाशित, 'लेवी प्राण लेवी' निबंध, १८७३ में लिखित 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन, अक्टूबर, १८७३ के 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में छपे 'यूरोपीय के प्रति भारवर्षीय के प्रश्न' हरिश्चंद्र के राजविरोधी अथवा देश हितैषी स्वर के तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रूपों की प्रारंभिक प्रतिनिधि अभिव्यक्तियाँ हैं। सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से उनकी स्वच्छंद तथा स्पष्ट आलोचना के प्रारंभिक स्तर जुलाई, १८७१ के 'कवि वचन सुधा' तथा नवंबर, १८७३ के 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में प्रकाशित क्रमशः 'सभ्य होने की नई रीति' लेख और 'सबै जाति गोपाल की' निबंध में देखे जा सकते हैं। इन द्विविध स्तरों तथा पक्षों में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से 'बड़ों के अपमान' की प्रवृत्ति अच्छी प्रकार दिखाई पड़ती है। इस प्रकार १८७३ के अंत तक हरिश्चंद्र द्वारा राजनीतिक एवं सामाजिक क्रांति का उग्र रूप प्रकट हो चुका था और इस क्रम में उन्होंने अनेक बड़ों का अपमान किया था। इनमें सुधारवादी, नव शिक्षित, नई सभ्यता के समर्थक, राजकीय अधिकारी पंडित, रूढ़ियों के कट्टर भक्त आदि सभी प्रकार के लोग थे। इनका खुला विरोध करने में जहाँ हरिश्चंद्र का यश चतुर्दिक बढ़ने लगा था, वहीं उनके विरुद्ध बड़े लोगों की प्रतिक्रिया तथा प्रतिशोध की भावना भी स्पष्ट होने लगी। सन् १८७० में ही अपने 'लेवी प्राण लेवी' निबन्ध में उन्होंने लेवी दरबार की जो खिल्ली उड़ाई थी, उसमें एक साथ अनेक बड़ों का अपमान हुआ था। बड़ों में बड़े लेवी साहब के तथाकथित अपमान को लेकर कुछ बड़ों ने हरिश्चंद्र और 'कवि वचन सुधा' के विरुद्ध सरकार में शिकायत तक की थी। इससे हरिश्चंद्र पर राजभय का जो संकट लक्षित हुआ, उसकी प्रतिक्रिया 'कवि वचन सुधा' के अनेक अंकों में प्रकट हुई है।[२] उनसे हरिश्चंद्र की क्रिया और बड़ों की प्रतिक्रिया का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। उन्होंने अपने पत्र-पाठक को, बड़ों के ईर्ष्या-भाव तथा हित की बात को शत्रुतापूर्ण समझने की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण दिया था—**"अपने पाठक जनों से निवेदन करके कहते हैं कि जो विषय इस पत्र में छपता है उससे उनसे (पाठक से) कुछ संबंध नहीं, जो हमारे जी में आता है, हम छापते हैं और हमारी सर्वदा यही इच्छा है कि हमारे देश की वृद्धि होय न कि हम किसी की निन्दा वा स्तुति करते हैं।"**[३] असल में हरिश्चंद्र की आलोचना का मुख्य उद्देश्य देश-हित था और यदि उसमें किसी बड़े की अप्रतिष्ठा होती थी, तो उन्हें उसकी चिंता भी नहीं थी किंतु यह होते हुए भी उन्हें निंदकों

---

[१] दे० क० व० सु०, अक्टूबर, १८७०, पृ० २७ (पटियाला के महाराज…); नवंबर, १८७०, पृ० ४१ (अभी थोड़े दिन हुए…); जनवरी, १८७१ (अवध अखबार…); अप्रैल, १८७१ (जबर्दस्त का ठेंगा सिर पर) की समाचार-टिप्पणियाँ।

[२] दे०, क० व० सु०, जिल्द २, नं० ८, पृ० ५८, ६६; जि० २, नं० ९, पृ० ६६; वही, (प्रेरित पत्र), पृ० ८; जि० २, नं० १४, पृ० १०७।

[३] जिल्द २, नं० १३, पृ० ९६।

के आचरण पर क्षोभ अवश्य होता था। प्रेमयोगिनी नाटक में सूत्रधार के मुख से अपने प्रति जो कुछ कहलवाया है, उससे उनके आहत हृदय की मार्मिक भावना का पता चलता है।[१]

(घ) भारतेंदु उपाधि की प्रेरक शक्तियाँ : दो मुख्य आयाम

(१) सितारेहिंद की प्रतिक्रिया : देश-हित बनाम सरकार-हित—देश-हित के लिए बड़ों का अपमान करने और प्रतिक्रिया-स्वरूप हानि सहने की जिस प्रवृत्ति का विवरण प्रस्तुत हुआ है, उसी क्रम में 'सितारेहिंद' की प्रतिक्रिया भी आती है। यह पहले उपाधि विशेष (स्टार ऑव इण्डिया) के विरोध में प्रकट हुई, फिर उक्त उपाधि से विभूषित व्यक्ति विशेष (राजा शिवप्रसाद) के विरोध-स्वरूप स्पष्ट हुई। आगे चलकर हिंदी लेखकों, कवियों और पत्रकारों द्वारा इसकी अभिव्यक्ति देश तथा हिंदी भाषा विरोधी विशेषण तथा सरकार के अंध-समर्थन, स्वार्थ और चटुकारिता के जनाकांक्षा-विरोधी प्रतीक रूप में होने लगी।[२] सच पूछा जाय तो भारतेंदु कल्पना में सितारेहिंद की प्रतिक्रिया और उक्त उपाधि प्राप्त राजा शिवप्रसाद सी० एस० आई० की प्रतिद्वंद्विता का विशेष महत्व है। इस संदर्भ में भारतेंदु उपाधि के प्रस्तावकों और आलोचकों के मतों से किसी-न-किसी रूप में इसकी पुष्टि होती है कि 'भारतेंदु' 'सितारेहिंद' की प्रतिक्रियात्मक उपलब्धि है। वस्तुतः 'सुयश से जाहिर' हरिश्चंद्र की प्रसिद्धि के सभी आयामों की व्यंजना—चंद्रमा जैसे प्रसिद्ध उपमान के साथ जुड़ी प्रशस्ति काव्यवाली आलंकारिक प्रशंसा और उनकी देश हितैषिता से ऊर्जस्वित हिंदी जनमत की कृतज्ञता का समीकरण—भारतेंदु उपाधि में परिलक्षित है। इसलिए रघुनाथ शास्त्री के भारतेंदु नामकरण-प्रसंग का उद्देश्य 'हँसी या निन्दा' मानना जहाँ उचित नहीं है, वहीं यह

---

[१] प्रेम जोगिनी, भारतेंदु नाटकावली (श्यामसुन्दर दास संपादित) पृ० ७१८।

[२] दे० हरिश्चंद्र चंद्रिका, नवंबर, १८७३, पृ० ३८; हिंदी प्रदीप, सितंबर, १८८१, पृ० २२-२८; वही, जनवरी, १८८२, पृ० ६; वही, फरवरी, १८८३, पृ० २१-२२; भारतेंदु, २२ अप्रैल, १८८३, पृ० ४-५; पीयूष प्रवाह, २५ मार्च, १८८५, पृ० ४; प्रताप नारायण मिश्र ग्रंथावली, भाग १, पृ० १७२, १८७; वही, पृ० २४३, २८८, ३९३; हरिश्चंद्र मैगजीन, नवंबर, १८७३, पृ० ५०, फरवरी, १८७४, पृ० १३३, फरवरी, १८७४, पृ० १५१; हिंदी प्रदीप, सितंबर, १८८२, पृ० २३; क० व० सु०, २१ फरवरी, १८७६, पृ० ९७; हरिश्चंद्र चंद्रिका मो० चं०, दिसंबर १८८१ (कला ८, किरण १०), पृ० २०९-२१०; उचित वक्ता, २४ मार्च, १८८३; प्रताप नारायण मिश्र ग्रंथावली, पृ० ४५; सारसुधानिधि में राजा शिवप्रसाद विरोधी विचार के लिए दे० हिंदी प्रदीप, फ़रवरी, १८८३, पृ० २२; भाषा संबंधी राजा साहब के विरुद्ध लेखों के लिए दे० क० व० सु०, १८ फरवरी, १८७६, पृ० ९४; ६ मार्च, १८७६, पृ० १०५ एवं १०६ पर प्रकाशित प्रेरित पत्र; हरिश्चंद्र मैगजीन में प्रकाशित 'स्वप्न' के अंतर्गत राजा साहब के विचार, अप्रैल, १८७४, पृ० १८९; अन्य प्रकार के विरोधों के लिए दे० माधव मिश्र निबंधमाला (साहित्य भाग), पृ० १०६; प्रेमनारायण टंडन कृत साहित्यकों के संस्मरण, प्रथम संस्क०, पृ० ४; हरिश्चंद्र मैगजीन, १५ फरवरी, १८७४, पृ० १३९, १४०, १९।

भी स्पष्ट हो जाता है कि उसकी उद्भावना के पीछे हरिश्चंद्र की स्टार-विरोधी भावना की जानकारी अवश्य विद्यमान थी क्योंकि उस घटना के पूर्व हरिश्चंद्र की लेखनी से उक्त भावना का स्पष्टीकरण दो बार हो चुका था। २१ जून, १८७२ के 'कवि वचन सुधा' में हरिश्चंद्र ने 'पश्चिमोत्तर देश और पंजाब' शीर्षक लेख में पश्चिमोत्तर प्रदेश के निवासियों को संबोधित करते हुए लिखा है—**"निश्चय ही जब अपने स्वरूप को स्मरण करोगे तब धन्यवाद की चिट्ठियों को या दरबार की कुरसी को बहुत बुरी समझोगे···भला बताओ तो ? वे हाकिमों के धन्यवाद की चिट्ठियों को क्या मधु से चाटोगे या जंत्र बनाकर पहनोगे ? मेरे प्यारे मित्रो ! सलामी बढ़ने पर क्यों चूर हो। वह सलामी का गोला छोड़ो जिससे तुम्हारे देश की मूर्खता और दरिद्रता रूपी बड़े शत्रु जड़ से नाश हो जायँ। दरबार की कुरसियों को मान का कारण न समझो। अपने देश का पूरा हित करके सदा सर्वदा इस देश के लोगों के चित्त और जिह्वा रूपी सिंहासन पर और इतिहास की पुस्तकों की शैया पर और ईश्वर के यहाँ भी (अपने शुद्ध चित्त से देश की उन्नति के कारण होने से) सुख के उच्च पद पर निवास करो और फिर जो तुम इस योग्य हो तो तुम जहाँ बैठ जावोगे वहीं दरबार है। स्टार का पद तुम्हारे मरने पीछे छिन जायेगा पर मेरे प्यारे जो तुम देश के पूरे हितकारी और उसके मार्ग-दर्शक होगे तो जब तक चंद्र सूर्य हैं तब तक तुम 'सन आफ इंडिया' हिन्दुस्तान के सूर्य वा हिंदुस्तान के निष्कलंक चंद्र बने प्रकाशित रहोगे।"**[1]

ध्यान देने योग्य है कि 'हिन्दुस्तान के निष्कलंक चन्द्र' की उद्भावना 'स्टार' के जोड़-तोड़ में की गई है और उसे देश-हित तथा जन-हित का वास्तविक स्थायी पुरस्कार माना गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'स्टार' की स्पर्द्धा तथा तुलना में हिंदुस्तान के निष्कलंक चन्द्र की कल्पना तथा व्याख्या सर्वप्रथम स्वयं हरिश्चन्द्र ने ही की थी। अपनी इस पहली प्रतिक्रिया में उन्होंने सरकार-हित और सरकारी सम्मान तथा देश-हित (प्रजा-हित) और जन सम्मान के दो विरोधी प्रतीकों—स्टार (भारत नक्षत्र=सितारेहिन्द) और हिन्दुस्तान के निष्कलंक चन्द्र (भारतेन्दु) का पूरा-पूरा आभास दे दिया है। अतः रघुनाथ शास्त्री के भारतेन्दु नामकरण के स्वयंभू संशोधक सुधाकर द्विवेदी द्वारा कलंकरहित एवं पुण्य-दर्शन 'दुइज के चाँद' की उद्भावना सच मान लेने पर भी ऐतिहासिक दृष्टि से गौण हो जाती है।

रघुनाथ शास्त्री के पूर्व हरिश्चन्द्र ने स्टार विरोधी प्रतिक्रिया दूसरी बार अपने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन में (१८७३) यमराज और चित्रगुप्त के कथोपकथन द्वारा व्यक्त कराई है।[2] इसमें चित्रगुप्त ने एक अधर्मी और स्वार्थी राजा को, अंग्रेजों के चित्रानुसार उदारता दिखाने के फलस्वरूप, 'स्टार ऑव इंडिया' की पदवी से पुरस्कृत होने की जो सूचना यमराज को दी है, उसके माध्यम से हरिश्चन्द्र ने उक्त उपाधि तथा उक्त उपाधि प्राप्त राजा शिवप्रसाद के प्रति अपना विरोधी विचार व्यक्त किया है। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के संदर्भ में दो मुख्य बातें भली-भाँति विदित हो जाती हैं—(१) रघुनाथ जी की भारतेन्दु कल्पना तथा नामकरण की मूल प्रेरणा हरिश्चन्द्र की स्टार विरोधी प्रतिक्रिया और

---

[1] क० व० सु०, २१ जून, १८७२, पृ० १६९।

[2] वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (चतुर्थ अंक) पृ० ३८५, भारतेन्दु नाटकावली (श्यामसुन्दर दास संपादित) १९२७।

'हिन्दुस्तान के निष्कलंक चन्द्र' जैसी उद्भावना की जानकारी से मिली थी। (२) उनका उद्देश्य हँसी या निन्दा करना नहीं बल्कि गुणग्राही, देशहितैषी और स्वाभिमानी हरिश्चन्द्र की व्याज-स्तुति करना था।

हरिश्चन्द्र न सरकार-हित तथा देश-हित के परस्पर विरोधी प्रतीकों—सितारेहिन्द (स्टार ऑव इंडिया) और 'हिन्दुस्तान के निष्कलंक चन्द्र' (मून ऑव इंडिया) की योजना द्वारा अपनी जो प्रतिक्रिया व्यक्त की थी, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की प्रतिद्वंद्विता के कारण तीव्र से तीव्रतर होती गयी। राजा साहब अपने जिन गुणों और सिद्धांतों के कारण ब्रिटिश सरकार के असाधारण पद-सम्मान और उपाधि के अधिकारी बने, हरिश्चन्द्र उनके विपरीत जन-भावना के प्रतिनिधि-स्वरूप, उन सभी क्षेत्रों तक लोकप्रिय हो गये थे जिनमें देशभक्ति समन्वित राजभक्ति (राष्ट्रीयता) तथा लोकहित की प्रवृत्तियाँ (सुधारवाद) एक साथ उभर रही थीं। इधर अंग्रेज अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता और विक्टोरिया के प्रसिद्ध घोषणापत्र के विपरीत उनकी गतिविधियाँ, शासितों में शासक और उसकी नीति के प्रति संदेह तथा असंतोष उत्पन्न करने में सहायक हो रही थीं। फलतः प्रबुद्ध भारतीयों में सरकारी सम्मान और सरकार के विश्वासपात्र व्यक्ति दोनों के प्रति अनास्था होने लगी थी। हरिश्चन्द्र का स्पष्ट रूप से यह लिखना कि स्टार की पदवी लोक तथा धर्म-विरोधी व्यक्तियों को भी, अधिकारियों की रुचि के अनुसार आचरण करने मात्र से सुलभ हो जाती है, अंग्रेज हाकिमों के प्रति घोर अनास्था, उनके पोषकों के प्रति अविश्वास और उनका राजनीति के प्रति असंतोष प्रकट करता है।

इतना होने पर भी 'स्टार ऑव इंडिया' की उपाधि बहुत बड़ी प्रतिष्ठा थी। इसलिए जनता अपने हितैषी हरिश्चन्द्र को उससे सम्मानित देखना चाहती थी। किन्तु सरकारी अफसरों की नीति, राजा शिवप्रसाद की ईर्ष्या और स्वयं हरिश्चन्द्र के व्यंग-प्रहार की प्रवृत्ति के कारण वह उन्हें सुलभ न हो सकी। दरबारदारी न करने तथा हाकिमों से सम्बन्ध छूट जाने के कारण[1] इसकी संभावना ही समाप्त हो गई। अतः हरिश्चन्द्र के समर्थकों में स्टार विरोध की प्रवृत्ति बढ़ने लगी और वे इस विषय में निराश हो गये। निराशा के कारण उनका 'सितारेहिन्द' के प्रति असंतुष्ट हो उठना स्वाभाविक ही था।[2] आगे चलकर १८८० में यह असंतोष इतना प्रबल हो गया कि 'राजा साहब को चिढ़ाने' तथा हरिश्चन्द्र के प्रति सरकार की उपेक्षा को उपेक्षित करने के लिए 'सर्वसाधारण की ओर से' भारतेन्दु उपाधि प्रस्तावित हुई। इस संदर्भ में श्यामसुन्दर दास का निष्कर्ष है कि **"भारतेन्दु शब्द ही इस बात को सिद्ध करने के लिए यथेष्ट है कि इस उपाधि का आयोजन राजा साहब की प्रतिद्वंद्विता के कारण हुआ था। वे तो केवल हिंद के सितारे हुए और इन्हें भारतवर्ष का इंदु बनाने का प्रयास किया गया।"**[3] असल में, यदि राजा शिवप्रसाद इनके मार्ग में बाधक न होते तो ये 'सितारेहिन्द' की स्पर्द्धा में भारतेन्दु न बन पाते।[4] 'सारसुधानिधि' में

---

[1] क० व० सु०, ४ दिसम्बर, १८७६, पृ० ३-४ (एक समाचार लेखक का मत)।

[2] वही, २७ अगस्त, १८७७, पृ० ७।

[3] श्यामसुन्दरदास : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ६९।

[4] राधाकृष्ण ग्रंथावली, पहला खंड, पृ० ३६९।

प्रकाशित 'एक देश हितैती' के प्रेरित पत्र में भी प्रतिद्वंद्विता के इन्हीं भावों की प्रतिष्ठा के साथ भारतेन्दु उपाधि का प्रस्ताव किया गया था।[१] यही प्रतिद्वंद्विता तथा प्रतिक्रिया सुधाकर द्विवेदी ने 'राम कहानी' की भूमिका में व्यक्त की थी।[२] इन संदर्भों से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि सरकार द्वारा हरिश्चन्द्र को उक्त पदवी न दिये जाने की जन-प्रतिक्रिया तब और प्रबल हो उठी जब राजा शिवप्रसाद जैसे 'खुशामदी और निटेसि (नेटिव) फारसी टट्टू' को 'स्टार ऑव इंडिया' से सम्मानित किया गया। १८७० से १८८० के बीच हरिश्चन्द्र-समर्थक लेखक तथा पत्रकार उन्हें उक्त उपाधि से अलंकृत किये जाने के लिए आंदोलन करते आ रहे थे। किन्तु शासक वर्ग ने उनके समर्थन और प्रस्ताव की भरपूर उपेक्षा की। 'सारसुधानिधि' के प्रस्ताव-काल तक सरकारी उपेक्षा नीति की भर्त्सना आरम्भ हो गई थी। हिन्दी पत्रों में जनमत की प्रबल आकांक्षा का पता 'उचित वक्ता' की इस संपादकीय टिप्पणी से लगता है :

"बाबू हरिश्चंद्र ! आजकल उक्त महाशय को गवर्नमेंट से सम्मान सूचक उपाधि प्राप्त होने के लिये कई एक हिंदी के पत्रों ने संमति प्रकाश की है। हम लोगों को भी तीन चार योग्य महाशयों के प्रेरित पत्र आये हैं जिनको स्थानाभाव से छाप नहीं सके। उन पत्रों का आशय भी यही है कि उक्त बाबू साहब को गवर्नमेंट से उक्त उपाधि मिलनी चाहिए। हम लोग भी इस बात को सम्पूर्ण रूप से अनुमोदन करते हैं, और आशा करते हैं कि गवर्नमेंट इस विषय में शीघ्र ध्यान देगी। इस समय सभी हिंदी पत्र संपादकों को उचित है कि इस विषय को गवर्नमेंट के निकट सूचित करें कि जिससे शीघ्र ही यह सदकार्य सम्पन्न हो।"[३]

किंतु हिंदी लोक-न्यायालय के निवेदन तथा हिंदी जनमत के समर्थन द्वारा सरकार को विवश अथवा तत्पर करने की हिंदी पत्रकार-लेखकों की योजना पूर्णतः विफल रही। सरकार ने उनकी नितांत अवहेलना की। ऐसी स्थिति में जिस खीझ के साथ पत्र-संपादकों ने 'भारतेंदु' जैसी गैर-सरकारी उपाधि का प्रस्ताव तथा अनुमोदन किया, उससे सरकारी नीति और अधिकारियों की प्रवृत्ति के विरुद्ध लोकमत के असंतोष और संघर्ष का अनुमान किया जा सकता है। वैसे हिंदी समर्थकों में स्टारवादी वर्ग की आकांक्षा के अनुरूप हरिश्चंद्र को उक्त उपाधि किस सीमा तक स्वीकार थी; इसे ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। लेकिन जिस प्रकार 'भारतेंदु' प्रस्ताव के प्रति उन्होंने कहीं कोई प्रतिवाद या समर्थन नहीं किया, उसी प्रकार स्टारवादियों के प्रति न तो उनका खुला समर्थन ही मिलता है, न विरोध बल्कि देश हित के आवेश में उनकी सितारे हिंद संबंधी भर्त्सनाएँ और कटूक्तियाँ यह प्रमाणित करती हैं कि वह अपने को सरकारी 'पद' के योग्य नहीं बना सके—हाकिमों की आलोचना अथवा 'बड़ों की निंदा' में प्रवृत्त रहने, देश हित के लिये हानि तथा अपयश उठाने, 'लाख का घर खाक कर' मुक्तहस्त से गुणियों का सम्मान करने और हिंदी तथा हिंदी साहित्य के उत्थान के लिए अपने लघु-जीवन की प्रत्येक साँस गिन देनेवाले हरिश्चंद्र को इस सम्मान की न तो आकांक्षा थी, न उनमें तदनुरूप आवश्यक योग्यता ही थी। स्टारवादी पत्र-संपादकों

---

[१] सारसुधानिधि, २७ सितंबर, १८८०, पृ० २९८-२९९।

[२] सुधाकर द्विवेदी : राम कहानी (भूमिका) पृ० २।

[३] उचित वक्ता, ६ नवंबर, १८८०।

को फटकारते हुए बालकृष्ण भट्ट ने इस प्रसंग में अपने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे उपर्युक्त तथ्य को पूर्णतः प्रमाणित कर देते हैं। वह 'अखबारवालों की नासमझी' शीर्षक लेख में लिखते हैं :

"इन दिनों हिंदी के अखबार वाले इस बात का निवेदन सरकार से कर रहे हैं कि बाबू हरिश्चंद्र को एक बड़े से बड़ा जिसमें पाँच गज का पुछल्ला लगा हो ऐसा कोई खिताब मिलना चाहिए। छिः एक बारगी कुँआ में भाँग पड़ गई···बाबू हरिश्चंद्र ने कब झूठी लल्लो-पत्तो के लिये सरकार की हाँ में हाँ मिलाया है जो खिताब दिया जाय बल्कि जब कभी मौका पड़ा है तब सच्ची देशहितैषिता के उदगार में पूरित हो 'हितंमनोहारि च दुर्लभं वचः' इस सिद्धांत के अनुसार सरकार के वादी ही हो उठेंगे। तब फिर 'किस बिढ़ते पर तत्ता पानी कौने गुन्ना हुर।' बिना हाकिमों तक रसाई पैदा किये, बिना कौड़ी के लिये मस्जिद ढहाये, अपनी थोड़ी सी खैरख्वाही के लिये देश का देश बिना धूर में मिलाये, गौर-वर्ण के बिना दासानुदास बने···कभी किसी को खिताब मिला है? हमारी जान तो शहनाई का बजाना और बहुरी का चबाना दोनों एक साथ असंभव और असमंजस-सा प्रतीत होता है। कूँड़ी के इस पार या उस पार, या तो सरकार ही की ओर से सुर्खुरुई लूट ले या वतन दोस्त बने···जिस दिन हमें इतनी समझ आ जायेगी कि देश के हित साधन के मुकाबले राजसम्मान कुछ पदार्थ नहीं है उसी दिन से हमारे शुभ दिन का आरंभ होने लगेगा।"[१]

इस प्रकार जैसा कि कहा जा चुका है, राजसम्मान के विरुद्ध संपादकों और लेखकों की प्रतिक्रिया केवल 'स्टार' तक सीमित नहीं रही, बल्कि राजा शिवप्रसाद की प्रबल प्रति-द्वंद्विता के रूप में प्रकट हुई। यह प्रतिद्वंद्विता मुख्यतः हिंदी भाषा की समस्या से संबंधित थी। सितारेहिंद उपाधि से राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' व्यक्ति तक, देश हित के प्रश्न पर जिन तीन परस्पर पूरक तत्वों—हिन्दुस्तान (देश), हिंदुत्व (धर्म) और हिंदी (भाषा) के उद्धार तथा हित को लेकर विरोध प्रकट हुआ, उसमें मुख्य रूप से हिंदी के प्रश्न पर एक स्फूर्तिपूर्ण स्पर्द्धा खड़ी हो गई, जिसने हिंदी साहित्य के इतिहास में हरिश्चंद्र को भारतेंदु के रूप में अमर कर दिया। यह सितारेहिंद की प्रतिक्रिया का द्वितीय आयाम था।

'सितारेहिंद' की प्रतिक्रिया का द्वितीय आयाम : हिंदुस्तानी बनाम हिंदी

सर विलियम म्योर के समय ब्रिटिश सरकार की अशेष सेवा और राजभक्ति के पुरस्कार-स्वरूप २८ मई, १८७० को शिवप्रसाद (१८२३-१८९५) सी० एस० आई० (कम्पेनियन ऑव द मोस्ट एग्ज़ाल्टेड आर्डर ऑव द स्टार ऑव इंडिया) अथवा सितारेहिंद (=भारत नक्षत्र) की उपाधि से सम्मानित किये गये थे।[२] मार्च, १८७४ में इन्हें 'राजा'

---

[१] हिंदी प्रदीप, दिसंबर, १८८०, पृ० १२-१३।

[२] शिवप्रसाद : सवानह उमरी (उर्दू) पृ० ९९, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १८९४; सी० ई० बकलैंड : डिक्शनरी ऑव इंडियन बायोग्राफी पृ० ३९१। ब्रजरत्नदास कृत भारतेंदु मंडल, पृ० १८० और श्यामसुन्दर दास कृत हिंदी के निर्माता, भाग १ में दी हुई तिथियाँ गलत हैं।

की पदवी भी दी गई जो फरवरी, १८८७ से वंश परंपरा के लिए मान्य हो गई।[१] सन् १८५६ के प्रारंभ में ये पश्चिमोत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग में ज्वाइंट इंस्पेक्टर नियुक्त हुए थे, फिर बनारस और इलाहाबाद कमिश्नरियों के इंस्पेक्टर बनाये गये। सन् १८४५ में अंग्रेज सरकार की सेवा में आने के बाद ये दिनों-दिन अंग्रेज अधिकारियों के विश्वासपात्र होते गये। अंग्रेजों का कृपापात्र बनने के लिए इन्होंने वह सेवा और भक्ति प्रदर्शित की, जिससे ये सबकी ओर से बुरे बने परंतु अपने अंग्रेज प्रभुओं का पक्ष निबाहा।[२] इनकी इस असाधारण समुन्नति की शक्तियाँ थीं : अंग्रेज अधिकारियों के प्रति अनन्य भक्ति, विभागीय अनुशासन के अनुसार अपने उचित तथा स्वतंत्र विचारों के विरुद्ध अंग्रेजी नीति के समर्थन की प्रवृत्ति और शासकवर्ग के हित साधन में लोक हित की उपेक्षा करने तथा परिणाम स्वरूप लोगों के आक्षेप तथा निंदा से अप्रभावित एवं अपरिवर्तित रह जाने की क्षमता। फ्रेडरिक पिंकाट के मतानुसार ये अंग्रेज अधिकारियों की रुचि को सर्वोपरि समझने और तदनुकूल आचरण करने में निष्णात थे।[३] तथा **'निरा दास्य भाव रख हाकिमों की हाँ में हाँ मिलाते, अपने बुद्धिपाटव की संपूर्ण कुटिलता स्वार्थ साधन में लगाते, इस पद को प्राप्त हुए थे।"**[४] ब्रिटिश सरकार के पूर्ण भारतीय प्रतिनिधि होने से ये अंग्रेज अधिकारियों में प्रख्यात और भारतीय जनता में कुख्यात हो गये थे। अपने अधिकारियों से स्वार्थवश अत्यधिक दबने और पद-सम्मान को आवश्यकता से अधिक महत्व देने के कारण ये भारतीयों में निंदित हुए,[५] खुशामद की अति से इनका सितारा ही उलट गया।[६] अंग्रेज प्रभुओं की नीति का अंध-पोषण करते हुये इन्होंने हिंदी जनमत का तिरस्कार और हिंदू-पद्धति एवं मान्यता पर प्रहार भी किया। इतिहास तिमिर नाशक, भाग ३ के कुछ अंशों को आपत्तिजनक बताते हुये 'ऐन आर्थोडॉक्स हिंदू ऑव काशी' लिखते हैं :

हमें दुःख है कि बाबू शिवप्रसाद का एक ऐसा दोष है जो उनके लोकप्रिय लेखक बनने में बड़ा बाधक है। वह ईसाई मिश्नरी लेखकों की भाँति हिंदू धर्म-संस्थाओं का उल्लेख, हिंदुओं को अखरनेवाले ढंग से करते हैं। अपने देशवासियों को आप उपदेश भले ही दें परंतु उसका ढंग शालीन तथा प्रेमपरक होना चाहिए, उपहास और अपशब्द परक नहीं।[७]

जनमत की उपेक्षा करने के कारण, पाश्चात्ताप करने पर भी राजा साहब जनता के विश्वासपात्र नहीं बन पाये। इसका कारण कदाचित् यही था कि वे युग-गति के सच्चे

---

[१] श्यामसुन्दर दास : हिंदी के निर्माता, प्रथम भाग (सरस्वती सिरीज़), पृ० २; सी० ई० बकलैंड : डिक्शनरी ऑव इंडियन बायोग्राफी, पृ० ३९१।
[२] प्रथम, वही।
[३] भारतेंदु कृत 'हिंदी भाषा' में उद्धृत।
[४] हिंदी प्रदीप, जनवरी, १८८२, पृ० ६।
[५] ब्रजरत्नदास : भारतेंदु मंडल, पृ० १८०।
[६] पीयूष प्रवाह, मार्च, १८८५, पृ० ४।
[७] हरिश्चंद्र मैगजीन, १५ फरवरी, १८७४, पृ० १५१।

पारखी नहीं थे जिसमें राजभक्ति समन्वित राष्ट्रीय-चेतना तथा नवजागरण और सुधारवाद के माध्यम से देशहित की भावना का क्रमशः विकास हो रहा था।

इसके विपरीत हरिश्चंद्र ने बंगाल से आयात हो रही नव चेतना को पहचाना और हृदयंगम किया था। वह उच्च कोटि की प्रतिभा, देश-सेवा की उत्कट इच्छा, अदम्य उत्साह, निर्भीकता, स्वच्छंद विचार, आकर्षक व्यक्तित्व और विपुल धन-संपत्ति के आधार पर सामने आये थे। 'सितारेहिंद' पदवी दी जाने के समय (सन् १८७०) शिवप्रसाद जी के समानांतर वह अपने गुण तथा कार्यों से पर्याप्त लोकप्रिय हो चले थे, शासक और शासित दोनों में उनका सम्मान बढ़ने लगा था। १६-१७ वर्ष की अवस्था में ही (१८६६-१८७१) उन्होंने शिक्षा-प्रसार और मातृभाषा के उद्धार को देश हित का मूल तत्व मानकर, विविध अनुष्ठानों द्वारा अपने सामाजिक तथा साहित्यिक जीवन का शुभारम्भ कर दिया था। यह शुभारंभ उनके हिंदी-उद्धार-व्रत की पृष्ठभूमि बना। इस क्रम में सर्वप्रथम उन्होंने प्राचीन हिंदी साहित्य के प्रकाशन तथा अमूल्य वितरण पर हाथ लगाया। लाखों रुपये मूल्य की पुस्तकें बाँटी। इससे हिंदी-प्रेमियों की सृष्टि हुई और हिंदी लेखकों तथा पाठकों की संख्या बढ़ी।[१] हित-हित के आयोजनों में उत्साह दिखाने के अतिरिक्त सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, राजनीतिक और साहित्यिक सुधारसंबंधी गतिविधियों को संचालित करने, मुक्त हस्त होकर कवियों, लेखकों, गुणियों और विद्वानों को प्रकाशित, प्रोत्साहित, संरक्षित और सम्मानित करने तथा भाषा, समाज और देश का पक्ष लेने से १८७०-१८७१ तक काशी के आस-पास हरिश्चंद्र की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी थी।[२] इससे आकृष्ट होकर सभी प्रकार के कलाकार, विद्वान् और साहित्यिक उनके निकट आने लगे थे। लघु वय में वह आनरेरी मजिस्ट्रेट और म्युनिस्पल कमिश्नर बनाये गये। तात्पर्य यह है कि शिवप्रसाद के 'सितारेहिंद' पदवी से विभूषित होने के समय तक हरिश्चंद्र राज-समाज, शिक्षित, पंडित, लेखक, पत्रकार, कवि और सामान्य प्रजा वर्ग में उचित सम्मान तथा पद प्राप्त करने लगे थे।

गुण तथा क्रिया के समान राजा साहब और हरिश्चंद्र की लोकप्रियता में भी अंतर था। एक की गति सरकार से लोक की ओर थी और दूसरे की लोक से सरकार की ओर। दोनों व्यक्तियों में उद्देश्य को लेकर जो भारी अंतर था उसका कारण उनके दृष्टिकोणों की भिन्नता ही थी। फलतः उनकी क्रियाएँ और निष्पत्तियाँ भी परस्पर विपरीत थीं। 'प्रेमघन' का कथन है कि **"राजा साहब यदि कंजर्वेटिव थे तो बाबू साहब लिबरल, वे सदैव राजा के पक्षपाती थे तो ये प्रजा के, वे यदि अपनी उन्नति को प्रधान समझते थे तो ये देश और जाति की उन्नति को। इसी से उनसे इनसे क्रमशः वैमनस्य भी बढ़ा। उन्होंने इनकी वृद्धि में बड़ी हानि की और उन्होंने उन्हें देश की आँखों से गिरा दिया।"**[३]

उद्देश्य तथा प्रवृत्ति की दृष्टि से परस्पर विरोधी होते हुए भी विक्टोरिया के शासन काल में बनारस की सभी प्रकार की बौद्धिक हलचलों का इतिहास मुख्य रूप से ये ही दोनों

[१] राधाकृष्ण ग्रंथावली, पहला खंड, पृ० ३५९।

[२] ब्रजरत्नदास : भारतेंदु हरिश्चंद्र, पृ० ८३-८८, ९७-१००; शिवनंदन सहाय : सचित्र भारतेंदु, पृ० ६२-६४, ३२२-३३०, ८८।

[३] प्रेमघन सर्वस्व, दूसरा भाग, पृ० ४११।

व्यक्ति बना रहे थे। इन दोनों की गतिविधियाँ समय-सापेक्ष थीं। इन्होंने सभा-समितियों का संगठन-संचालन उन विवादों के लिए किया था, जो उस समय की चलन या फैशन बन गये थे।[१] धर्म-दर्शन की रूढ़ियों, धर्म-नियम तथा हिन्दू तर्क-शास्त्र के सिद्धान्तों की आलोचना के लिए समाजों का निर्माण किया था। रहन-सहन में महत्वपूर्ण परिवर्तन के लिए गोष्ठियाँ आयोजित की थीं।[२] ग्रियर्सन का मत है कि शिवप्रसाद और हरिश्चंद्र ने (हिन्दुस्तान पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध) की मनीषा तथा बौद्धिक प्रतिभा के हित में अतुलनीय योगदान किया था। क्योंकि उनका दृष्टिकोण पुराणपंथियों जैसा संकीर्ण न होकर अधिक विस्तृत तथा उदार था।[३] लेकिन १९ वीं शताब्दी के ७ वें दशक के अंत से ही काशी के सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में हरिश्चन्द्र की गतिविधियाँ जन-सम्मत होने के साथ शिवप्रसाद की स्पर्द्धा में स्पष्ट हो चुकी थीं। उस समय तक राजा साहब यश, पद और सम्मान की दृष्टि से असाधारण व्यक्ति बन चुके थे। तो भी उनके विरुद्ध एक विरोधी वातावरण बनने लगा था। हरिश्चन्द्र ने बनारस के शिक्षित समुदाय में राजा साहब के विरुद्ध बढ़ते हुए असंतोष का लाभ उठाकर अपने व्यक्तित्व का विकास किया और कुछ ही समय में वह इन्हें हर क्षेत्र से चुनौती देने लगे। वैसे, जहाँ तक राजा साहब की शैक्षणिक योग्यता का प्रश्न है, हरिश्चन्द्र से इनकी श्रेष्ठता असंदिग्ध है। इस क्षेत्र में दोनों की कोई बराबरी नहीं थी। किंतु राजा साहब अपनी प्रवृत्तियों से लाचार थे, उन्होंने लोक हित और लोकमत की उपेक्षा तो की ही थी, उल्टे शासक जाति के ज्ञान-विज्ञान के भारतीयता-विरोधी स्वर को भी अपना लिया था जो हिन्दू-धर्म और भाषा के समर्थकों, विशेषकर बनारस कालेज के पंडितों और सरकारी पाठशाला के अध्यापकों को खलता था। अतः निर्विवाद रूप से अपने समय का महान् शिक्षाशास्त्री होने पर भी उनकी इस प्रगतिशीलता का यह परिणाम हुआ कि काशी तथा आस-पास के शिक्षितों में शिवप्रसाद विरोधी वातावरण बनने लगा था। हरिश्चन्द्र ने इस विरोध को पहचाना और क्रमशः विभिन्न पत्रों के संपादक, गद्य लेखक ओर हिन्दी समर्थक के रूप में वे राजा साहब की सर्वमान्यता के सामने प्रश्न चिह्न बन कर खड़े हो गये और नयी पीढ़ी के इस नये नेता ने पानी के समान धन बहा कर हिंदी-प्रदेश के शिक्षित समुदाय को अपने समर्थन के लिए बाध्य कर दिया।

हरिश्चन्द्र की यह लोकप्रियता और अपने विरुद्ध आचरण की प्रवृत्ति राजा साहब को असहनीय थी। उनका हृदय अपने सामने के एक छोकरे की उन्नति से जल उठा।[४]

---

[१] डी० एस० शर्मा : हिंदुइज्म थ्रू द एजेज़, पृ० ६४, भारती विद्या भवन, १९५६; आचाय जावड़ेकर : आधुनिक भारत (अनु० हरिभाऊ उपाध्याय) पृ० ५७, सस्ता साहित्य मंडल, १९५४; ल० सा० वार्ष्णेय : आधुनिक हिंदी साहित्य, पृ० ८१-८८ (तृतीय संस्क०)।

[२] कवि वचन सुधा, जि० २, नं० ८, पृ० ६७।

[३] जार्ज ए० ग्रियर्सन : द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान, पृ० १०८।

[४] राधाकृष्ण ग्रंथावली, पहला खंड, पृ० ३६७-६८।

उन्हें एक तो **पराये के उत्कर्ष को न सहकर अपने सम्मान को सर्वोपरि झलकाने की वासना थी'**, दूसरे **'उनका हृदय परोपकारिताशून्य था'**।[१] अतः वह हरिश्चन्द्र के प्रति क्रोध तथा इर्ष्या से भर उठे। जब १ नवम्बर, १८७० के लेवी दरबार को लेकर हरिश्चंद्र ने अपना प्रसिद्ध लेख लिखा तो उन्हें प्रतिशोध का अवसर सहज ही मिल गया। कहते हैं कि इसके तत्काल बाद उन पर राजकीय संकट और राज विरोधी के रूप में उनकी कुख्याति के कारण राजा साहब ही थे।[२]

किंतु राजा साहब और हरिश्चन्द्र के बीच स्थायी विरोध का मूल कारण कुछ और था। बात यह है कि राजा साहब की सबसे बड़ी उपलब्धि थी हिंदुस्तानी। इसे लोकप्रिय बनाने के अपने अथक प्रयत्नों के लिए वह परम विख्यात थे।[३] हरिश्चन्द्र ने सबसे पहले 'हिन्दुस्तानी को अस्वीकार कर मूल पर ही कुठाराघात किया था। जब सन् १८६८-६९ में हिंदी को अदालत की भाषा बनाने का आंदोलन चला तो हरिश्चन्द्र ने नागरी लिपि और हिन्दी भाषा का सक्रिय समर्थन किया, तब राजा साहब का हठ था कि भाषा उर्दू रहे, केवल लिपि नागरी हो। लेख प्रणाली की भिन्नता और हिन्दुस्तानी के लिए हठ के कारण उस समय उक्त आन्दोलन का कुछ परिणाम न निकला, किंतु भाषा के प्रश्न पर दोनों में विरोध-भाव अवश्य उत्पन्न हो गया। गुरु से शिष्य की आरंभिक प्रतिद्वंद्विता की अभिव्यक्ति इसी प्रश्न को लेकर हुई, जो हिंदी साहित्य में हरिश्चन्द्र की महत्ता का मूलाधार बनी।

हिंदी के निर्माण तथा प्रचार-प्रसार के क्रम में हरिश्चन्द्र को सर्व प्रथम उसके व्यावहारिक तथा लोकप्रिय रूप की प्रस्तुति म सफलता मिली थी। फलतः पाठ्य-पुस्तकों तथा शिक्षा विभागीय पत्रों को छोड़कर राजा साहब की हिन्दुस्तानी सर्वत्र उपेक्षित होने लगी। राजा साहब इसे सहन नहीं कर सकते थे, अतः हिंदी को रोकने और हिन्दुस्तानी को चलाने के लिए वह हाकिमों की शरण में गये।[४] इस प्रकार 'सितारेहिंद' अपने प्रतिशोधपरक षड्यंत्र में ज्यों-ज्यों सक्रिय होते गये, त्यों-त्यों हरिश्चंद्र हिंदी की प्रतिष्ठा, हिन्दुस्तानी का विरोध और राजा साहब की स्वार्थपरायणता का भंडाफोड़ करते गये। किंतु इस क्रिया-प्रतिक्रिया के अंतर्गत, हिंदी के विकास में हिन्दुस्तानी का महत्व कम नहीं है। क्योंकि हिंदी के पक्ष समर्थन की प्रतिक्रिया जहाँ उर्दू समर्थकों के व्यापक विरोध के कारण गतिशील होती गई है, वहीं हिन्दुस्तानी के कारण उत्पन्न भाषासंबंधी स्फूर्तिपूर्ण विवाद[५] द्वारा नागरी हिन्दी के विकास की नूतन संभावनाओं का द्वार उन्मुक्त होता गया है। पुनः जब हिन्दुस्तानी-हिन्दी विवाद को लेकर हरिश्चंद्र ने अपने साहित्यिक जीवन का

---

[१] शिवनंदन सहाय : सचित्र हरिश्चंद्र, पृ० ३६५-६७; राधाकृष्ण ग्रंथावली, पहला खंड, पृ० ३६८-६९।

[२] दूसरा, वही, पृ० ३६८-६९।

[३] गियर्सन : द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान, पृ० १४८।

[४] क० द० सु०, ३० अगस्त, १८७१, पृ० १० पर प्रकाशित पत्र देखिए।

[५] ग्रियर्सन : द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान, पृ० १४८।

आरंभ किया और रचनात्मक प्रतिभा द्वारा 'साधु हिंदी' की प्रतिष्ठा की, तब 'सितारेहिंद' की हिन्दुस्तानी का पक्ष स्वतः निर्बल हो गया, यहाँ तक कि कुछ ही दिनों में उसका अस्तित्व ही संकटापन्न हो गया। हरिश्चंद्र के प्रयत्नों से हिंदी राजा शिवप्रसाद से भी आगे बढ़ गई और देखते-देखते सर्वत्र छा गई। 'सितारेहिंद' को 'भारतेंदु' ने मात कर दिया।[१]

हरिश्चन्द्र के पूर्व राजा साहब की 'आमफ़हम' और 'खास पसंद' भाषा का विरोध, जिसे वे 'हिन्दुस्तानी' कहते थे और जो अरबी-फारसी के शब्दों तथा प्रयोगों से लदी नागरी लिपि में उर्दू का प्रतिनिधित्व करती थी, राजा लक्ष्मण सिंह ने किया था। इन्होंने अपनी 'न्यारी हिंदी' से अरबी-फारबी के शब्दों का बहिष्कार कर एवं उसके स्थान पर संस्कृत के तत्सम तथा रस-सिद्ध शब्दों की भरती कर 'असली हिंदी' का नमूना खड़ा किया था। इन दोनों राजाओं के भाषा सिद्धांतों में, परस्पर-विरोधी दृष्टिकोण के कारण घोर अतिवादिता थी। एक की प्रतिज्ञा थी कि **"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए जो आमफहम और खास पसंद हों···और हर्गिज गैरमुल्क के जबान काम में न लाने चाहिए और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नये नये ऊपरी शब्दों के सिक्के चलाने चाहिए"**[२] इसलिये **"हमने जहाँ तक बन पड़ा है बैताल पचीसी की चाल पर** (भूगोल हस्ता-मलक की भाषा को) **रखा और इससे यह लाभ देखा कि पारसी शब्दों के जानने से लड़कों की बोलचाल सुधर जायगी और उर्दू भी जो अब इस देश की मुख्य भाषा है, सीखनी सुगम पड़ेगी।"**[३] क्योंकि **"कचहरियों की भाषा होने से उर्दू अब तो हमारी मातृभाषा हो गई है।"**[४] इसके विपरीत दूसरे के **"मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी है···परंतु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी पारसी शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी पारसी के शब्द भरे हों।"**[५]

जब हरिश्चन्द्र हिंदी-व्रत लेकर आगे आये, हिंदी का स्वरूप इन विरोधी सिद्धान्तों में विवाद का विषय बना हुआ था। किंतु इनमें सबसे अधिक आपत्तिजनक 'सितारेहिंद' का

---

[१] चंद्रबली पाण्डेय: कचहरी की भाषा और लिपि, पृ० ९९, ना० प्र० सभा, सं० २००० वि०।

[२] रामचंद्र शुक्ल: लिखित हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ४१८ पर उद्धृत (१५ वाँ संस्क०)।

[३] शिवप्रसाद: भूगोल, हस्तामलक, भूमिका, पृ० २, संस्कृत प्रेस, कलकत्ता, १८५४।

[४] शिवप्रसाद: इतिहास तिमिर नाशक, पहला खंड, (भूमिका तथा अंतिम पृष्ठ) १८६४।

[५] रामचंद्र शुक्ल: हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ४१९ (१५ वां संस्क०) सितारे-हिंद की भाषा नीति के विरोध में लिखे मतों के लिए दे० क० व० सु०, १४ फरवरी, १८७६, पृष्ठ ९४, (हिंदी व्याकरण शीर्षक पत्र); वही, २१ फरवरी, १८७६, पृ० ९७; वही, ६ मार्च, १८७६, पृ० १०६ (फजीहत राय के पत्र); वही, ६ मार्च, १८७६, पृ० १०५-१०६; वही, २५ अक्टूबर, १८७७, पृ० ७ (हिंदी-उर्दू के एक होने का विरोध)।

सिद्धांत था अतः हरिश्चन्द्र ने सर्वप्रथम राजा लक्ष्मण सिंह के सिद्धांत का समर्थन करते हुए इसीका विरोध किया। उन्होंने 'हिंदी भाषा' लेख में भाषा के उस रूप का अनुमोदन किया जिसमें **'संस्कृत के शब्द विशेष रूप से रहे।'**[१] यह उनका प्रारंभिक मत था। उस समय वह 'सितारेहिंद' की हिन्दुस्तानी तथा उर्दू के विरोध में हिंदी के लिए शकुंतला नाटक की भाषा को प्रमाण मानते हुए लिखते हैं—**"हिंदी में केवल एक शकुंतला नाटक छपा है, इस समय भाषा मात्र में एक ही पुस्तक है...और इसकी भाषा ऐसी है जिसकी प्रशंसा लिख नहीं सकते। वे लोग जो कि कहते हैं कि हिंदी कोई भाषा ही नहीं है, टुक आँख खोलकर इसको आद्योपांत पढ़े फिर कहें कि हिंदी कोई वस्तु है वा नहीं।"**[२]

हरिश्चंद्र की इस प्रारंभिक भाषा नीति से पं० बद्रीलाल जैसे शिक्षा विभाग के अध्यापकों और हिंदी समर्थकों का पक्ष प्रबल हुआ जो सरकारी शिक्षा नीति, हिन्दुस्तानी और उर्दू के विरोधी थे।[३] शिक्षा की भाषा नीति के चलते बिगड़ी हुई खिचड़ी भाषा के विरुद्ध, अपनी असली तथा लोकप्रिय हिंदी भाषा के पोषक तथा प्रचारक की ओर हिंदी जनमत का आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। इधर हिंदुस्तानी के पीछे राजसत्ता की शक्ति थी, उसका खुलकर विरोध करना असाधारण साहस का कार्य था। तो भी, हरिश्चंद्र ने उसके स्थायी, सक्रिय और रचनात्मक विरोध का बीड़ा उठाया। अपने पत्रों के माध्यम से, हिन्दी जनमत निर्माण के क्रम में उन्होंने उर्दू, सरकारी भाषा तथा लिपि-नीति, और हिंदुस्तानी का उपहास करते हुए 'असली हिंदी,' साधु हिंदी अथवा नागरी हिंदी का समर्थन किया तथा उसे आश्रय दिया।[४] उनकी भाषा नीति के अनुयायी कोई आर्य लिखते हैं—**"जो शुद्ध आर्य भाषा है उसमें संस्कृत शब्द (जितने) अधिक मिलें उतना ही वह उत्तम कोटि में गिनी जायगी।"**[५] संस्कृत शब्दों के आधिक्य का औचित्य बताते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी गद्य के नवीन विकास में संस्कृत पदनिष्ठ हिंदी को आवश्यक माना क्योंकि **"सारी भारतीय भाषाओं का चरित्र चिरकाल से संस्कृत की परिचित और भावपूर्ण पदावली का आश्रय लेता आ रहा था।"**[६] उन्होंने अन्यत्र स्पष्ट रूप से यह कहकर भारतेंदु की प्रारम्भिक संस्कृतनिष्ठ हिंदी का समर्थन किया है कि **"हम हिंदू हैं, हिंदुस्तान**

---

[१] हिंदी भाषा : क० व० सु०, जि० २, नं० ४, पृ० २५-२६।

[२] क० व० सु०, जि० ३, नं० १३, पृ० ९६।

[३] दे० १८६४-६५ ई० का बनारस इंस्टीटयूट का विवरण (चंद्रबली पांडेय लिखित कचहरी की भाषा और लिपि, पृ० ९१-९३ पर उद्धृत)।

[४] दे० क० व० सु०, अक्टू० १८७०, पृ० २५-२६; फरवरी, १८७१, पृ० ९८; हरिश्चंद्र मैगजीन, अक्टूबर, १८७३, पृ० ११-१२; फरवरी, १८७४, पृ० ११८-१२२; पृ० १२२-१२३; ह० चं० मो० चं०, सितंबर, १८७४, पृ० १३३-३४; नवंबर, १८७४, पृ० ३३; क० व० सु०, १४ फरवरी, १८७६, पृ० ९४-९७; ६ मार्च, १८७६, पृ० १०५-१०६; १७ जुलाई, १८७६, पृ० १८०; अक्टू०, १८७६, पृ० ७।

[५] क० व० सु०, ६ मार्च, १८७६, पृ० १०५-१०६।

[६] रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ४१८, ४२६ (१५ वाँ संस्क०)।

हमारा देश है, हिंदी हमारी भाषा है। इस भाषा में अवश्यमेव हिंदुओं के आचार-विचार का आभास रहेगा···वह सहायता के लिये भरसक संस्कृत ही का मुंह देखेगी।"[१] किशोरी दास वाजपेयी का निष्कर्ष है—**"अरबी-फारसी तथा संस्कृत मूल के शब्दों पर आधारित क्रमशः हिन्दुस्तानी और हिंदी के इसी संघर्ष में विजयी होने पर जनता ने बाबू हरिश्चंद्र को भारतेंदु के पद से विभूषित किया था।"**[२]

किंतु धीरे-धीरे प्रयोग द्वारा हरिश्चन्द्र ने हिंदी के जिस लोकप्रिय आदर्श को आगे चलकर प्रतिष्ठित किया, उसमें आग्रहपूर्वक संस्कृत पदावली के ग्रहण की प्रवृत्ति नहीं मिलती। सच तो यह है कि उन्होंने राजा लक्ष्मण सिंह के अनुदार तथा अतिवादी भाषा-सिद्धांत को भी अस्वीकार कर दिया और हिंदी की लोकप्रिय शैलियों के निर्माण तथा प्रचार का सफल प्रयत्न किया। उनका यह प्रयत्न 'मैगज़ीन' तथा 'चंद्रिका' के प्रकाशन-काल (१८७३) से आरम्भ हो गया था, जिसे उन्होंने हिंदी को नये चाल में ढलने का वर्ष कहा है।[३] इसी समय से 'हरिश्चन्द्री हिंदी' का असली रूप प्रकट हुआ। उन्होंने राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा-शैली को और परिष्कृत कर 'साधु भाषा' का निर्माण किया।[४] 'मैगजीन' के प्रथम अंक में ही एक अंग्रेजी लेख प्रकाशित कर उन्होंने अपने भाषादर्श की नींव रखी जिसमें उन्होंने भाषा के उपर्युक्त अतिवादी स्वरूप को आधारहीन माना है और दोनों का विरोध किया है।[५]

इससे स्पष्ट है कि हरिश्चन्द्र की वास्तविक हिन्दी संस्कृत पदनिष्ठ हिन्दी नहीं थी, बल्कि वह हिंदी थी जो मध्यममार्गी थी और जिसमें संस्कृत पदावली का अधिक समावेश नहीं था। उनके समसामयिक लेखकों ओर संपादकों ने इसी हिन्दी का स्वागत किया और अपनाया था। अतः राजा शिवप्रसाद की मुसलमानी हिंदी अथवा हिंदुस्तानी को दबाकर जिस प्रकार हरिश्चन्द्र की हिन्दी अग्रसर हुई[६] और कृतकार्य होने पर वे 'भारतेन्दु' पद से विभूषित हुए, उसी प्रकार लक्ष्मण सिंह की 'असली हिन्दी' अथवा 'नारी हिंदी' को परिष्कृत कर इस उपाधि के सच्चे अधिकारी बने। रामविलास शर्मा का मत है कि संस्कृत पदावली के अत्यधिक समावेश से रहित हरिश्चन्द्र की असली हिंदी ने उन्हें भारतेन्दु बनाया था।[७] यह उपाधि उन्हें हिन्दी भाषा भाषी जनता के प्रतिनिधियों ने दी थी, जो इतनी लोकप्रिय हुई कि 'सरकारी मुलम्मा होने पर' भी उसके सामने 'सितारेहिंद' की चमक फीकी पड़ गयी।[८]

---

[१] आनंद कादंबिनी, ज्येष्ठ-अग्रहायण, सं० १९६४, पृ० ५५; श्यामसुन्दर दास : भारतेंदु हरिश्चंद्र, पृ० ८४।

[२] हिंदी शब्दानुशासन, पृ० ५३।

[३] भारतेंदु ग्रंथावली, तीसरा भाग (कालचक्र), पृ० ३६९।

[४] सचित्र हरिश्चंद्र, परिशिष्ट, पृ० २४ पर उद्धृत फ्रेड्रिक पिंकाट का मत।

[५] हिंदी भाषा, क० व० सु० १५ अक्टू०, १८७३, पृ० ११।

[६] रामचन्द्र शुक्ल : अपनी भाषा पर विचार, आनंद कादंबिनी, ज्येष्ठ-अग्रहायण, सं० १९६४, पृ० ५५।

[७] रामविलास शर्मा: आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, पृ० १६८।

[८] रामविलास शर्मा : भारतेंदु युग पृ० १६५।

निष्कर्ष

हरिश्चन्द्र के लिए प्रस्तावित तथा स्वीकृत भारतेन्दु उपाधि के स्वरूप और मंतव्य का संगोपांग विवेचन करते हुए भिन्न-भिन्न काल-स्तरों एवं दृष्टिकोणों के आधार पर उसके अर्थ-विकास का अध्ययन किया गया है। क्योंकि इसके अभाव में 'भारतेन्दु मंडल' की कल्पना का मानदंड, उसकी विशिष्टताओं का आकलन और स्वरूप का निर्णय भ्रमोत्पादक होता। इस उपाधि के अध्ययन से 'भारतेन्दु मंडल' के मानदंड का निश्चय निम्नलिखित निष्कर्षों से हो सकता है।

(१) हरिश्चन्द्र के देश हित संबंधी आयोजनों और व्यक्तिगत गुणों से उपलब्ध यश की चरम परिणति 'भारतेन्दु' उपाधि में हुई थी। इसके पीछे प्रशस्ति काव्योंवाली चन्द्ररूपकों और प्रशंसोपमाओं की परम्परा थी जिसका निर्वाह हरिश्चद्र के स्तुतिगायकों और प्रशंसकों ने अपनी कृतज्ञता के ज्ञापनार्थ आरंभ से ही धारावाहिक रूप में किया था। इस क्रम में यश और सौंदर्य का काव्यशास्त्रीय प्रतीक चन्द्र, जिसका पौराणिक व्यक्तित्व लांछित गुणवान का है, हरिश्चन्द्र का उपमान बनाया गया। पुनः 'सुधा' और 'चन्द्रिका' से चंद्ररूपक की संगति बैठती जाने पर 'चन्द्रवत् हरिश्चन्द्र' वाली उक्तियों का समाहार भारतेन्दु नामकरण तथा उपाधि में हुआ। सबसे पहले रघुनाथ शास्त्री ने 'इन्दु' के साथ 'भारत' जोड़कर 'भारतेन्दु बनाया, जो एक ओर हरिश्चन्द्र द्वारा कथित 'हिन्दुस्तान के निष्कलंक चन्द्र' का नया संस्करण था, और दूसरी ओर परिहास नाम से अधिक व्यंग्यपरक विशेषण अथवा आरोपित उपनाम था। इसका उद्देश्य वस्तुतः हरिश्चन्द्र की व्याजस्तुति करना था। इसके पीछे हरिश्चन्द्र की 'स्टार' विरोधी प्रवृत्ति की जानकारी अवश्य थी, साथ ही 'सितारेहिन्द' की स्पर्द्धामूलक प्रतिक्रिया भी विद्यमान थी, जो केवल हरिश्चन्द्र और शास्त्री जी की ही नहीं, हिन्दी समर्थक जनमत की भी हो सकती है। किन्तु इस रूप में भारतेन्दु-जैसे सोद्देश्य प्रतीक, विशेषण अथवा नामकरण का तत्काल प्रचलन न हुआ, नहीं उसकी परम्परा ही चली। लगभग ६ वर्ष पश्चात् रामशंकर व्यास ने इसकी विधिवत् प्रस्तावना उपाधि रूप में की, जो हिन्दी पत्रकारों का व्यापक अनुमोदन पाकर सार्वजनिक प्रयोग नें चल निकली। व्यासजी ने अपने प्रस्ताव में हरिश्चन्द्र के चन्द्ररूपक-संबंधी तत्वों की नयी व्याख्या प्रस्तुत की तथा 'स्टार' एवं राजा शिवप्रसाद की वही स्पर्द्धामूलक प्रतिक्रिया व्यक्त की, जो हरिश्चन्द्र तथा शास्त्रीजी पहले स्पष्ट कर चुके थे। यह प्रतिक्रिया हरिश्चन्द्र के लोक हितैषी कार्यों से अनुगृहीत हिन्दी समर्थकों की थी जो 'देश हितैषी' के प्रस्ताव में स्पष्ट हुई थी। इस प्रकार हरिश्चन्द्र, रघुनाथ शास्त्री और रामशंकर व्यास की उक्तियों में 'भारतेन्दु' के (चन्द्र रूपक के लिए) आवश्यक तत्वों का संयोजन तथा समीकरण अपने-अपने ढंग से किया गया, जिनमें 'सितारेहिंद' की प्रतिक्रिया के दोनों पूरक आयामों—देश-हित और भाषा-हित की समधिक व्यंजना हुई है।

(२) हरिश्चन्द्र के गुण, स्वभाव और क्रिया से आकर्षित, उपकृत और कृतज्ञ जनों की भावनाओं का जो स्पष्टीकरण भारतेन्दु उपाधि की प्रस्तावना तथा मान्यता द्वारा हुई थी, वह आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में हरिश्चन्द्र की अतुलनीय हिन्दी सेवा का पुरस्कार है। उन्होंने मृत हिन्दी को पुनर्जीवन प्रदान किया, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी

के समर्थक, हिन्दी विरोधियों की चुनौतियों का उत्तर दिया और हिन्दी के लोकप्रिय रूप की अवतारणा कर उसे 'सुधा' एवं 'चन्द्रिका' के माध्यम से देश के कोने-कोने में प्रचारित किया था। हरिश्चन्द्रकालीन भाषा आंदोलन और साहित्य रचना के क्षत्र में इन पत्रों का अशेष महत्व है। भाषा विवाद के अखाड़े में इन्हीं 'मल्लों' ने 'सितारेहिन्द' के विरुद्ध हरिश्चन्द्र को विजयी बनाकर भारतेन्दु विरुद उपलब्ध कराया था। हरिश्चन्द्र की पत्रकारिता ही वह धुरी है, जिस पर हिन्दी के रथ का ढाँचा स्थिर हुआ था। उनकी समस्त कलाओं में सर्वश्रेष्ठ हिन्दी गद्य की कला ने इसी के सहारे चतुर्दिक व्याप्त होकर 'सितारेहिन्द' की कला को निर्जीव तथा निष्प्रभ कर दिखाया था। व्यासजी के भारतेन्दु-प्रस्ताव में इन दोनों पत्रों—'चंद्रिका' और 'सुधा' का संयोग, मात्ररूपक निर्वाह के लिए आकस्मिक ही नहीं, वरन् अनिवार्य तथा उद्देश्यपूर्ण है। सच पूछा जाय तो 'सितारेहिंद' की स्पर्द्धा एवं प्रतिक्रिया, 'हिंदुस्तानी' के विरुद्ध हरिश्चन्द्र के गद्य संबंधी आदर्श तथा स्वरूप से संबंधित है। क्योंकि इनकी स्पर्द्धा गद्य को लेकर थी, पद्य को लेकर नहीं। पद्य के क्षेत्र में इनके बीच कोई प्रतिद्वंद्विता हो ही नहीं सकती थी। अस्तु, हिन्दुस्तानी के विरुद्ध सक्रिय तथा रचनात्मक संघर्ष में विजयी हरिश्चन्द्र के हिंदी गद्य ने उन्हें भारतेन्दु बनाया था, पद्य ने नहीं। असल में यह उपाधि, हिंदी आन्दोलन के अन्तर्गत, हिंदी पत्रों के माध्यम से, आदर्श हिंदी गद्यकार के लिए, हिंदी गद्यकारों द्वारा प्रस्तावित, हिंदी गद्य के सर्वसामान्य रूप की सिद्धि का सर्वोच्च सम्मान थी, जिसमें हिंदुस्तानी की स्पर्द्धा में हिंदी हित और सितारेहिंद खिताब में निहित सरकारी खैरख्वाही तथा विकृत राजभक्ति की प्रतिक्रिया में देश हित का भाव वर्तमान था। अतः हिन्दी साहित्य के गद्यकाल के संदर्भ में आधुनिक हिंदी गद्य के प्रतीक 'भारतेंदु' से संगठित 'भारतेंदु मंडल' की परिभाषा में भारतेंदु उपाधि के इस तत्व का सर्वाधिक महत्व है। हरिश्चन्द्र के सहयोगी कवि समूह से 'भारतेंदु मंडल' का अभिप्राय उतना व्यक्त नहीं होता, जितना उनके अनुगामी गद्य लेखक अथवा पत्रकार मंडल से। इस क्रम में यह तथ्य भी विचारणीय है कि 'भारतेंदु' उपाधि का आन्दोलन सर्वांश में पत्रकारों का था, न कि कवियों का। यह दूसरी बात है कि अधिकांश पत्रकार गद्य लेखक के साथ कवि भी थे।

———

FERTILISER COMPLEX IN INDIA

G. SUKUMAR

Final Year, Chemical Engineering

India, is a vast country, having a high density of population, and struggling hard to attain self-sufficiency in food production. This situation inevitably compels us to think on the lines of Malthus, "The mouths went on multiplying geometrically and food only arithmetically". At present, the rate of growth of population is 2.5 percent which is higher than that of past few decades and the figures for the years 1951, '61 and '66 respectively are 361, 439 and 495 millions. India has a total of about 360 million acres of productive cropping area and a major part of our population is fully dependent on the agricultural harvests for its livelihood. In order to mitigate the gravity of this problem, the enhanced production of different kinds of nutritional fertilisers has been given the greatest importance in our Five Year Plans and about Rs. 300 crores was the investment during the third plan. The investment is supposed to increase by 50% (on the above amount) in the 4th plan. The fertiliser industry in India is being given such a priority only because "the fruits of independence will only reach the people through such enterprises" as told by our Prime Minister, Mrs. Indira Gandhi, when she was inaugurating the Gorakhpur Fertiliser Project.

Requirements and Targets

We need enormous amount of fertilisers for the betterment of our yield of crops every year, and our soils have exhibited high percentage of Nitrogen deficiency, and Phosphorus and Pottassium to a lesser degree. It is estimated that by 1970-71, 2 million tonnes of Nitrogen and 1 million tonnes of phosphoric acid are to be produced to meet the higher demand

for food production which is about 120 million tonnes (food grains). Again by 1975-76, we must some how produce 3.5 million tonnes of Phosphates, 5 million tonnes of Nitrogen, and Potash necessary along with these will be half of the figure for Phosphates. Our annual requirements can be roughly understood from the table 1, which is based on United Nations' F.A.O. data, put in a convenient form :

TABLE 1

Projected annual requirements (million tonnes)

India

	1965	1975	1985
N	— 0.60	3.10	6.50
P_2O_5	— 0.20	1.40	3.40
K_2O	— 0.05	0.40	0.80

Production & Distribution

During the last year (1967) our production of fertilisers in terms of Nitrogen and Phosphates were respectively 3,24,516 and 1,75,085 tonnes and we produced practically no 'Potash' The contribution by the four regions of India is shown in table 2. (calculated on the basis of F.A.I. data).

TABLE 2

Regional production (percentage) of fertiliser nutrients (1967)

Region	Nitrogen	Phosphorus	Potash
South	18.26	43.0	—
West	19.81	36.7	—
North	25.17	08.54	—
East	36.76	11.76	—

The distributed quantity amounted to 895871 tonnes of N (including 682 tonnes of export), 380120 tonnes of P (including 18 tonnes of export) and 161398 tonnes of Potash. The table 3, shows the percentage distributed out of the total quantity for each region separately (*calculated* on the basis of F.A.I. data).

TABLE 3

Regional distribution (percentage) on all India basis

Region	Nitrogen	Phosphorus	Potash
South	41.90	39.86	43.2
West	15.694	17.16	14.9
North	31.34	28.23	29.1
East	10.99	14.77	12.8
Export	00.076	(negligible)	—

In India, Nitrogenous and Phosphatic fertilisers are produced. They are Ammonium sulphate, Urea, Ammonium sulphate nitrate, Calcium ammonium nitrate (CAN) (20.5% N and 25% N), Ammonium chloride, Superphosphates (16% W.S. P_2O_5, 18% W.S. and 19% W.S.), Nitorphosphates (16-13-0, 20-20-0) and Ammonium phosphate (16-20-0). The total production in terms of nutrients (Jan-Sept. 67) N and P_2O_5 were 2,28,380 and 1,20,688 tonnes. Out of this, the percentage contributed/produced by each of the above different fertilisers in terms of N and P_2O_5 has been calculated on the basis of F.A.I. data and shown in table 4.

TABLE 4

Percentage contributed/produced (Jan.-Sept. 67)

Fertilisers	Nitrogen	P_2O_5
Ammonium sulphate	26.7	—
Urea	19.5	—
Amonium sulphate nitrate	04.9	—
Calcium ammonium nitrate	37.2	—
Ammonium chloride	01.2	—
Superphosphates	—	79.0
Nitrophosphates	04.9	07.8
Ammonium phoshpate	05.6	13.2

Raw materials position

In general, the raw materials required are Rock phosphate, Sulphur, Potash and Naptha. All the raw materials are imported except Naptha. The table 5 indicates the amount of Potash imported for the years 1957 to 1961.

TABLE 5

Imports ('000 tonnes K_2O)

India

	1957	1958	1959	1960	1961
Total —	14.0	20.1	23.1	26.7	28.2

The required amount of Naptha is supplied by our refineries and the table 6 presents a picture of Naptha demands.

TABLE 6

Estimated Naptha Demand ('000 tonnes)

	1967	1968	1969	1970
(a) *Definite Project*				
Trombay	65	65	70	70
Fact	60	70	70	70
Ennore	18	18	18	20
Vishakapatnam	60	80	80	90
Gorakhpur	60	80	80	90
Baroda	30	40	40	50
Rajasthan	—	30	80	80
(b) For likely plants	—	70	180	280
(c) For planned plants	—	60	140	270

The total demand for Naptha in the years 68, 69 and 70 will be 513, 758 and 1,020 thousand tonnes. The phosphate rock comes from Jordan, Morocco, Florida etc.

Projects

India is steadily progressing in the field of fertiliser industry, by constructing a number of factories and by planning expansion programmes wherever possible.

The first factory to be set was at Sindhri (Bihar) in 1951 with the capacity of 70,000 tonnes of N in the form of Ammonium sulphate. Now it produces Urea and Double salt which in terms of N amounts to 10,000 and 37,000 tonnes respectively per year. The next factory (started in 1961 at Nangal) has the capacity of 80,000 tonnes, in the form of CAN and Urea. The Trombay unit has the capacity of 99000 tonnes of Urea, 1,80,000 tonnes of Nitrophosphate. The expansion at Trombay

will give place to another 3,92,000 and 2,70,000 Urea, and complex fertiliser respectively. The Namrup factory will produce Amm. sulphate (21,000 tonnes N) and Urea (24,000 tonnes N). The Gorakhpur unit was commissioned in April, 1968. This will produce 1,74,000 tonnes of urea and indirectly it equals another 8 lakh tonnes of foodgrains (or 80,000 tonnes of N). The factory at Durgapur is expected to produce 1,10,000 tonnes of $P_2 0_5$ and 1,35,000 tonnes of N. There are factories at Alwaye (30,000 of N and 14,000 tonnes of $P_2 0_5$) and Rourkela (1,20,000 tonnes of N per year), which are also in the public sector.

The factory at Neyveli (Madras) has a capacity of 70,000 tonnes of N. The Coromandel Fertiliser Plant situated at Vishakapatnam which is a private sector plant was inaugurated on 10th Dec. 1967. It is the world's most modern complex fertiliser plant which will help to replace rs. 16 crores worth of imports. This big complex is producing at the rate of 2,60,000 tonnes of 28-28-0 complex fertiliser and 16,500 tonnes of Urea per year. It is due to Indo-American collaboration. The Gujarat State Fertiliser Co. was started on 15th Feb. 1962 as a public limited company (57,000 tonnes $P_2 0_5$ and 96,000 tonnes N). It was completed with the help of Toyo Engg. Corp. Japan; Power Gas Corp. U.K. ; Hitachi Ship Building and Engg. Co. Ltd. Japan ; Chemical Construction Corp. U.S.A. etc. This company manufactures Urea (46% N), Amm. sulphate, DAP (18 N, 46 $P_2 0_5$) and Amm. sulphate Phosphate (19.5 N, 19.5 $P_2 0_5$).

During the current Plan, six new factories will be brought into existence. Among these, Cochin Fertiliser Plant costing Rs. 400 million to be commissioned by 1969, is designed to produce 33000 tonnes of Urea. The others are planned at Goa, Kothagudamx in Andhra Pradesh, Kota, Ennore (Expn) and Kanpur. The Kanpur plant will be owned by ICI, which will be completed in 1969. It will make nearly 4,50,000 tons of urea from Naptha available from Barauni refinery. The foreign exchange cost will be 12 million sterlings. The Ennore project came into existence on 23rd Aug. '62 (monthly products:

3600 tonnes) and will have a further expansion. The Barauni and Durgapur factories will go into production in few years and Namrup will also have expansion.

Obstacles

A major portion of the raw materials are imported. Hence, the impact of devaluation is high which affects the purchase of machinery and erecting cost gets enhanced. The plants are constructed in India at a higher cost than that realised in other countries. Every year, production suffers because of power-cuts etc. the availability of which causes uncertainity.

The agricultural credit, available to the farmer with a high rate of interest also affects the fertiliser distribution. The much needed credit in also not available, in proper time, in many cases. The price of fertilisers are also fairly high due to many reasons and one of them being the duties and taxes levied on it.

The delay in commissioning and under utilisation of plants reduces our productions. In fact our production has been below par, even in 3rd Plan, since the production in the last year of the Plan only 0.233 million tonnes of Nitrogen was produced, which is much lower than the initial target i.e., 0.8 million tonnes of Nitrogen (production).

Fertiliser Marketing

During all these Plans, only a minor portion of the cultivated lands have been benefitted and the rest are under rainfed and dry farming conditions. The activities regarding fertiliser promotion have to be given importance and the ways of fertiliser utilisation have to be further improved. Some of the points considered at the 'Marketing Manager's Conference' at Trombay merit serious considerations :

1. The products should be made available at reasonable prices.

2. Effective sales promotion activities have to be combined with adequate credit facilities to bridge the gap between potential demand and actual demand.
3. Constant study of packaging of fertilisers is important.
4. A 2-Tier system of distribution is more economic and sound than a 3-Tier system, etc.

Finally, wise planning and quicker implementation can only make the industry more prosperous in India.

INDUSTRIALISATION AND RURAL REGIONAL DEVELOPMENT

DR. D. P. N. SINGH

Faculty of Commerce, Banaras Hindu University.

Regional development of industries has received too much significance in modern economic planning. Unequal distribution of potential resources through out the vast land calls for Regional planning a sine-qua-non for sound planning. The factors affecting industrialisation like agriculture, unevenly through out the country by concentrating at particular regions. Regional planning is necessary to overcome the agglomerative tendencies in industrial development. It plays major part in location of industries. So benefits of economic growth can be extended to backward areas through the regional planning. Big industrial undertakings call considerations for marginal changes in economic and technical aspects for its feasibility under this type of planning. Here less developed areas develop along with developed areas and thus the national interests are best secured in least economic cost. The main reason for concentration of industries at a particular spot is the internal and external economies available in spot. Usually internal economies are referred to manufacturing and external economies to transportation. India's past experiences show the application of Weber's theory in localisation of industries by incorporating the State policy and needs stressed in planning on regional basis. Goal of industrial progress can be outlined in the light of industrial policy of 1948 and 1956. It stresses on removal of regional disparities and healthy growth of national income. Government has taken several steps to remove regional disparities in economic planning. Dispersion of industries was effected with preference to backward areas and in granting licenses for private projects which prefers backward areas to the possible extent. To throw light on regional disparity in development some indices of industries (as classified by NCAER) like cotton textiles (which includes

jute, cotton, silk, woolen textiles, handicrafts, carpets, etc.) sugar and gur, iron and steel and paper and paper goods, are purposely taken to show their relationship in location, output and employment. The study is confined to the position of U.P. as Compared to other states of the country.

Selected industries position in the national output of manufactured goods and the total employed work force is as follows :

Table No. 1 reveals that the cotton textiles absorb the major work force (39%) in comparison to other industries like sugar and gur (3.21), iron and steel (5.8) and paper board (1.6). Output in these industries varied from 7.8% in cotton and other textiles to 1.2% in sugar.

TABLE 1

Showing the comparative position of output and labour employed in the selected industries of India

Industry	Output (in crores)	Percentage of output	Total employment	Percentage of total employment
1	2	3	4	5
Indian Manufacturing industries	3693	100	31,00,000	100
Cotton & other textiles	283	7.8	12,15,419	39
Sugar & Gur	42	1.2	1,32,936	3.2
Iron & Steel and other ferrous	68	1.8	1,81,550	5.8
Paper & paper-board	17	.46	50,980	1.6

While comparing Table No. 1 with that of table Nos. 2 to 5 we can see the present position of different states with that of Uttar Pradesh. Here the discussion is confined to selected studies. In the light of these review is given as under :

Cotton and other textiles : Table no. 2 shows that Maharastra brightly tops the list so far as the output and employment is concerned. The figures in the table speaks of national output and state output. To its credit it has a share

of 28% of goods and U.P. the largest populated state of Indian Union has only a share of 4.7% in the country and 12.47% in the state in production of goods. U.P. gives only 5.7% employment to the working force in the country as compared to Maharastra which gives 27%. In U.P. the cotton and other textiles have not any appreciable percentage of gainful employment to the total working force that increases output and income.

Sugar and Gur: Table No. 3 shows some interesting facts. States like Mysore, Madras, West Bengal and Maharastra excels in output percentage to gross output, in relation to U.P. and Punjab. U.P. has large acreage and its gross output is 81.1% of total input and 18.9% net output in relation to gross output. The case is quiet different in other states. In Mysore it is 85.6% output in relation to gross output and 35.6 in Madras, and 37 %.in West Bengal. Scope for expansion of this industry in U.P. is defficult, in spite of possessing largest area of sugarcane production and employing largest work force. Recovery percentages of Northern States in comparison with Southern States is low and thus it fails to stop the gradual migration of industries from North to South.

Iron and Steel Ferrous Metal: Under this Iron and Steel manufacturing, iron and steel pipes, iron and steel castings and other ferro alloye, etc. have been taken. Finished steel and finished products can give rise to a number of industries which can develop an underdeveloped regions. U.P. has poor performance in this field which contributes only 4% of gross output with the total work force of 9,567. U.P. has to encourage these types of industries for rapid regional development.

Paper and Paper Board:—Table No. 5 reveals that U.P. along with Kerala and Madras ranks the lowest production States in India. Raw materials for the industry are in affulent in the state. These tables present the position of states among selected industries and makes clear of deficiencies. A case for Regional planning for U.P. has been prepared with certain suggestions for profitable implementation.

TABLE 2

COTTON AND OTHER TEXTILES

Industry	Gross Output			Employment			Net Output		% of net output to gross output	% of input to gross output
	Rs.	Percentage of distribution		Number	Percentage of distribution		Rs.	Percentage of distribution		
		State	Country		State	Country		State		
Andhra Pradesh	3,58,798	17.8	3.9	94,995	41.3	7.7	68,504	21.4	19	81
Bihar	24,694	0.9	0.2	5,568	2.8	0.7	8,734	1.4	33.3	66.7
Delhi	1,94,064	20.6	2.0	18,897	26.0	1.6	70,338	30.3	36	64
Gujarat	17,76,094	47.3	18.2	201,361	55.8	16.5	621,083	57.6	34.9	65.1
Kerala	93,359	8.7	0.9	15,092	8.9	1.2	26,628	9.3	27.9	72.1
Madhya Pradesh	2,75,530	15.6	2.9	41,357	25.0	3.3	94,640	26.0	34.2	65.8
Madras	9,64,388	27.2	10.4	104,126	31.7	8.5	280,659	31.6	19.1	81.9
Maharastra	25,93,884	28.0	28.2	331,786	41.2	27.1	885,512	32.1	34.2	65.8
Mysore	2,19,794	15.2	2.4	35,558	20.2	2.8	59,364	14.3	26.9	73.1
Orissa	35,316	6.1	0.3	5,310	15.6	0.4	8,951	9.0	22.9	77.1
Punjab	3,08,810	17.6	3.3	27,840	20.7	2.2	68,825	20.2	22.08	77.92
Rajasthan	72,192	16.5	0.5	11,184	18.2	0.9	17,829	15 6	23.6	76.4
Uttar Pradesh	4,47,619	12.4	4.7	70,961	20.8	5.7	157,350	19.9	34.7	65.3
West Bengal	18,13,335	21.9	19.6	251,384	33.7	20.6	457,848	21.7	25.5	74.5
	91,77,877			1,215,419			2,826,265			

TABLE 3

TABLE 3

SUGAR & GUR

Industry	Gross Output			Employment			Net Output			% of Net output to Gross output	% of Input to Gross output
	Rs.	Percentage of distribution		Number	Percentage of distribution		Rs.	Percentage of distribution			
		State	Country		State	Country		State	Country		
Andhra Pradesh	1,19,080	5.9	0.1	7,231	3.2	5.4	29,005	9.1	6.9	24.3	75.7
Bihar	2,53,372	9.3	13.2	21,377	10.7	16.7	62,088	8.9	14.8	24.5	75.5
Gujarat	8,550	0.2	0.4	966	0.3	0.5	2,291	0.2	0.4	22.2	77.8
Madhya Pradesh	22,464	1.3	1.1	2,199	1.3	1.6	4,127	1.1	0.9	18.2	81.8
Madras	80,285	2.3	4.2	5,171	1.6	3.8	27,550	3.1	6.4	35.0	65.0
Maharastra	3,27,767	3.5	17.4	23,488	2.9	17.5	80,757	2.9	19.1	24.7	75.3
Mysore	70,024	4.8	3.7	4,517	2.6	3.4	24,718	6.0	5.7	35.6	64.4
Punjab	69,229	3.9	3.8	3,331	2.5	2.5	10,708	3.1	2.3	15.9	84.1
Rajasthan	11,925	2.7	0.5	975	1.6	0.6	1,903	1.6	0.2	16.6	83.4
U.P.	9,10,429	25.1	48.4	63,145	18.5	47.5	72,069	21.7	41.2	18.9	81.1
W. Bengal	8,007	0.1	.4	536	0.1	0.3	2,584	0.1	0.4	37.5	62.5
	18,81,122		100		100		4,17,700	100		22.2	77.8

TABLE 4

IRON AND STEEL—FERROUS METAL

Industry	Gross Output Rs.	Gross Output: Percentage of distribution State	Gross Output: Percentage of distribution Country	Employment Number	Employment: Percentage of distribution State	Employment: Percentage of distribution Country	Net Output Rs.	Net Output: Percentage of distribution State	Net Output: Percentage of distribution Country	% of Net output to Gross output	% of Input to Gross output
Andhra Pradesh	28,792	1.4	8.9	1,491	0.7	0.7	7,270	2.3	1.05	24.1	75.9
Bihar	9,55,578	35.1	34.1	43,291	21.7	23.8	2,41,904	34.7	35.2	25.3	74.7
Delhi	30,253	3.2	1.0	2,232	3.1	1.2	5,175	2.2	0.7	16.6	83.4
Gujarat	19,156	0.5	0.6	3,333	0.9	1.8	8,796	0.8	0.9	47.3	52.7
Kerala	4,164	0.4	0.23	449	0.3	0.2	1,630	0.6	0.2	50.0	50.0
Madhya Pradesh	7,158	0.4	0.28	775	0.5	0.4	513	0.1	0.07	14.2	85.8
Madras	93,974	2.7	3.3	6,069	1.8	3.3	21,166	2.4	3.1	22.3	77.7
Maharastra	2,79,285	3.0	9.9	21,507	2.7	11.8	70,624	2.6	10.2	25.5	74.5
Mysore	64,745	4.5	2.3	10,026	5.7	5.5	17 747	4.3	2.6	27.7	72.3
Orissa	1,73,331	30.1	6.1	2,952	6.7	1.6	16,550	16.7	2.4	9.8	90.2
Punjab	89,067	5.1	3.1	6,862	5.1	3.7	13,397	3.9	1.9	14.6	85.4
Rajasthan	11,132	2.6	0.4	936	1.5	0.5	1,947	1.7	0.3	18.1	81.9
U.P.	1,14,244	3.2	4.1	9,567	2.8	5.2	15,659	2.0	2.2	13.8	87.2
W. Bengal	9,21,279	11.1	32.1	72,260	9.7	39.6	2,62,268	2.4	38.4	28.4	71.6
	28,02,356			1,81,550			6,84,646			24.4	75.6

TABLE 5

TABLE 5

PAPER AND BOARD

Industry	Gross Output			Employment			Net Output			% of Net output to Gross output	% of Input to Gross output
	Rs.	Percentage of distribution		Number	Percentage of distribution		Rs.	Percentage of distribution			
		State	Country		State	Country		State	Country		
Andhra Pradesh	64,784	2.3	6.9	4,505	2.0	8.8	2,124	0.7	1.2	4.2	95.8
Bihar	1,09,229	4.0	16.3	4,418	2.2	8.6	13,193	1.9	7.5	11.9	88.1
Gujarat	14,347	0.4	2.1	1,873	0.5	3.5	5,356	0.5	3.1	35.7	64.3
Kerala	11,327	1.1	1.6	1,424	0.8	2.7	4,064	1.4	2.4	36.3	63.7
Madhya Pradesh	35,481	2.0	5.3	2,226	1.3	4.3	13,278	3.7	7.6	37.1	62.9
Madras	2,206	0.1	0.3	408	4.7	0.7	523	2.1	0.2	50.0	50.0
Maharastra	1,02,147	1.1	15.4	7,825	1.0	15.3	34,925	1.3	22.2	34.3	65.4
Mysore	48,667	3.4	7.2	3,541	2.0	6.8	16,323	3.9	9.4	32.6	67.7
Orissa	73,284	12.7	11.0	5,091	14.9	9.8	23,687	23.9	11.9	32.8	67.2
Punjab	38,047	2.2	5.8	2,800	2.1	5.5	12,129	3.6	7.0	31.6	68.4
U.P.	20,834	0.6	3.0	2,440	0.7	4.6	6,451	0.8	3.3	28.5	71.5
W. Bengal	1,59,518	1.9	24.1	14,429	1.9	28.2	40,889	1.9	28.2	25.6	74.4
	6,61,871			50,980			1,72,942			26.1	73.9

A case for Regional Development—Uttar Pradesh

"The entire state is economically backward."[1] This statement made by Techno. Economic Survey of NCAER calls for everybody's attention. Inter-regions in the state are extremely variable and thus it has caused certain regions in the state to stand poorest sections in the country. And the levels of the economy is greatly affected by density of population.

The four zones mentioned in Table No. 6 given below shows the variance in per capita income from zone to zone. The zones are divided into—Western, Northern, Central and Eastern.

TABLE 6

Showing the Zonal Disparities in Uttar Pradesh

Zones	Per Capita Income (annual) upto Rs. 273 and upwards	
	Per capita income in 1955-56 (at 1960-61 prices)	Present situation of selected areas in U.P.
North Zone	Rs. 284/-	Hilly region—has low income group. Areas under this need development.
Western Zone	Rs. 299/-	Lower level of industrialisation.
Central Zone	Rs. 308/-	Bundelkhand area is depressed. Low productivity of lands.
Eastern Zone	Rs. 229/-	(i) High pressure of population. (ii) Low per capita income say: Rs. 150/- Deoria Rs. 187/- Basti Rs. 198/- Sultanpur

It is obvious from the above table that among all zones the Eastern Zone remains economically poorest. This is mainly

[1] Techno. Economic Survey—U. P. NCAER, p. 12.

accountable for lack of pioneering in industrial entrepreneurship. and high density of population. In past the Techno. Economic survey has gone to the extent of making certain suggestions which standas as under :

1. In Western Zone, Government should attempt at meeting the requirements forwarded by small scale industrialists.

2. Northern zone, it should aim at improving horticulture and provide best seeds with modern farming technology.

3. Central Zone, certain areas like Bundelkhand needs proper attention and it should aim at cultivating lands for cotton farms, wheat and paddy to enhance the economic potentiality of these areas.

NCAER in its experiences has searched out certain lines to tackle the problem of Regional development in the state. Here we are forwarding more suggestions which can be profitably employed for the overall development of the state.

1. Relationship between input (resources) and output (benefits) should be optimum for a smooth combination of geographical and material resources. State should hold steps in overcoming the shortcomings and its reliance on private sector for development purposes.
2. Investment in human capital should be more to provide opportunity to utilise them for the development of underdeveloped reigions.
3. State Governments attitude should not be regid towards the implementation of schemes. Controversies should be avoided both at state levels as well national level regarding issues of power, water and raw material. Integrated regions should be framed and the ego of district control must be avoided.

4. In case there is lack of raw materials for basic industries in any state, it can start industries like engineering goods, handicrafts, electricity consuming industries, etc. to meet the needs of the state. Proper steps should be taken while imparting education to people and thus making them aware of their responsibilities which are needed for progress.

5. State should embark in clearing the roots of monopolists. This develops the potential entrepreneurial ability. Backward states should look at developed once and bring competitive spirit to devolop smaller industries.

6. Nation should aim at strong national policies and it should be delegated to the states for ensuring alround growth of states. All of them together, be incouraged to build a healthy national outlook.

IMPROVEMENT OF ESSAY TYPE OF EXAMINATION

DR. LAL MANI MISHRA

Research Officer, Deptt, of Psychology.

Examination is a necessary tool in the educational process and much is said today on the present educational system with reference to the examination system. It is essential to have a good scheme of examination for the progress of our country. The progressive nations of the world have their excellent scheme of examination system. As a progressive country of the world India must not be a mere spectator. If India has to acquire an honoured place before great nations, reforms or improvements in traditional system of examination are urgently required. Since 1902 committees and conferences have been held at different times and they have given so many suggestions but those suggestions have not been converted into practices at all and this is reason why our examination system suffers from its shortcomings.

Before going in detail what are the methods which should be employed for the improvements of essay test, we should know, what it is, what are its limitations and advantages. Our traditional examination system is that of essay type. Here out of ten questions the candidate is required to answer five or six of them within the prescribed time limit. The marks which are awarded on these essays are accepted as indices of student's proficiency. The question paper of this kind can not cover the whole syllabus. This encourages guessing on the part of the candidate. Here, for instance, we can take one example. Suppose that a student prepares 95 questions in one syllabus and in the same syllabus an other student prepares 5 questions but due to chance if first student gets only two questions out of 95 and second one 5 out of 5 and as a result

if the first one is going to be awarded 3rd division and Second one Ist division, then where is the correlation between knowledge and certificate. At present each and every educationist is bound to say that Ist class degree does not indicate Ist class intellegencia. Examination is an opiate for the nation and poison for the general public.

A partial and selective study is not the only evil resulting from this system, it has several other drawbacks. Once the candidates have arrived at their guesses, they indulge in mugging up the answers to relatively easier questions and thus giving up all efforts for a real thinking and understanding. In the words of Bloom, "...........only a few students elect to choose the questions which require complex thinking or problem solving while the majority elect to answer those questions which require memorized detailed information."[1]

Learning of the candidates thus becomes examination oriented. It may be remembered that examination is not an end in itself, it is only a tool to measure a student's achievement as also the efficiency of teaching. What has come to stay is just the reverse of it, examination becomes an end in itself and education a means to achieve the same. The observation of Indian Universities Commission of 1902 that "...........the greatest evil from which the system of university education in India suffers is that teaching is subordinated to examination and not examination to teaching, is true not only at the University level but at all levels of education."[2]

Considering the essay type of examination system, it does not cover the whole syllabus, selective study is practiced, cramming as well as subjective judgements play greater role, reliability and validity of examinations is seriously threatened, slow and fast writing affects the ratings of pupils, the value of examinations is very much undermined in this way. As Zaidi

---

[1] Bloom, B. S.: "Evaluation in Higher Education," A report of the seminars on Examination Reform organised by U.G.C. New Delhi, 1961, p. 17.

[2] "Report of University Education Commission", 1902, p. 43.

sees it, "The emphasis on the essay examination provided to our student a training to write good reports and do clerical jobs when they became public servants in later life."[1]

In previous lines we have examined the traditional system of examination which consists in evaluation of essays. While judging the essay type of examination, we have been pointing out its drawbacks and have therefore remarked that this procedure of evaluation is not scientific. It may be added here that the essay type of examination does posses some basic advantage and we do recognize them. The essay tests provides adequate opportunity to the candidates to organize and present their thoughts. Independent thinking, rather than just memorizing of facts, is of course encouraged. However, it may also be pointed out in natural practice this opportunity does not seem to have been fully exploited by the examinees. Sims analyzed four hundred and fifty eight essay type answers and found that less than 50 percent in High School and less than 20 percent in lower classes involved discussions, while the remaining one's consisted of simple recall and short answers.[2] It is also accepted that in answering questions in the form of essays the examinees get an opportunity for a critical evaluation and discussion. This may provide an excercise to their power of reasoning. The essay test similarly provides opportunity to judge a candidate's power of expression. In this context an experienced examiner may be able to measure a "Students ability to utilize information learned in one situation in the solution of problems in a new setting."[3] One can see another advantage with essay tests to the extent that a teacher can prepare his own unstructured test to suit the general level and background of his pupils and also to suit the specific bias of the teacher for the contents and method of teaching.

---

[1] "Evaluation in Higher Education", op. cit. p. 42, Delivered by Mr. Zaidi B.H., Vice-Chancellor, Aligarh Muslim University, inaugurating the Seminar on Examinations at Aligarh on Ist August 1958.

[2] Sims, V. M.: "Essay Examination Questions Classified on the basis of Objectivity", School and Society, 35: 100-102 Jan. 16, 1932.

[3] Olson, H. F.: "Evaluation Growth in Language Ability", Journal of Educational Research, 39, 247, Dec. 1945.

It can be seen that the essay tests are not entirely faulty, but have certain basic advantages. The best that can be hoped for essay examinations is that by the use of improved techniques their reliability may approach that of objective tests. As regards usability the fact that question can be written on the blackboard is an advantage only in these schools which lack duplicating facilities. Framing of essay test question papers is an easy and quick job. Several experimental studies have shown that the type of measurement used by the teacher influences the type of study procedures employed by the pupils. In this way essay tests give a chance to the pupils for thinking, summarizing, comparing and for critical evaluation of the problem.

Although the essay type examination has been in existence for hundred of years, the amount of research devoted to it is almost nil. Further, the researches relating to it are of negative kind. In all the researches we find the criticisms rather than suggestions for means to improve. However, on the basis of meagre experimental literature, several positive suggestions can be placed for its' advancement with reference to construction, use and rating.

Firstly, in essay examination attention should be paid to 'construction'. The question must not be so lengthy as to require much more discussion of different type. If this is the case, naturally, it will be very difficult for the examiner to rate accurately. Questions of essay type should be so prepared that they indicate clearly the type of discussion required. This should be the essential feature of essay type of examination. The question itself, does not indicate so many solutions and possibilities of answers. The wordings of the questions should be clear as much as possible. The questions should be increased in number and by this the amount of discussion should be reduced.

It is just as important to know where to use essay examination as it is to know how to use it. It is essential to restrict the use of essay tests to the measurement of those functions for which it is best adapted. It should be considered that where

subjective and where objective judgement is adequate. The test is particularly valuable in only two situations. Firstly, it should be used in such courses as English Composition and Journalism, where the student's ability to express himself effectively is the major objective of instructions. Secondly, essay test should be used in such places where critical evaluation and the ability to assimilate and organize large amounts of material constitute important objective. In this context, it is remarkable to note that Jones found that 68 percent of the college students who took senior comprehensive examinations and 55 percent of the superior students in other colleges stated their views as folows: "I think one's ability is far better shown through discussion questions than through short objective questions."[1]

Some writers have emphasized the importance of training pupils in taking examinations.[2] Worcester is of the opinion that essay test is unfair because pupils are being required to take a test on a type of work for which they have had no specific training. Wider experience and training in preparing for and in taking tests of all types is likely to increase the accuracy of measurement. Edmiston found that the validityof examinations is increased by use of those instructions which he had prepared.[3]

We can summarize the above points as follows. Firstly, the essay tests should be used in only such places where objective judgement is required. Secondly, the number of questions should be increased and disucssion should be reduced. Thirdly, there should be definite provision for the pupils by which they should understand how to take examinations.

Now coming to the next point as to what can be done about the improvement of the scoring or grading of essay examinations,

---

1 Jones, E. S.: "Comprehensive Examinations in American Colleges" New York, The Macmillan Company, 1933. p. 373.

2 Worcester, D. A.: "On the Validity of Testing", School Review Sept. 1934, 42, 527-531.

3 Elmiston, R. W.: "Examine the Examinations", Journal of Educational Psychology, Feb. 1939, 30, 126-138.

Rinsland makes a distinction between the terms scoring and grading.[1] Scoring is an objective process of counting right or wrong responses where as grading always means interpreting quality in terms of some criterion. It is more reliable, then, to speak of rating or grading essay tests rather than to call them scoring.

To begin with for grading of essay examinations certain preventive measures are important. Improvements are suggested in the form of better procedures for the essay type examination. Two modern innovations are applied, namely, 'definition test' or 'identification test' and 'free-recall' test.

A 'definition test' or 'identification test' consists of large number of items on which the students write answers of only a few lines each. With a little practice, these items can be scored on a point basis allowing perhaps 5 points per item, so that the reliability compares very favourably with good objective tests.

Another type of essay test is called a 'free recall test'. In this the student is asked to put down in the form of complete statements anything he can recall about the topic under consideration. Each statement is to be numbered and is to be independent of other statements. Discussion of a topic, is not permitted. In this test guessing is not possible. Perhaps one of of the most important virtue of this test lies in the fact that it tends to encourage good study habits. In order to do well on the test, it is necessary for the students to pick out more important items and to be able to recall them.

One useful form of essay examination consists of a considerable number of questions which require only very short answers—possibly only one word. This has the advantage that the scoring is quick and reliable and the examinee relies on recall only.

---

[1] Rinsland, H. D.: Constructing Test And Grading in Elementary And High School Subjects", New York, Prentice Hall, Inc. 1938, P. 302.

In scoring essay examination greater accuracy may be obtained, if one question is scored on all papers before going to the next question, rather than by scoring a paper completely and scoring the next one.

It is frequently recommended that teachers prepare outline of the answers expected before begining to score a set of papers. This will increase the reliability of scoring when the questions are rather definite in character, but, in case of very general essay questions, the answers are likely to vary widely, and a greater degree of subjective judgement may be required. It also appears probable that different teachers are not likely to vary more in marks assigned to the same papers when they are specific. For this reason, if the reliability of the measurements is a primary consideration, more specific question are to be preferred.

A careful wording of the questions and directions to the pupil which indicate clearly just what type of response is expected will simplify the problem of marking the papers. The use of optional questions should be discouraged. The school should adopt a policy regarding what factors shall be considered and what factors shall not be considered, in evaluating a written examination. Only those factors should be taken into account which afford evidence of the degree to which the pupil has attained the objectives set up for that particular course.

Some writers are of the opinion that the question should be divided in itself into different piles and with the consideration of this marking should be done. But this kind of division should be done only by experts.

JEAN-PAUL SARTRE

RAMAKANT TRIPATHI

Centre of Advanced Study in Philosophy, B.H.U.

Born in 1905, the French philosopher Jean-Paul Sartre is regarded today as the high priest of the movement of thought called existentialism. This is not merely because he has exerted greatest influence by his philosophical and nonphilosophical writings, but more because the basic characteristics of this trend of thought are pre-eminently found in him, and unlike some others he does not disdain to be called an existentialist—inspite of a certain odium being associated with this name.

As existentialism is yet a movement and not a finished school of thought, it is difficult to present it briefly and systematically. It hates systematisation and prides itself upon being a revolt against tedium and tradition. It is a kind of awakening to the benumbing influence of custom and tradition, to the dead life that the ordinary men and wise men alike live. It is a call to shake off our blinkers and goggles howsoever comfortable they might seem, a call to see life in its nakedness and to live it in its intensity.

Sartre owes much to Kierkegaard and Nietzsche but much more to Husserl and Heidegger. He develops his thought with full consciousness of his indebtedness as well as his differences. Like Kierkegaard, Sartre insists on the study of the concrete individual but does not share his religious leanings ; in this he is more like Nietzsche who declares that God is dead and asks us to live freely and even dangerously. Sartre accepts Husserl's view of consciousness as intentional but refuses to share his idealistic temper. So far as Heidegger is concered, Sartre criticises him quite often but makes no secret of the fact that he gets most of his themes from his writings.

In his chief philosophical work, *Being and Nothingness* which he calls *An Essay on Phenomenological Ontology*, Sartre distin-

guishes two modes of being that the intentional nature of consciousness implies—the being-in-itself and the being-for-itself. The in-itself is the dead and lifeless realm of objects ; it is just what it is, complete and finished, without any past or prospects. The for-itself is human consciousness of which Sartre says that it is what it is not and is not what it is. It is never a finished something ; it is ever an aspiration and always a choice. It is an awareness of itself as something which it is not and something which is yet to be, something not given, something empty. It is thus shot through and through by negation. In contrast, the in-itself cannot negate, cannot go beyond itself ; "uncreated, without any reason, without any relation to another being, being-in-itself has been eternally *de trop*."

By accepting these two modes of being Sartre seems to bring out two things. First, he is neither an idealist nor a realist or materialist. "I am neither materialist, nor spiritualist." Idealism is untenable because consciousness can never be in-itself ; it is always intentional. As for materialism, Sartre makes a telling observation. "When materialism dogmatically asserts that the universe produces thought, it immediately passes into idealist scepticism. It sets science against metaphysics and, unknowingly, a metaphysics against science."

The other point that Sartre seems to derive from the distinction of the in-itself and for-itself is that because of this polarity, life is essentially a tragedy. Man tries to found his own being but he can never succeed. Traditional religions and philosophies exhibit a kind of blindness to this aspect of existence. The tragedy of life is that the being-for-itself cannot at the same time be being-in-itself. There can be no God who is both in itself and for itself. Man aspires to be God but he cannot be ; the "idea of God is contradictory." "Everything happens as if, the world, man and man-in-the world succeeded in realizing only a missing God." "Man is a useless passion." His passion to become God can neither cease nor succeed.

As an existentialist, the most important problem for Sartre is the conception of man and here he rejects all traditional views.

Man is neither a mere body nor a soul with a body but pure freedom which is experienced in the form of anguish. Freedom is the source of all inhilation. "Man is the being through whom nothingness comes into the world." It is in the face of nothingness that on the one hand we experience anguish and on the other we practise self-deception which pervades our whole life. Anguish is differently understood by different existentialists but common to all of them is the feeling of nothingness. There is such a thing as the anguish of being. "Why is there something rather than nothing ?" There is no reason why there should be anything or anybody ; everything or everybody may vanish into nothingness any moment. Existence is absurd. "Not how the world is, is mystical but that it is." In vain does man try to reassure himself of his being through God who does not exist. Then, there may be the anguish of finitude, particularity or temporality. Man's desire to be immortal is the evidence of his acute feeling that he is mortal. "When I consider", says Pascal, "the short duration of my life, swallowed up in the eternity before and after, the little space which I fill, and even can see, engulfed in infinite immensity of space of which I am ignorant, and which knows me not, I am frightened." Finally, there is the anguish of freedom expounded by Kierkegaard and Sartre. This is the kind of anguish which arises "before the necessity of choosing." Man must choose ; even not to choose is choosing. Man is condemned to be free. One can by no means escape this necessity though desperate efforts are made to avoid it, efforts which give rise to all kinds of bad faith or self-deception. It can be easily seen that this type of anguish is related to the second kind or the anguish of finitude—man has to choose as he is not eternal and ominiscient. So the anguish of freedom is not contradictory to the anguish of being according to Sartre. "Kierkegaard describing anguish in the face of what one lacks characterizes it as anguish in face of freedom But Heidegger, whom we know to have been greatly influenced by Kierkegaard, considers anguish instead as the apprehension of nothingness. These two descriptions of anguish do not appear to us contradictory ; on the contrary the one implies the other." This is how Sartre feels about anguish.

Though freedom is the true nature of our consciousness, the feeling of anguish or dizziness in the face of freedom is so acute that we like to hide ourselves or rather to hide our freedom and try to practise what Sartre calls bad faith or self-deception. Bad faith is nothing but a way of finding an excuse to shirk freedom or responsibility. One is reminded here that according to Nietzsche "Faith means not wanting to know what is true." If so then faith in God or in the immortality of the soul or in determinism or Divine Dispensation or Pre-established Harmony or even in the doctrines of the unconscious and heredity—all these in essence seem to be different forms of bad faith as they all intend to relieve us of the burden of freedom or choice. No doctrine or philosophy can rob us of our freedom as it is itself open to acceptance or rejection. There is nothing which man cannot choose except his freedom ; there is nothing more basic. This unchartered freedom is also the doom of man. On the on hand it means dread, despair and loneliness ; and on the other it leads to inauthentic existence which anguish produces. Bad faith is protein in nature and infinite in form. Our whole social life, the entire religious idealism no less than scientific determinism whether physical or psychological, is based on bad faith to the extent it ignores the ultimacy of freedom. Bad faith like the unconscious of Freud exhibits itself in normal life as much as in abnormal individuals. Psychoanalysis therefore needs an existentialistic orientation.

Excessive preoccupation with subjectivity is the rock against which it is easy to wreck ; it throws us directly into solipsism. But Sartre is not a solipsist. He admits not only the in-itself but also other selves. His method is original. He depends not on the old analogical method but on the analysis of shame. Jaspers tries to solve the problem of other selves by the analysis of love or the communication of love. But for Sartre the analysis of shame is more revealing. Shame is nothing if not the consciousness of another self or the gaze of the other. The look of the other is always an alienation of my freedom. Even as my consciousness transforms others into an object

so does other's consciousness transform me into an object. Hence the other is always a terror. "Thus respect for the other's freedom is an empty word, each attitude which we adopted with respect to the other would be a violation of that freedom which we claimed to respect." In contrast, Jaspers holds that "my own freedom can only exist if the other is also free." As regards love, Sartre maintains that it can be only either sadism or masochim. No wonder, that one of Sartre's characters expresses his anguish by saying, "Hell is—other people."

Sartre speaks of his philosophy as humanism, but if humanism means the acceptance of any set values, Sartre's philosophy is not humanism. It can be called humanism only in the sense that freedom is the absolute prius of all values. Values are not given to us; they are created by us. Sartre would like to be called a Marxist too, but he knows that his doctrine of freedom goes directly against dialectical materialism. "A state of the world," he says, "will never be able to produce class consciousness. And the Marxists are so well aware of this that they rely upon militants—that is upon a conscious and concerted action—in order to activate the masses and awaken this consciousness within them." It appears to us that Sartre's sympathy with Marxists goes only as far as his revolt against the bourgeois society and that because it gives rise to all kinds of bad faith or inauthentic existence.

Sartre is reported to have said, "As for my book on Ethics it will take me ten more years to finish it." Though it is more than ten years since he said it, he has not finished it and we may add that he cannot. No system of Ethics is consistent with his ego-centric and individualistic philosophy. All that he can consistently say is that we should live sincerely and freely. But to live sincerely because Sartre teaches that would go against Sartre's view of freedom. One who asks us not to listen to any teacher should himself stop teaching. One cannot preach silence; one can only practise it. Sartre's teaching like the teaching of J. Krishnamurti, the great contemporary anti-traditioalist of India, may be practised but not preached.

If Sartre were an absolutist, he could have the advantage of the distinction between the *vyāvahārika* and the *pāramārthika*, but he is not. To speak of absolute freedom at the empirical level is meaningless contradiction. No wonder that Sartre has not yet succeeded in giving us his Ethics. Sartre protests that existentialism means neither quietism nor pessimism and that he accepts an ethic of action and self-commitment because freedom incarnates itself only in action. But the point is that since there is no God and man has no nature, there can be no goal and no hope. Sartre asks us to act without hope. Man is himself "the heart and centre of his transcendence."[1]

---

[1] A Radio talk.

BOTH HELL AND HEAVEN ARE WITHIN US

(From a Scientific Point of View)

U. A. ASRANI*

One may imagine that this is an old adage, widely supported by all Scriptures ; it merits no discussion, much less a scientific treatment. But let us examine ourselves, whether we really believe in it. Some times inspite of our best efforts, we do not achieve our object ; do we not feel frustrated then ? Do we not merely blame others or circumstances ? Do we not forget at such times, that our reactions to so called unfortunate circumstances, are ultimately our own ? A considerate and wise mother, faced with an obstinate child, does the needful of course ; but she never loses her temper.

Stone walls do not a prison make-Nor iron bars a cage.

Minds innocent and quiet take—That for an hermitage. When we get bored, unhappy or dejected, do we not rush for the pictures, the Radio, the T.V., for cards, entertainments, drinks etc. ? Do we not forget at that time, that a Heaven is available within us ?

There is infact a world of difference between lip-belief, and a scientific understanding. We obey the rules of traffic more than the behests of God. The latter are based on lip belief ; while the former are founded on our observation of actual accidents, and headaches of being caught, by even a corrupt police. Science observes and experiments, it defines its terms, draws definite, statistical conclusions, and checks them by open research, and conferences. We can not help respecting its conclusions, even though we have not personally observed them. For instance we all, even the State Potentates, are more afraid of a nuclear holocaust, than of the theologian's Hell-fire. It is on this account, that I have chosen to look at this subject from a scientific standpoint.

---

* Present Address : Prof. U. A. Asrani 52, Adarshnagar Lucknow-5, India.

Psychology, the science of the psyche, is yet an infant science. Like other sciences, its outlook is deterministic; i.e. it believes that definite causes must result in definite effects. But there are so many mixed up causes, in this domain, and there is such a complexity of effects, so often, that the Laws of Psychodynamics are but few ; and the search for a Hell or a Heaven within, is yet like exploration in a pathless jungle. All that I propose to do is to describe the clearing so far effected. Others may improve upon it later.

Zoologists tell us that mind is a natural outcome of Evolution. Organisms required the capacity to integrate the workings of different muscles for specific purposes ; and mind performed that function. The matrix (initial mould, so to say) of the mind, if not the mind itself, exists in even the most primitive animals. "There is no 'Intelligent Ego', who (in the process of thinking) operates an inert mechanism. It is a living brain, engaged in thinking. Mind does not move matter. It is the minding matter, that does mental work"[1,2]. Morgan gave the idea of sudden 'Emergent' jumps in Evolution. The palaeontologist, P.T. de Chardin has developed it[3]. He says that just as the formation of compunds out of atoms, that of long chain Carbon compounds out of inorganic compounds, and the evolution of life out of non-living matter took place by sudden jumps ; so also out of the primitive minds of lower animals, the self-conscious, self-examining, reflective, discriminating and creative human mind emerged by a sudden jump. Each such sudden jump in evolution, has exhibited, a new synthesis, and fresh properties.

The evolution of the human mind may not therefore be a supernatural event ; but surely, it was a very significant jump. Besides other sciences, it has given us the Science of the Mind itself, a capacity to recognise the hell and heaven within us. Psychology is yet an infant. It has not even *defined* the psyche or consciousness. Jung gave four *functions* of the psyche ; Assagioli has added three more ; similarly three aspects of consciousness—knowing, feeling and willing have been recognised. Most

psychologists, upto date restrict themselves to an objective study of the external observable behaviour of man, and to an experimental study of various agencies acting on him. They regard subjective experiences, as too unreliable for a scientific investigation. This has been customary for all sciences. Like a rabbit, they nibble at the soft part of problems, leaving the hard nuts to be tackled at some future date.

Even such a superficial study of psychology has given us very rich dividends in many fields, education, social relations etc. ; but very notably in the field of psychotherapy—the treatment of mental diseases. These diseases, as alarming statistics given by many writers, about the U.S.A. Britain Europe etc. show, are one of the most serious problems of modern civilised man. Communist countries do not appear to be better[4,5,6]. These diseases may probably be the result of some defect in modern culture itself.

Freud, a Viennese psychotherapist, simply shook the entire civilised world (1892-1932) by his disclosure of a large 'Unconscious', within the 'Depths' of the human mind. He said that just as an iceberg, floating on the ocean, has about nine-tenths of it hidden from view, inside the water ; so also is our mind (The word 'Depth' should not be taken literally; it only reminds us of this analogy). According to Freud, this Unconscious, even in nice good gentlemen, contains primitive, untidy, disreputable ideas, unbridled selfish passions or desires, insisting for satisfaction, without consideration for the feelings of others. Freud emphasised sex particularly, in the contents of the unconscious ; but his connotaion of 'Sex', is very wide. He says that these contents get locked up in the unconscious during infancy and childhood, because parents and elders, repress our desires. They remain there, as emotionally charged mental structures, called 'Complexes'—worse than the rubbish heaps of Augean Stalls, never cleaned for the whole life. They condition most of our activities, by their emotional impulses. We delude ourselves that we are free ; actually the impulses from within are using us very often as tools or slaves.

Others who know our impulsive conditioning, can predict our reactions. We lose the capacity to plastically change our responses to the rapidly changing circumstances of modern life. Owing to our consciences or social taboos, sitting like a policeman at the gate of the Unconscious—called the Super-Ego or the Censor, by Freud—these complexes can not normally erupt in the open; but they come out, distorted considerably sometimes, in our dreams; they come out in delirium. If the emotion behind them is too strong, or the Censor too weak, they defy society and appear in the form of various types of mental disese, neurosis, psychosis etc. Then even ordinary sense perception, gets poisoned, seeing insecurity, danger etc., where none exists.

The poor 'Ego'—the coherent organiser of mental processes--is between two wives; the instinctive desires located in the unconscious—called the 'Id' by Freud—on the one hand, and the Censor on the other; one constantly pressing for satisfaction, and the other repressing. Mental conflict ensues on that account. The mind gets dis-integrated; it can not act always as an integrated whole. 'Do not repress at all; thus eliminate the Censor and the Conflict both.' This is the only solution, which the modern materialistic and hedonist man finds available. 'Eat, drink, and be merry; do not think of the consequences to yourself or on others.' But such unbridled obedience to instinctive passions, results in increase of wants, competition and social conflict, instead of cooperation, dishonesty and disharmony in society, frustration, when desires are not fulfilled, complexity of life, with anxieties, worries, fears etc. Mental conflicts are nurtured in the unconscious not merely due to sex, repressed by the Censor; they can also be due to insecure or un-affectionate life during infancy, due to conflcts with sibblings, and due to cultural causes[5]. (pp 527-531). Thus even if you eliminate the Censor, conflicts, other than those of sex, will remain. The stress of modern complicated, hurried and worried life has been expounded by many reputed authors.[7,8,9] It is regarded, as one of the principal causes of the prevalence of mental diseases. Besides that, nobody can disregard with impunity, the results of

his actions on society, or its reactions on him. Experiments of Dr. Rhine have proved that telepathy is no longer to be regarded as accidental; it is a reality. Some prominent psychologists are inclined therefore to think, that all of us, are all the time enveloped in a sort of Universal Psychic Field, each acting on other minds, and bearing the impact of their reactions. The concept of the Self, as limited to the body is erroneous.[10] Again individuals make nations, and rule nations. Unbridled play of emotions at that level leads to wars; and if a war happens to be nuclear, we can not predict what colossal destruction may be caused by it; and for how many generations humanity and its culture may be crippled beyond repair.[11] A.E. Morgan, quoting the biologist Dobzhansky, informs us that over ninety percent of animal species, evolved in nature, have become extinct by now. One very common cause of extinction has been the selfish, narrow minded and shortsighted opportunism of individual members of the species concered. The lower species could not remedy such a defect; they were constitued that way. But man has knowledge and discrimination. If inspite of that he behaves in the same way, then atleast biologists do not hold out any hope for him either. He may also become extinct.[12]

If we define Hell as consisting of this stress of complex or passionate living, these anxieties, worries, fears, mental conflicts and frustrations etc., combined with risks of mental illness, disharmony and conflicts in society, even a nuclear holocaust perhaps; then such a hell is very much within us; concealed from view, in the depths of the unconscious, in our complexes, and our instinctive passions, which hold us captive. The psychologists have found no hell other than this.* Some psychologist has perhaps yet to demonstrate this hell statistically,

* There is no other Hell outside also, for the dishonest and the wicked; they often thrive. But this is a sociological phenomenon, not a pyschological one. Society has still a long way to go, in order to appreciate, honesty, justice and sympathy. Inspite of civilisation, nations are yet swayed by the barbaric rule that Might is Right. Nobody traces even accidents these days, to retribution for sin. We trace them to physical or psychological causes.

in the same way as the risk of lung cancer, a consequence of excessive smoking, has been ; but the results are patent and well recognised. And what Hell fire could be worse than Nuclear War.

Freud's Thoery has been widely criticised ; particularly his over emphasis on sex and its repression, as well as the tardiness of his remedy, called psycho-analysis. He allowed his patients to just talk at ease, and to narrate their dreams. He thus got their complexes exposed through his analysis. Two reputed associates of Freud, Jung and Adler, started their separate methods of treatment. Jung's patients above forty, required a religious outlook on life ; he advised a strennuous re-education of patients (For a comparative discussion of these three methods, see[15]) But inspite of these differences and controversies, the idea of the Unconscious and the conditioning Complexes in it, has come to stay[16]. The Hell within us, as defined above, is admitted on all hands. Jung has added, the 'Race Unconscious' along side the individual Unconscious. He has also windened the definition of the term 'Complex' so as to include even ego-complex, religious fanaticism, love etc. Any emotionally toned group of associated ideas, even those which are partly or wholly conscious, are according to him 'complexes'. They may or may not have been repressed. Erich Fromm has also widened the significance of the term 'unconscious' in other respects.[13,14]

The trouble with man is that like the slum dweller, he has become accustomed to the stink of the Augean stables in his Unconscious. He does not heed the warning even of nuclear war, and complete extinction. He would not correct his emotions of selfish hatred, jealousy etc. Let him atleast take another warning from medical men. They tell us that a very large chunk of diseases that modern man now suffers from, is psycho-somatic, or emotionally induced ; they have their base in our wrong mental attitudes, in our unhealthy emotions,. Estimates vary, between fifty to ninety percent. Dr. Schindler of Munroe Clinic U.S.A. gives a long list.* He says that drugs, even har-

* Compare 20 (pp. 114-127) 'Mind and body are not separate, nor parallel and interacting ; they are one.'

mone therapy, has a limited utility in such diseases. Substitution of unhealthy emotions, by cheerful ones is his prescription. 'Medicinal value of good emotions can not be over-estimated'[17] (pp. 18-33 ; 53-56) Man in his ignorance does not know, that the stink in his un-conscious, the unhealthy emotionally charged impulses in him, are constantly eating his vitals all the time; they are like disease germs in a slum area, like insects in a grain heap, like a festering internal tumour, or like water seeping unobserved, into the foundations of a building. They come explosively in the open sometime, as psychosomatic disease of one type or another which the doctors, euphemistically call 'functional'. Having conquered germ diseases, how does man propose to meet this new scourage ?

Sublimation is one solution which society appreciates, and even psychologists recommend. That is to say, we substitute in place of base, unhealthy and unsocial impulses, much better impulses like love of God, love of the Spiritual Guide, devotion to the nation, or to a political party or to social service etc. In such an adjustment, impulses yet remain, with their energies still uncontrolled, only diverted into more social channels. Substituted channels can also lead to excesses, fanaticism and conflicts ; they can become new complexes.

What we really want is, that all emotionally charged complexes, should like the rubbish heap of Augean stables, be actually cleared ; so that the Super-Ego can be dismised ; and the Ego, like a wise engineer or coherent organiser, should utilise his emotional enrgies, no longer impulsive, unconscious, or uncontrolled, for his own benefit, as well as that of the human race. A herculean task no doubt ; but that is the Heaven we are groping after ; that alone can be called Paradise Regianed. The Science of Psychology will not be worth its salt, if it fails to help man in such an attempt.

A small minority of psychologists have appreciated such an obligation ond given birth to what has been called Height Psychology or Growth Psychology ; there is Roberto Assagioli of Italy, with his idea of Psycho-synthesis, and Meditation

Groups for the New Age[18] (III-I) spread over Europe and America. There is A.H. Maslow at Brandies (U.S.A.)[19]; and there are others. It is by now being widely appreciated, that psychology which has done so much for treatment of abnormal minds, should also help normal men to be superior men, more efficient, fully functioning, actualising the potentialities within them to the utmost possible. Most ordinary men, on the other hand, according to Maslow, do not even grow up to psychological maturity; they regress to the position of an infant; only, instead of depending upon parents, they begin to depend upon God, or Guru, or some national hero, or some organised party State. According to Spurgeon English[9], the cause of the mental disease, Neurosis, is also the inability to grow to maturity. Thus the so called normal or sane person has traits which are akin to those of a neurotic. Maslow there fore calls such a normalcy, 'the psycho-pathology of the average'. It is rather surprising that almost all of our psycho-therapists, including those who give drugs, electric shocks etc., bring the insane only to such an inferior type of 'normalcy'; they are content with that. Height psychologists are not.

This new movement of Height Psychology is like the First Steps of a Psychology of Yoga or Mysticism; the techniques are similar. This is not surprising; the mystics also have been promising to make normal men, Supermen; to bring a Heaven on Earth for man. The title, 'Height Psychology' appears preferable; because it is not mystifying; otherwise, both aim in the self-same direction. It is the writer's interest in Mysticism, which has prompted him to write this article, inspite of the fact, that he is not a trained psychologist. His interest and study of Mysticism is practically lifelong, and has been supplemented by personal subjective Experiences of the 'Quiet' or 'Silence' or the 'Nirvikalpa State'; also temporary ones of a State, which appears to be akin to the Jiwana Mukta State. They have been described, at several places; but particularly in magazines[21,22,23] They will be referred to in the sequel also; then their evaluation as mentioned above, can be considered by the reader himself.

Any way, the writer has for long felt that mysticism properly understood, does provide a real Heaven on earth. He therefore feels it his duty to expose that Heaven, with the help of his humble attainments, whatever they are. We here in India, are in a much better position than western scholars and mystics, in understanding mysticism. We have here, not only several schools of Hindu Mysticism (called Yoga), but also Buddhistic, Jain and Sufi (Islamic) Mysticism, for our survey. The west knows only Christian Mysticism, which is akin to our Bhakti. Besides, that, we have living mystics of all types, available for consultation. Thus we here, can make a more solid contribution in this field Now let us see, how and how far, mysticism can lead us to a Heaven on Earth.

In India, it is well recognised, that whatever transcendental contact, a mystic may have with the Brahman, or in the State of Kaivalyam or Nirvana, atleast his behaviour and the state of his mind can be observed, and are well worthy of being studied. In the Bhagawad Gita, the Cream of the Vedas, Arjuna requests Shri Krishna to tell him the signs of the topmost mystic, the Sthita Prajna Sage ; how he speaks, sits or moves. (II.54). Patanjali's Sutras, the Chief Text of Ashtanga Yoga, defines Yoga only as Control of Mental Currents. The techniques of this mystic school, as well as those of Hatha Yoga, are openly Psycho-physiological. According to the school of philosophical meditations, the Jnana-Yoga, the individual Self is already identical with the Infinite Brahman ; so some texts of this school define salvation in purely psychological terms :—The Cessation of all Unhappiness and the Attainment of Supreme Bliss. The Buddha refused point blank to discuss metaphysical problems about transcendent entities. The main problem with him was 'Pain'—or the Hell as we have described it—and its Elimination. It is only in the theistic mystic circles—e.g. the Christian School, and the Hindu Bhakti—that a psychological analysis of Divine Love or of a Mystic, looks like a sacrilege, and a discussion about His Grace, an absurdity. But even in the Christian West, since 1900, when William James delivered his classical lectures on

'Varieties of Religiour Experience', *the study of, and research in, the Psychology of Mysticism, (inspite of mysticism having transcendent aspects) has become permissible* (I). About the same time R. M. Bucke wrote his 'Cosmic Consciousness.' Since then, many have studied the psychology of Christian Mysticism and written books on it ; e.g.[24,25], and a society for such a study has been started in Bucke's memory.

Such a study has raised new questions and yielded new revelations. A. H. Maslow, in his behaviorist studies of Self-Actualising persons, has definitely challenged the ordinary psychologist's prejudice against the use of subjective experiences. He claims that atleast in subjects dealing with the human personality, we can not progress very far, without combining the information got from subjective experiences—of several persons ofcourse—with objective and behaviorist studies, which he calls Spectator Knowledge[26] (pp. 45-47) William James did that; all psychoanalysts also hear the experiences of patients, and even their dreams. G. Murphy also suggests that in the study of mysticism, both methods should be used ; 'perhaps the two will meet' [27](p. 498). Hence we may take it, that :—*A Combination of Subjective-Experience-Studies with Objective-Studies appears to be necessary in investigations on Mysticism* (II).

Of considerable interest in this connection, is the voluminous amount of research done on Mind Changing or Consciousness Expanding drugs, like L.S.D., during the last two decades. These drugs manufacture mystic experiences, like Visions, Cosmic Consciousness, the fading of self-nonself boundaries, witnessing the body as a separate self, etc. This research also utilises the subjective drug-experience alongside objective studies of various types.

These drugs produce ruinous results sometimes, chiefly in the hands of amateurs. Hence governments have considerably restricted their distribution. Otherwise they are remarkable. They even produce sometimes persistent personality improvement. Alcoholic addicts and criminls may get corrected ; autism—a type of insanity in children—may get cured. R. E. Mogar's work in

this connection, on 'normal' persons is interesting. You can not dismiss all this as fake—mysticism. Even the philosophical 'Insights' of drug subjects, though sometimes exaggerated, are in general of the same type as those of genuine mystics. Bhang has been used by Indian pseudo mystics for ages for manufacturing spiritual experiences. These new drugs do the same thing more effectively ; and yet they have no deleterious after effects characteristic of narcotics like Bhang ; nor do they produce addiction, to a marked degree.

Research has indicated still other methods of procuring mystic experiences, and without any drugs also. Martha Crampton a Canadian associate of R. Assagioli, has used a variation of an old Indian mystic technique—the 'Who Am I' Questionnaire (W, A, I). This was the favourite technique of the recent great Indian mystic, Shri Ramana Maharishi. Crampton has added Visualisation to it. She asks her subjects to visualise in imagination, with eyes closed, the inner and still inner layers of their personality, while she is guiding them gradually, with her questions to the Innermost Core. She asks the subjects to assume the Rouke's Onion-Skin-Layer Model of Personality. Many of her subjects get spiritual awareness, or a glimpse of the Trans-Personal Self. They perceive 'Bright Light' at the Core, as some mystics do. Like the mystics and L.S.D. subjects, they regard that Light as even more real than the world. Miss Crampton gave recently a public demonstration of this technique on an entirely unprepared subject, in a meeting of psychologists. One of those psychologists tried this technique on himself, while the demonstration was going on. He felt Subject-Object boundaries fading ; joy ; happiness etc. After the Visualisation Experience, subjects feel a sense of freedom, a healthy effect on personality. Mental patients are treated by this method[28] Again a few subjects tried under A. J. Deikman (of Austin Riggs Res. Centre, Mass., U.S.A.), open eyed perceptual concentration on a vase, but in a non-analytical manner. They also got mystic-like experiences[29]. It is also known that privation, isolation, fasting, penance etc., can also excite Spiritual Experiences[27]

(p 490). The traditional Hindu Epic Poet, Valmiki—very probably the first human being to write poetry—got his Illumination, they say, by repeating God's Name, but somehow by mistake in the reversed form. Lord Tennyson got a mystic Experience by repeating his own name

The prevalence of tensions and conflicts in human society aroused the conscience of psychologists. They found that from infancy, we have begun to think in terms of certain categories, which are definitely of human manufacture—imposed by domestic or cultural influences on us. On Hartmann's hypothesis, these categories, like our muscular behavior, get 'automatized'. Thereafter even our thoughts and perceptions get de-limited by them, like those of a neurotic. For instance categoric distinctions like Hindu-Muslim, White-Negro, Free-Man—Communist etc. etc., get deeprooted in our minds. They arouse atonce strong emotions of love-hatred in us. We fail to see the Reality of the 'Real Man' behind these words, even in our perceptions. If we include along with these categories, others like Thine-Mine, Pleasant-Unpleasant etc., we find the whole lot, equivalent to the 'Nama-Rupa' (Name and Form) of the philosophy, at the back of Jnana Yoga (Philosophical mysticism). According to that philosophy also, the Nāma-Rupa are man-made ; they conceal from our view, the omnipresent Reality behind the Universe, the Sat-Chit-Ananda. Gill and Brenman developed the idea of de-automatization ; and it is surmised that all mystic and mystic-like experiences, merely de-automatize the personality[29].

Since this neurotic-like distortion of our perceptions is characteristic of the whole of humanity, at the present level of its culture, Trigant Burrow (of the Lifwynn Res. Found., Connecticut, U.S.A.) calls it 'The Neurosis of Man'[30] He calls the whole group of such categoric prejudices and pre-possessions of an individual, his 'I-Persona.' The Semanticists in the west (i.e. those who deal with the Meanings of Words) have evolved a long and tedious discipline for getting above such thinking in prejudiced categories, and for 'learning to experience (the world) at non-verbal levels,'[27] (pp. 390-391). T. Burrow used instead,

for the self-same purpose, another slow and steady psychological procedure. A team of psychologists lived toghether, constantly looking at their subjective experiences, examining themselves and each other, so as to eliminte all prejudices and pre-possessions. The state of mind when the entire crust of the 'I-Persona' has been eliminated, has been called 'Co-tention' by Burrow.

It is remarkable, how the west, in its gropings, has evolved non-mystical disciplines, which aim like mysticism, at de-automatization. Indian mystic circles also know of techniques, which do not involve any mystic experiences. The Bhagawad Gita advocates for instance only Selfless Activity, surredering the fruits of action to God. This is called Karma Yoga. J. Krishnamurty, a living Indian mystic of very high repute, also does not advocate a resort to any mystic trances or visions. He thinks that a mere Spectator Type of Mental Attitude (he calls it Passive Awareness) will suffice to correct the mind. Jnana Yoga, Ashtanga Yoga, as well as Buddhism have also recommended this attitude, in their techniques. However all these methods with and without mystic experiences, are long and laborious. It is wonderful, how drugs like L. S. D. or methods like those of Miss Crampton, by-pass all that labour, and give to man, atleast for a short interval, the de-automatized view of Reality, as given to an infant or a child or to a genuine mystic

T. Burrow's theory gives a physiological explanation of how thinking in fixed categories, de-limits our perceptions. He thinks that this sort of categoric thinking gets stored as a hard crust in our fore-brains. Thereafter our responses to our environments are restricted to the forebrain only; and the natural method of response of an infant or a child, as an integrated complete organism, gets lost to us. This leads to several chronic changes in our physiological make-up and behaviour ; e.g. Changes in the breathing rhythm, in the electric waves in the brain disclosed by the E.E.G., in the capacity to fix our vision etc. These physiological differences, between those who have learnt 'Co-tention' and those who have not, are the objects of current research at Lifwynn Foundation, by Dr. Burrow's associates, after him.

From the voluminous literature, on such mystic-like Experiences, and such non-mystic gropings in the west, with aims akin to mysticism, the following conclusions appear unavoidable :—

There is nothing mysterious, or supernatural in such so called 'Mystic Experiences.' Given the proper physio-psychological conditions—the brain, nerves and glands ofcourse included—, and given the appropriate suggestion from within or without, these 'Experiences' appear. The Hindu mystic calls those conditions, the right 'Guna' ; the physiologist would call them 'appropriate body chemistry' ; but the exact nature of those conditions, in modern scientific terms, still awaits research. There is no supernatural miracle, very probably, even in the 'Conversion' effects of mystic experiences. They may be psychologically explainable (III).

Even the philosophical 'insights' of mystic or mystic-like Experiences, may, for aught we know, be only an alternative view of Reality, available in the de-automatized State, not the Rock-Bottom Reality Itself (Compare, Semanticist, Hayakawa and psychologist G. Murphy)[27] (pp. 390-391 and 497-498) (IV).

It is quite possible for ordinary persons, even without mystic practices, to 'mature' psychologically into a State, where they become liberated from neurotic-like distortions of perceptions as well as categoric prejudices, common in human society. This may perhaps be a step to some Super-Man State (V).

The researches of the Lifwynn Foundation make us suspect that psychological maturity may yield physiological benefits as well (VI).

From this point onwards, investigations—textual, experiential and behavioristic—in Indian mysticism, will carry us four steps further, in the search of the Heaven within us. Most of the Mystic Experiences, hitherto cited—called Peak Experiences by A.H. Maslow—as well as L.S.D. Experiences

are trances or states of concentration on some concept. We call them Sa-Vikalpa Samadhi. Besides the general feeling of peace, harmony and Unity, due to partial De-Automatization, the mental conceptions of the subject—his own or suggested—colour the details of such Experiences. Such trances introvert personality, and produce a sublimation or a conversion as Christians call it. But a complete relief from tensions and complexes is much further ahead. Indian Yoga knows Experiences higher than these, which are Conceptless: all mental constructs or thoughts cease in them; they are called *Nir Vikalpa Samadhi*. The writer on the basis of almost daily brief experiences of these States feels, that they *really amount only to Mental and Emotional Relaxation* (VII)

His arguments for this interpretation are:—(1) He feels during such States, even the muscles of the body relaxed; particularly in the region of the neck and the throat, besides the limbs. (2) He has got his relaxations confirmed on the Electro-Encephalograph (E.E.G.) Confidential reports indicate that some highly reputed Meditating Mystics also get similar curves on E.E.G.; some of them get of course more accentuated curves than the writer. (3) The voluminous philosophic commentator on Jnana Yogic Texts, the great Sankara, has written only about 20 verses on the technique of the Experiences for this Yoga[31]. He mentions only one method, and that is evidently 'Relaxation'. He praises it so highly, that it must be referring only to the highest Samadhi, known to Jnana Yoga, the Nir-Vikalpa Samadhi. (4) The term Nir-Vikalpa means literally—without mental concepts. (5) Sankara while praising the method, gives a transcendent philosophical interpretation of it. But western trainers in relaxation methods (e.g. Schulz, Jacobson etc.) as well as Indian Hatha Yogis, starting with muscular relaxation, are reported to be reaching the self same mental relaxation. Some Christian mystics also, narrate experiences of 'Quiet' or 'Silence'. The Bhava Samadhi of the Indian Bhaktas and the Shunya States of Buddhist mystics may also perhaps be similar, if not the same. How can Sankara's Vedantic transcendent interpretation of that 'Silence' describe

a State reached by so many different methods, some definitely physiological. (6) A very sensible restraint in all scientific literature, is to be content with scientific terms and descriptions, as long as they describe the phenomenon adequately.

There are deeper Samadhies, not experienced by the writer, in which even the Ego gets completely relaxed ; even pinpricks are not perceived. There are States in which the lungs and the heart also work very slowly and a sort of suspended animation, with consciousness still persisting, supervenes. The Asamprajat Samadhi of the Ashtaṅga Yogis, the ascent of the mysterious Kundalini into the brain, and some Jhanas of the Buddhist schools etc. appear to be of this nature. The psychological effect of all Samadhies, is unmistakeably a relaxation of the tensions in the Unconscious. They also prove experientially, that the world, its pleasures and pains, and even the ego, can be relaxed at will, or rolled like a map, when ever we like ; they should not therefore be taken too seriously.

Indian mystic opinion claims that the deeper shades of Samadhi yield also some sort of transcendental contact with the Cosmic Reality—may be the Cosmic Psychic Field of G. Murphy's Field Theory. It is claimed that these Samadhies can draw upon the energies of that Field for working those miracles, which are attributed to mystics. This claim deserves to be tested by actual research, so as to discover the exact limits to which those miraculous powers can go. But it is unanimously agreed by all mystics, from the Great Buddha downward, that the desire to possess those powers or to exhibit them, is distinctly detrimental to mystic progress. These powers are only a side by-product of mystice ffort ; they are not the end. Besides that

A very large consensus of mystic opinion, regards all Samadhies, even the deepest, to be merely a means ; the End is the Jiwana Mukta (ie liberation in life) State, also called the Sahaj (At-Ease) State, or the Sthita Prajna (Stable Mind) State. It is not a Trance State ; it is a realistic life, but with an altered outlook (VIII)

Gaudapadya, the Grand-Guru of Sankara, says[32] that a votary should not get attached to the bliss of Samadhi. This shows that he regards complete non-attachment, and not merely the Bliss of Trance States, as the goal. 'This is your bondage, that you practice meditation', says the ancient Sage, Ashtavakra[33]. Arthur Osborne, a disciple of the recent great mystic Shri Ramana Maharishi, confirms, by quotations from his Master, that the Sahaj State and not the Samadhi is the end.[34] Several scholars, including the the monumental work of S.N. Dasgupta[35] confirm that except for some—not all—schools of the Bhakti cult, all mystic schools of Hinduism, and all the principal schools of Hindu Philosophy, regard Jiwana Mukta State as the Goal of all mystic effort. Some Bhaktas of course regard God-Vision and that alone, as the end—superior even to the Jiwana Mukta State ; tbut there is the top Bhakta, Kabir, on the other hand, praising the Sahaj State. Just look at his almost sacrilegious frankness :

कबीरा सहज समाधि भली

भला भयो हरि बीसरो सिर से टरी बलाइ ।
जैसे थे तैसे भए अब कुछ कह्यो न जाई ।।१।।
मन ऐसो निर्मल भयो जैसे गंगा नीर ।
पाछे पाछे हरि फिरत कहत कबीर कबीर ।।२।।

Excellent is Sahaj Samadhi, O Kabir !

It is good that God is forgotten ; a great calamity has follen from my head.

I have regained my pristine condition ; it is indescribable.

My mind has became crystal clear, like the water of the ganges

God himself, keeps following me, and calling, oh Kabir !

Some Christian mystics like St. Theresa, whose techniques of Love resemble those of Indian Bhaktas, also speak of a '*Unitive Life*', which appears to be similar to the Jiwana Mukta State. Similarly the *Boddhisattwa State* of the Buddhists, the *Vita-Raga State* of the Jains are also either the same or alteast

very much akin to the Jiwana Mukta State. Among the Sufis, there are pantheists as well as theists. Some scholars think that the Sufi State of *Baqua*, above their stage of Fana (i.e. merging in God or Haq) is equivalent to the Jiwana Mukta State. Others say, that their *Haquiquat State*, above even Maarfat (or Knowledge of Haq) is equivalent to it. A Sufi Persian Text[36] matches the frankness of Kabir by declaring that the final stages consist in the Renunciation of God and the Renunciation of Renunciation itself (i.e. Realism).

Thus barring just a few mystic schools, which persist in putting the *Jiwana Mukta State*, just a little below the very Summit of their mystic ascent (perhaps due to some misunderstandings), *practically all mystics recognise this State as their goal on earth. The techniques of getting spiritual Experiences vary from school to school, their philosopies are different, but here in this Great Goal, they all meeet. Evidently that is the Heaven on Earth, which mysticism offers to man* (For details on this subject, please see the writer's article[23] (IX)

Now we will see what are the characteristics of the Jiwana Mukta State ; and we will notice by the way, that the Super-Man Ideal, which various psychologists, in their gropings have been expounding, is also included in that State. The Integration of Personality, Psychological Maturity and Self-Actualisation of Maslow, the Psycho-Synthesis, at individual as well as universal levels of R. Assagioli, the Productive Character of Erich Fromm, all come well within the Jiwana Mukta State.

The writer has been having temporary experiences of this State, or very much evidently akin to it, since 1943 ; the first one lasted 48 hours (Please see[21,22,23]), The reasons for his thinking so are :—(1) If a type of experience lasts sometimes for hours together, and keeps on maturing for years, exhibiting fresh details, one can not dismiss it merely as a passing mood. (2) The writer's experiences, have disclosed psycho-physiological corollaries of that State, which mystic texts do not or just rarely, notice (probably they do not want to risk the votary's becoming body-minded). (3) The writer's experiences have

of course been temporary ; but even the Gita mentions a very high mystic ideal—The Gunatit—i.e. a State in which the equanimity of the Jiwana Mukta State sometimes goes away ; but the Gunatit is not worried on that account ; he considers these changes as only due to the play of the 'Gunas', or 'body chemistry.' (4) Some high mystics haveas sured the writer that he is on the right line. (5) Very probably, perfection in this as in other human achievements, may be an asymptotic ideal. It may require a healthier body than the writer has.

Any way here are the characteristics of the Jiwana Mukta State, the Heaven Within Us :—*1.* Happy and buoyant; yet tranquil. Frustration as well as elation are equally tolerated It is Emotional Stability or Emotional Stasis, as Schindler calls it.[17] *2.* It is an 'At-Ease' Life, (Sahaj) with no protracted tensions. Activities and drives, normally involve tensions; but a Jiwana Mukta Person, relaxes immediately such an activity or drive is completed. *3.* One feels Free or Liberated from all gnawing desires, or enslaving attachments (Jiwana Mukta). *4.* In that State, work is concentrated and efficient, judgment impartial and sound. *5.* A feeling of Oneness with the All. *6.* Unselfishness and Detachment (See the Bhagawad Gita, II-50 to 71). The last two traits are basic or fundamental ; without them, other characteristics can not be acquired; In fact all these traits are one integral whole, with unselfishness and detachment at its core.

Besides the above traits mentioned in mystic texts, the writer has observed the following psycho-physiological corollaries during his own temporary experiences. *1.* No day-dreaming. Living so to say in the living present. No brooding over the past or worrying about the future (Efficiency and concentration in work mentioned above, may be a consequence of this). Thoughts do not wander, but rest relaxed, when not directed to speech or action. The mind, on such occasions, may merely enjoy, in a relaxed manner, the beauty and variety in Nature and society, around. *2.* Even the tension of philosophical inquisitiveness—so natural to a meditating mystic—

gets relaxed. Philosophical problems do not get solved ; but all of them get somehow dissolved, so to say. Like a scientist such a mystic is prepared to wait, until some suitable clue for their solution appears. He takes no pleasure in mere endless logical discussions. *3.* The mystic finds every view or sound, fascinating or charming, as L.S.D. subjects do. Even plain food and plain water appear tasty. *4.* He feels free from the narrow shackles of the individual self, as some subjects of L.S.D. also do. Similarly like some subjects of L.S.D., the mystic feels as if he were actually participating in the feelings of others ; their weals as well as their woes ; but only as an onlooker, without tension. *5.* Complexes cause tension ; hence they jar upon such a generally tensionless mind. Thus even when a votary begins to get the Jiwana Mukta State temporarily—i.e. only on occasions—the complexes in his Unconscious get exposed to him, without the revival of infantile memories (as in Freud's Psycho-analytic methods). His relaxations during Samadhi make his mental moods plastic. So whenever, he finds a complex producing tension, he alters his mood and thus attempts to eliminate that complex. Complete elimination of all compleses, is of course a matter of time. *6.* One is thus no longer a slave of impulses (cf [37] p. 281). *7.* In decisions, one is quick or prompt. No ambivalence or hesitations. *8.* One tends to walk, with spine erect ; eyes directed towards higher objects. *9.* There is no bigotry or rigidity in thought ; one becomes open minded like a genuine scientist. There is toleration for other faiths. *10.* Since unselfishness is the essential core of mystic life, ethical living becomes just spontaneous and effortless. There is no mental conflict, and no exercise of a dominant will is needed, for securing moral conduct. *11.* Aesthetic tastes for Art, Poetry or Music tend to get developed. *12.* Besides these, here are other physio-psychological benefits of Samadhi and the Jiwana Mukta State, which the writer is still examining, by observation, and by consultation with mystics. For instance, this State appears to improve physical health also. Slight indispositions of any type, or the first beginnings of common ailments, like fever, cold etc. get corrected by mere relaxation

of the mind and emotions. Living constantly in the Jiwana Mukta State tends to control even chronic diseases of a psycho-somatic nature. The faculty of making correct intuitive decisions—E.S.P. as psychologists call it these days—gets improved. Last but not the least, creativity is excited and potentialities at the base of the mind tend to get developed (Compare[37] pp. 34-37, 126 and 322).

Such is the Heaven, which Height Psychology or the Psychology of Mysticism, makes available to man. It is distinctly a superb type of happiness and efficiency ; it is freedom from impulsive slavery ; it amounts to 'Full Functioning', as Maslow defines it. A Jiwana Mukta Person, may not become a Prince, vanquishing all his enemies. His success in life, will depend to some extent, on the level at which the society around him stands. His success in his own profession also may not bring him top laurels ; he may not become the best artist, poet or scientist, as a result of his enhanced creativity. But he will utilise the potentialities, inherited by him and lying dormant in his body and mind, to the best advantage possible. We must realise that we are living in a world of only comparative excellences, not of superlative perfection. All the same, even such attainments, as have been listed above, are highly tempting ; very much worthy of our earnest efforts. No psychologist, sociologist, priest or theologian, has perhaps anything comparable on earth, to offer.

The earlier we forget that Height psychology or Mysticism is something mysterious, reserved for exceptionally noble souls, the better. The problem of escaping from psycho-somatic disease, from social conflicts, and from nuclear holocaust, brooks no delay. We have noticed that there are methods of attaining to the Heaven Within Us, which do not require any mystic Experiences ; and even the Experiences are only a means to the End, which consists merely in a New and Better Outlook on Life. Neither celebacy, nor any type of penance or 'Sick Soul' Stage (Vairagya) is a necessary preparation for it. Preparatory steps depend upon techniques chosen and ones own

antecedents. There is a Punjabi verse, which says :—I got a proper Guide ; and he gave me the proper technique. Laughing and playing, eating and drinking, I got my salvation, by the way.

Overburdened by a transcendental, instead of a psychological view of mysticism, and by our fatalism, we in India, are losing our initiative in the field of Yoga ; while the west in its gropings, working with a scientific outlook ,is developing new techniques. Joseph Kamiya, of Lifwynn Foundation, has evolved a method of training people in Rexalxation (Nir-Vikalpa State) with the help of the E.E.G. He reports 80 percent success in forty sittings only[38] We also, have traditional methods of very quick achievement. The Kundalini can be made to ascend, or the Shambhavi Mudra (most probably, constant cosmic consciousness) can be taught by an able Guide, by mere touch, within an instant. But all such techniques require a lot of caution and involve risks in case of inappropriate use. Even the L.S.D. and the Visualisation method of Miss Crampton have their risks for persons who have traces of mental disease already in them. It is high time that we shed our pessimism that Yogic attainments develop, only after a series of pious births. We should preserve our old techniques, and by research and seminars of Yogis, discover the methods of eliminating the risks, involved. The high tide of hedonism sweeping the country today, is killing our Yogic attitudes at a rapid rate. We do not bring in the Karma Theory fatalism, when we rush headlong in pursuits of worldly riches ; that theory becomes an easy excuse, only as regards spiritual pursuits.

Actual eradication of mental complexes may take a long time ; but any effort in that direction is amply paid for. The fruit of it is 10,000 times greater, according to Schindler. It builds physical health as well as mental felicity[17] (pp. 86-88) About half an hour or an hour per day, for every adult, spent in reading some literature on ethical or spiritual values, and in practising some sort of a mental and emotional relaxation, by any method, that may suit a person-mystical, psychological or

physiological—would be a worth while step towards the Heaven Within. We spend so much time, and for so many years on end, for academic or financial purposes ; we waste so much of our time in idle gossip. This is not a heavy bill for happiness for oneself and for harmony on the globe. If our womenfolk and teachers, from the Nursery upwards, learn the art of channeling the impulses of children, and of restraining them by persuasion and understanding, instead of suppression or repression ; and if further an attitude of unselfish charity and social service is nurtured from childhood upto youth, and the prersonality of children is thus expanded to the limits of the whole of society ; then very probably the complexes will not from such a hard crust, and the Heaven Within may become more easily accessible to every human being. The poet Tulsidas has rightly remarked :—

दया धर्म का मूल है, नरक मूल अभिमान ।

'Compassion is the central core of religion ; and selfish egoism is the essence of Hell'. Educationists and Child Psychologists have to tackle this problem, as a piece of vital and urgent research.

A Joint Commission of the U.S.A. Govt., on Mental Illness and Health held a Seminar of distinguished specialists in 1958, inorder to define the traits of Positive Mental Health. The Report on this point, written by Marie Jahoda[39], along with the opinions of several other distinguished writers ,and representatives of the W.H.O. gave to the writer, a list of the principal traits of positive mental health, known to modern science. The concordance of that list with the list of psychological traits of the JiwanaMukta State, as given in authoritative Hindu mystic texts, is surprising. (A paper of the writer on this subject is awaiting publication). There are only just a few points of difference. The psychologists do not presume, that all the traits of positive mental health, can or need to, co-exist in a particular individual ; they mention unselfishness only casually, as one of the traits ; and they do not regard positive mental health as a panacea. The Hindu Yogi on the

other hand regards Yoga as a holistic attempt, at the re-organisation of personality, or a transformation of the entire outlook on life ; it is not a mere acquisition of some one, two, or three mental traits. *The Jiwana Mukta State appears to be the acquisition of all the traits of positive mental health together and simultaneously—with unselfishmess and detachment, as its core. It may thus be described as Ideal Mental Health. It is the best panacea of human ills, individual and social, that we have* (X) Emotional Stasis according to Schindler is not a milestone ; it is a millennium[17] (p. XXV).

Another difference consists in the lack of emphasis in Hindu Yogic Texts on Realism or a realistic response to the challenges of life. The Bhagawad Gita and the Yoga Vasistha—both of course highly respected and authoritative —emphasise this trait ; others do not ; they do not even mention it, usually As a matter of fact a Jiwana Mukta person may rule a State, as King Janaka did ; he may wage a war, as Arjuna did ; he may agitate for social and political reforms, as Gandhi did ; but he does all this without any protracted or reverberating tensions. Other Yogic texts may not have emphasised realism, lest it may deteriorate into worldliness ; or perhaps they may have been influenced by the current unhealthy trend towards escapism in many Hindu mystic schools.

This concordance of Positive Mental Health with the Jiwana Mukta State, further confirms that mysticism is far from mysterious ; it has important physio-psychological facets, which can be examined scientifically. This also indicates that mysticism is a vital human need, which man can not disregard or neglect with impunity.

This article is meant to be exploratory. The writer has presented his investigations in psychology of mysticism—concealing nothing, out of modesty, and exaggerating nothing for purposes of religious propaganda. The writer would welcome comments from all, particularly from psychologists, interested in psychology of personality, and from mystics, who have had personal Experiences.

The writer himself has discussed his conclusion (X) above, with some living mystics. One comment is that we can not bind a Jiwana Mukta Sage to a life of wordlly activity. He is liberated ; he may temperamentally prefer to remain partially secluded, and engaged in prolonged absorptions. The writer appreciates this comment. India needs engineers more than theoretical physicists ; all the same, some may prefer the latter profession ; and it is worth while that the latter profession also should have some talented persons in it. Similarly if some Jiwana Mukta Sages, take to a life of absorptions, it should be desirable; provided, the fruits of their research are transmitted somehow to society. The mystics whom the writer has consulted all agree that the Jiwana Mukta State is Ideal Mental Health, a veritable heaven on earth ; but some insist that it does a lot more for man. This difference may perhaps be due to misunderstanding. The writer has widened the significance of the term Mental Health, so as to include, Extra-Sensory Perceptions, creativity and the utilisation of latent potentialities. Besides that, on the basis of the discussion on philosophical insights of mystics, and their miraculous powers, already given, the writer somehow strongly feels that the psycho-physiological facet of mysticism, which the writer has been emphasising all through, is the most important and vital aspecct of it, for man. Patanjali, as well as the Buddha appear to be similarly inclined. All the same, if research happens to find some transcendental barriers somewhere, beyond Ideal mental Health, let it go atleast, as far as it can. The Heaven Within_Us, will atleast have been secured.

In conclusion, the writer would like to put in a strong plea for open research—experiential, behaviorist, as well as experimental—on this vital subject. Seminars of all such mystics as are prepared to look at mysticism from a wide, non-sectarian and scientific angle, and are inclined to pool their knowledge for public good, should be held. That will preserve our traditional Yogic skills and develop them in the light of modern sciences of physiology and psychology and with modern

technologidal assistance. We should study all religious and Yogic methods, to see how-far and how well, they lead to the Jiwana Mukta State, for any particular temperaments. Symbolic forms and imagery, though apparently irrational, need not be discarded. They have their value as a means of personal growth[20] (pp. 79, 154, 189-199). The entire world needs such research urgently ; India is the best country for it ; and Banaras, with its hoary traditions of Buddhist and Hindu culture is probably the best place for it. The Banaras Hindu University, with its well staffed departments of Sanskrit, Pali and Prakrit learning, as well as Indology, Philosophy, psychiatry and psychology, is probably the very best institution for research of this nature. The writer has put forward the results of his personal investigations, on the basis of his humble personal attainments in this field. May knowledge grow from more to more in this spiritual sphere, quite as well as it is growing in the scientific and technological spheres.

REFERENCES

1. C. J. Herrick: Evolution of Human Nature—pp. 313, 279-281.
2. E. W. Sinnot: Biology of Spirit—Chaps. III and IV.
3. Pierre. Tielhard de Chardin: The phenomenon of Man. pp 16-17 and 266-307.
4. Gunther: Inside Russia.
5. Boring, Langfeld and Weld: Foundations of Psychology.
6. Report of W.H.O. conference on Metal Health, Helsenki, 1958.
7. D. H. Fink: Release from Nervous Tension.
8. Hans Selye: The Stress of Life.
9. Spurgeon English: Emotional Problem of Living.
10. G. Murphy: Field Theory—Ind. Jour. of Parapsych. Sept. 1959.
11. Govt. of India Publication: Nuclear Explosions and their Effects.
12. A. E. Morgan: Search for a Purpose.
13. Frieda Fordham: Introduction to Jung's Psychology.
14. A. G. Tansley: New Psychology and its Relation to Life.
15. Geraldine Coster: Yoga and Westrn Psychology.
16. K. L. Munn: Introduction to Psychology. Chaps. I & VI; p. 498 for Complexes.
17. J. A. Schindler: How to Live 365 Days a Year.
18. Pamphlets of the Meditation Groups for the New Age.

19. A. H. Maslow: Towards a Psychology of Being.
20. Ira Progoff: Depth Psychology and Modern Man.
21. U. A. Asrani: A Modern Approach to Mysticism—Main Currents in Modern Thought—New York, Sept. 1963.
22. U. A. Asrani: Missing link between Science and Mysticism........ Psychic International, Moradabad, India, May 1965.
23. U. A. Asrani: Samadhi and Sahaj Awastha......Yoga Mimamsa (A Research Journal on Yoga) Lonavla, India, Oct. 1967 to Jul. 1968.
24. W. H. Clark: Psychology of Religion.
25. Erwin Goodenough: Psychology of Religious Experience.
26. A. H. Maslow: The Psychology of Science.
27. E. T. C. (A Journal of Semantics) Dec. 1965 issue, devoted to Psychedelic Drugs.
28. Psychosynthesis Research Foundation: Issue 23......Approaches to the Self; W. A. I. Techniques.
29. A. J. Deikman: Induced Contemplative Meditation......Jour. of Nerv. and Ment. Disease......142-2
30. Trigant Burrow: Neurosis of Man.
31. Sankara: Laghu Vakya Vrtti.
32. Gaudapadya: Mandukya Karikas III. 45.
33. Ashtavakra Gita I. 15.
34. Arthur Osborne: R. M. Bucke Memorial Society Newsletter, Sept. 1966-pp.113-14.
35. S. N. Dasgupta: Hist. of Ind. Philosophy—Vol. II pp. 245-252 and Vol. IV pp. 88, 418, 446, 486.
36. Kashful Mahjul.
37. G. Murphy: Human Potentialities.
38. Joseph Kamia: Psychollogy Today Apr. 1968 (pp. 57-60).
39. Marie Jahoda: Current concepts of Positive Mental Health.

भारतीय मनोविज्ञान : अध्ययन का एक उपेक्षित क्षेत्र

चन्द्रभाल द्विवेदी
मनोविज्ञान विभाग, का० हि० वि० वि०

आधुनिक काल—विशेषकर विगत तीन दशकों में—ज्ञान-विज्ञान की सभी विधाओं, साहित्य, दर्शन, राजनीति, भौतिकी आदि के साथ-साथ मनोविज्ञान में भी शोध कार्यों की जो एक आदि-अन्तहीन बाढ़ आई हुई है, वह एक व्यापार सर्वथा वर्धिष्णु व्यापार का रूप धारण करती जा रही है। सबसे दुःख का विषय तो यह है कि यह विकसनशील शोध-प्रवृत्ति कुछ नये तरीकों के अनुसन्धान करने की नहीं है (जो यदि होती तो शायद मनोविज्ञान का कार्यक्षेत्र विस्तृत ही होता) वरन् यह केवल नकल करने की मनोविज्ञान से भिन्न विज्ञान की अन्य विधाओं में प्रचलित विधियों के प्रयोग आयात करने की, उनके तकनीक अपनाने की प्रक्रिया का रूप धारण करती जा रही है। विश्वविद्यालयों के आधुनिक शोध एक पूर्वनिर्दिष्ट लकीर पर हो रहे हैं। शोध आरम्भ करने के पूर्व यह मानकर चला जाता है कि हमें चाहे जो भी करना पड़े, निष्कर्ष वही होना चाहिये जो पूर्वनिर्धारित है, अर्थात् एक पूर्वाग्रह की परिपुष्टि के लिए तर्क संग्रह करने का एक सुन्दर-सा नाम रख दिया गया है—'रिसर्च'। अर्थात् यह रिसर्च किसी सत्य की नहीं, पहले से निर्दिष्ट परिणामों को पुष्ट करने के लिए साक्ष्य-संग्रह की।

ये उद्देश्यहीन, दिशाविहीन, निर्मूल्य और लक्ष्यभ्रष्ट शोध प्रायः ऐसे विषयों पर किये जाते हैं जो पूर्वापर सम्बन्धहीन होते हैं। और यही कारण है कि कदाचित ही कभी वे किसी सारयुक्त सन्दर्भ या मूल्यवान निष्कर्ष पर पहुँच पाते हैं। शोध कार्य होने ही चाहिये, ऐसी शुभाशंसा रखते हुये भी मन के किसी अज्ञात कोने में यह प्रश्न उठता है कि क्या ये वास्तव में शोध हैं भी, और क्या इस प्रवृत्ति का ही परिशोध आवश्यक नहीं है। आधुनिक शोध निबन्धों को पढ़कर पाठक के (चर्चा दीक्षित-स्नातकों से सम्बन्धित है) मन में यह प्रश्न उठता है 'तो आखिर क्या ?' आज के अधिकांश शोध विवरण एक ऐसी समझ में न आनेवाली, तथाकथित 'टेक्निकल' भाषा में प्रकाशित होते हैं जिन्हें समझने के लिए 'द्रविड़ प्राणायाम' करने पर भी साफल्य लाभ नहीं होता। अनेक विशाल परिकल्पनाओं, सुन्दरतम फलकों, सारिणियों, रेखाचित्रों से सुसज्जित ये विवरण लेखक को एक मृग-मरीचिका का भान करा देते हैं। संक्षेप में कहें तो ये शोध 'सारहीन केवल दिखावे मात्र हैं' (ऑल् फार्म ऐण्ड नो सव्स्टेन्स)।

भारत में मनोवैज्ञानिक शोध : अब तक की उपलब्धि

विदेशों में परित्याप्त इस स्थिति का अनुशीलन कर चुकने के पश्चात् जब हम भारत में अवस्थित दशा का मूल्यांकन करने में समुत्सुक होते हैं तो और भी बदतर स्थिति से साक्षात्कार होता है। शोध कार्यों का अध्ययन यह बतलाता है कि हम विधि व विषय तक के मामले में अमरीका या ब्रिटेन में किये गये शोधों पर आश्रित हैं। नयी दिशायें, नवीन

परिकल्पनाएँ तथा नवीन मानदण्ड प्रस्थापित कर सकने वाले ऐसे शोध, जो किसी भी विकसनशील विज्ञान की थाती बन सकें, उँगली पर गिने जाने लायक हैं। इस पराङ्मुखी प्रवृत्ति से खीझकर डा० पण्ढरीनाथ प्रभु ने कहा—"इस देश के जवान या बूढ़े, नवीन या पुरातन सभी मनोवैज्ञानिकों में एक होड़-सी लगी हुई है कि कौन विकसित देशों में किये गये प्रयोगों की कितनी अच्छी नकल कितनी शीघ्र कर ले सकता है। इस मनोवृत्ति का प्रकटीकरण यहाँ के मनोवैज्ञोनिकों की उस प्रवृत्ति में होता है जो उन्हें अन्य स्थानों पर किये गये शोधों का पुनर्परीक्षण, यहाँ तक कि नकल करने की प्रेरणा देती है।"[१] अनुकरण सर्वथा बुरा या हेय होता हो, ऐसा नहीं है परन्तु अनुकरण आगे बढ़ने के मार्ग में एक प्रतिबन्धक अवश्य हो जाता है। अनुकरण करने की प्रवृत्ति का सबसे बड़ा दोष यह है कि अनुकरणकर्त्ता अपने से पूर्व के किसी अनुकरणकर्त्ता को अपना आधार बनाता है और वह द्वितीय अनुकरणकर्ता भी अन्य किसी को अपना आदर्श मानकर चला रहता है। इसके साथ-साथ जब अनुकरणकारी शोधक अपना कार्य सम्पूर्ण कर उसको जन सामान्य के सम्मुख रखना चाहता है तो उसे पता चलता है कि वह आधार, जिसको आदर्श मानकर उसने अपने शोध प्रारम्भ किये थे, ही बदला जा चुका है, परिष्कृत या अस्वीकृत किया जा चुका ह। "फल होता है कि नकलची शोधक बहुधा जीर्ण-शीर्ण, तिरष्कृत, बहिष्कृत व अस्वीकृत मान्यताओं के आधार पर अपने शोध आरम्भ करता है जिनकी कि या तो भित्ति ही बदल दी गई रहती है या अमान्य कर दी जा चुकी रहती है।"[२]

इस कटु सत्य का दर्शन हमें विगत ४४ वर्षों में मनोविज्ञान में किये गये शोध कार्यों पर बिहंगम दृष्टि डालने से हो जाता है। प्रायः १६७५ अनुसन्धान कार्य भारतीय विज्ञान परिषद् के विभिन्न अधिवेशनों में प्रस्तुत किये गये। परन्तु इन कार्यों से भारत में मनोविज्ञान के प्रचार-प्रसार में क्या योग मिला ?

सारणी सांख्य १ 'भारतीय विज्ञान परिषद्' द्वारा प्रकाशित सारांश (एब्स्ट्रेक्ट्स) के आधार पर बनाई गई है। यद्यपि यह सूची किसी भी प्रकार पूर्ण नहीं है तथापि देश की प्रतिनिधि संस्था द्वारा प्रकाशित ये विवरणस्थूल लेखा-जोखा अवश्य उपस्थित करते हैं:

उक्त तालिका के निरीक्षण से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं:

१. भारतीय मनोवैज्ञानिकों द्वारा विगत ४४ वर्षों में प्रस्तुत किये गये निबन्धों का औसत ३८.०७ निबन्ध प्रतिवर्ष है। जब कि शास्त्री (सन् १९३२ पृ० ४३७) द्वारा प्रस्तुत १९२५ से १९३२ के ८ वर्षों में प्रस्तुत किये गये निबन्धों का औसत मात्र २८ निबन्ध प्रतिवर्ष है। डा० जोशी (१९६५ पृ० ३१) द्वारा प्रस्तुत सन् १९२५ से '६५ तक के सर्वेक्षण में प्राप्त औसत संख्या ३५ निबन्ध प्रति वर्ष है। परन्तु सर्वाधिक वृद्धि विगत ८ वर्षों के भीतर रही, जब कि प्रस्तुत किये जाने वाले निबन्धों का औसत ७० निबन्ध प्रति वर्ष रहा।

---

[१] डा० पी० एच० प्रभु (१९६३) स्टेट ऑव सायकालाजी एज़ ए साइन्स टुडे, अध्यक्षीय भाषण, मनोविज्ञान व शिक्षा विज्ञान विभाग, प्रोसीडिंग्स ऑव फिफ्टीयेथ् इण्डियन साइन्स कांग्रेस, दिल्ली पृ० ३००।

[२] वही पृ० ३००–३०१।

सारणी सं० १

भारतीय विज्ञान परिषद् में सन् १९२५ से १९६८ तक मनोविज्ञान व शिक्षण विज्ञान विभाग के अन्तर्गत प्रस्तुत शोध-पत्रों का विश्लेषण +

वर्ष । क्षेत्र	प्रायोगिक	शिक्षा व विकास	सामान्य व सैद्धांतिक	असामान्य व चिकित्सा	मनोभौतिकी व मनोआकलन	निर्देश व ैद्योगिक	समाज	व्यक्तित्व	भारतीय मनो० व धर्म	सौन्दर्य शास्त्र	अपराध	योग
सन् १९२५ ई० से १९६० ई० तक	३३८	१४५	१५९	१३९	१०९	९३	५०	३६	३०	११	५	१११५
सन् १९६१ से सन् १९६८ तक	७२	११९	१४	४०	५५	५८	१०५	८५	—	२	१०	५६०
योग	४१०	२६४	१७३	१७९	१६४	१५१	१५५	१२१	३०	१३	१५	१६७५

+ प्रोसीडिंग्स् ऑवइण्डियन साइन्स कांग्रेस, सन् १९२५ से १९६८ के आधार पर।

२. प्रायोगिक, शिक्षा, असामान्य व सामान्य मनोविज्ञानों में प्रस्तुत पत्रों की संख्या अधिकतम थी जब कि भारतीय मनोविज्ञान, सौन्दर्य व अपराध मनोविज्ञान में सर्वापेक्षा कम निबन्ध प्रस्तुत किये गये।

३. विगत ८ वर्षों में जहाँ अन्य क्षेत्रों में विकास हुआ है वहीं भारतीय मनोविज्ञान व धर्म पर कोई भी कार्य इस देश की प्रतिनिधि संस्था के सम्मुख उपस्थित नहीं किया जा सका। इस प्रकार हमारी परमुखापेक्षी प्रवृत्ति का स्पष्ट चित्र हमारे नेत्रों के सम्मुख आ खड़ा होता है।

४. भारतीय मनोविज्ञान सर्वाधिक उपेक्षित क्षेत्र रहा। इसमें प्रस्तुत निबन्ध कम तो रहे ही, साथ ही साथ सभी निबन्ध सैद्धान्तिक महत्व के थे। इनके प्रायोगीकरण की ओर किसी ने ध्यान दिया ही नहीं।

प्रश्न यह होता है कि भारतीय मनोविज्ञान, जो आज भी नवीन होने के कारण विदेशी वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट कर रहा है, वह भारतीय मनोवैज्ञानिकों द्वारा इतना उपेक्षित क्यों रहा ?

भारतीय मनोविज्ञान : ऐतिहासिक विकास

मनोविज्ञान का उद्‌भव मानवता के साथ एकाकार है। वेद विश्व के आद्य ग्रन्थ माने जाते हैं, और इन वेदों में मनोविज्ञान के गूढ़, गहन, गम्भीर व सुस्पष्ट सिद्धान्त सूक्त, कथानक या अन्य रूपों में अनुस्यूत हैं, विचित्र और विलक्षण। मन के स्वरूप का ऐसा पूर्ण और सुन्दर विवेचन हमें शुक्ल यजुर्वेद के शिव संकल्प सूक्त (अध्याय ३४) में मिलता है कि यह भान होने लगता है कि वास्तव में यदि कहीं पूर्ण विकसित मनोविज्ञान है तो वेदों में ही है। मन, जिसका अध्ययन पाश्चात्य दार्शनिक असम्भव कह कर छोड़ देते हैं, उसका इतना सुन्दर, सांगोपांग, गुह्यतम रहस्यों को अनावरित करने की यह चेष्टा और हमारे द्वारा उन्हीं ऋषियों की उपेक्षा—कैसा विरोधाभास। इन्हीं तथ्यों को जानकर हर्ष से अभिभूत प्रो० शास्त्री कह उठते हैं—"यह वास्तव में असाधारण व अत्यधिक आश्चर्य का विषय है कि इतने प्राचीन काल में भारतीय चिन्तकों ने इतने बहुमूल्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों की उद्भावना की, जब कि पाश्चात्य सभ्यता अन्धकार के अतल तल में कहाँ छिपी थीं, अज्ञात है।"[१] उपनिषदों में मनोविज्ञान की विभिन्न प्रवृत्तियों का यथातथ्य तथा सुसमंजस विवरण मिलता है (उपनिषदों में उपलब्ध मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का विवेचन आगे किया जायेगा)। "यद्यपि उस ज्ञानराशि के एकत्रीकरण की प्रक्रिया से अहमत होना अस्वाभाविक नहीं, परन्तु उस युग में उपलब्ध मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का वैसा सुन्दर व विशद् विवेचन तथा उन सिद्धान्तों का ज्ञान होना वास्तव में आश्चर्यजनक और विस्मयकरी है। मन, शरीर, इच्छा, ध्यान, बुद्धि, संवेग, स्वप्न, निद्रादि से सम्बन्धित तथ्यों का

---

१ प्रो० एन० एस० एन० शास्त्री (१९३२) ग्रोथ् ऑव सायकालाजी इन इण्डिया, अध्यक्षीय भाषण, मनोविज्ञान व शिक्षा विज्ञान विभाग, प्रोसीडिंग्स् ऑव इण्डियन साइन्स कांग्रेस, पृ० ४३०।

विश्लेषण उपनिषदों में देखकर उन महामनीषियों की ग्रहणशीलता पर आश्चर्य होता है।"[१]

षड् दर्शनों में मन, शरीर व अन्य सम्बन्धित समस्याओं पर मनोविज्ञानिक सिद्धान्तों का अनन्त भण्डार भरा हुआ है। जैन व बौद्ध दर्शनों ने मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण का श्रेय प्राप्त किया। सांख्य और योग दर्शन में मनोविज्ञान विषयक सिद्धान्त दार्शनिक विचारों के नीचे दबे पड़े हैं। इनमें इतना तार्किक व वैज्ञानिक विवेचन है कि विद्वानों का मत है कि सांख्य दर्शन वैज्ञानिक अधिक है आध्यात्मिक कम। और योगदर्शन में तो मानसिक प्रक्रियाओं की उच्चावस्था की अनुभूति करने के लिए प्रायोगिक मार्ग का निर्देश किया गया है। मानवीय मानसिक क्रियाओं का विवेचन आत्मानुभूति के बाधक मन को लांघने के लिए किया गया है। "इस प्रकार से मन की सभी प्रक्रियाओं का सांगोपांग विवेचन मन से मुक्ति पाने के लिए, न कि मन का ज्ञान प्राप्त करने के लिये किया गया है।"[२] न्याय और वैशेषिक दर्शनों में इन्हीं सिद्धान्तों का विवेचन सरलतम एवं सहजतम भाषा में किया गया है, जो अधिक संगत, तार्किक व सुगम है। प्रत्यक्षीकरण व प्रत्यक्षीकरण की भूलों का विशेष विवरण इन दर्शनों में उपलब्ध मिलता है। इन दर्शनों में आधुनिक मनोविज्ञान की एक समस्या भ्रम व अभिलाषा के सिद्धान्तों का विवेचन मनोवृत्ति के संदर्भ में किया गया है। पूर्वमीमांसा व उत्तर मीमांसा दर्शनों में भी मनोविज्ञान के सिद्धान्त देखने को मिलते हैं। इनमें ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया, प्रत्यक्षीकरण के प्रकार स्वप्न आदि अनेक बहुमूल्य सिद्धान्त छुपे पड़े हैं। श्री शास्त्री[३] ने वैदिक काल से आरम्भ कर मध्य युग तक के दर्शनों में उपलब्ध मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के विकास क्रम का जो यथार्थ चित्र उपस्थित किया है, वह प्रत्येक उस गम्भीर अध्येता के लिए, जो वास्तव में कुछ रचनात्मक कार्य करना चाहता है, अत्यधिक उपयोगी है। इनके अलावा चार्वाक या लोकायत सम्प्रदाय भी मनोविज्ञान की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस दर्शन के सिद्धान्त एक दो पुस्तकों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं। डा० जोशी[४] का मत है कि यदि यह सिद्धान्त आगे चलता रहता तो शायद आधुनिक मनोविज्ञान को जन्म देने वाला, आधुनिक मनोविज्ञान का पिता बन जाता, परन्तु वैसा नहीं हुआ।

भारतीय मनोविज्ञान में शोध : एक दिशा निर्देश

भारतीय मनोविज्ञान, जैसा कि पीछे बताया जा चुका ह, मनोविज्ञान नाम से प्रचलित नहीं था। इसके महत्वपूर्ण सिद्धान्त दर्शनों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उनके एकत्रीकरण

---

[१] डा० मोहन चन्द्र जोशी, (१९६५) सायकालाजिकल रिसर्वेज़ इन इण्डिया, (इन एस० डी० कपूर (सम्पादक) सायकालाजिकल रिसर्वेज़ इन इण्डिया, जलोटा कोमेमोरेशन वाल्यूम, वाराणसी) पृ० २५-३४।

[२] चन्द्रभाल द्विवेदी, (१९६७), योगदर्शन : ए न्यूक्लियस टुवर्ड्स सिन्थेसिस ऑव इण्डियन सायकालाजी, प्रबुद्ध भारत, ७२, २ फरवरी १९६७, पृ० ६९-७४।

[3] प्रो० एन० एस० एन० शास्त्री, (१९३२) ग्रोथ् ऑव सायकालाजी इन इण्डिया अध्यक्षीय भाषण, मनोविज्ञान व शिक्षा विज्ञान विभाग, प्रोसीडिंग्स ऑव इण्डियन साइन्स कांग्रेस १९३२, पृ० ४२९-४५८

[४] डा० मोहन चन्द्र जोशी (१९६५) ऊपर उद्धृत।

का कार्य और उसका दायित्व एक व्यक्ति तक सीमित नहीं है, हो भी नहीं सकता। नीचे लिखी सामग्री एकांगी हो सकती है (है भी)। अतः किसी भी उत्साही शोधकर्त्ता को केवल नीचे लिखी सामग्री पर ही निर्भर न करके स्वयं मार्ग प्रणयन की ओर अभिमुख होना अधिक उत्तम रहेगा। निम्नलिखित विवरण में, उन विषयों का जिन पर शोध कार्य किये जा सकते हैं, रेखांकन करने का प्रयास किया जायेगा।

सर्वप्रथम हम उपनिषदों से आरम्भ करें। विभिन्न उपनिषदों में निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक सामग्री उपलब्ध है :

	विषय	स्रोत
(क)	इन्द्रियानुभूति की प्रकृति और विभिन्न इन्द्रियों के अन्तःसम्बन्ध	बृहदारण्यक ३.२।
		कौशीतकी २.२।
		कौशीतकी ३.६।
(ख)	इन्द्रियों की उत्पत्ति और उनका अभिन्नत्व	छान्दोग्य १.२।
		बृहदारण्यक १.३।
		मैत्रेयी २.६।
		ऐतरेय २.४।
(ग)	इन्द्रियों और प्राण में सम्बन्ध	छान्दोग्य ५.१।
		कौशीतकी ३.३।
		ऐतरेय ३.१-६।
		बृहदारण्य ६.१, ७-१४।
(घ)	प्रत्यक्षीकरण में ध्यान का महत्वपूर्ण भाग	प्रश्न २.३-४।
		क० २.१।
(ङ)	प्रत्यक्षीकरण में ध्यान के नियामक व ज्ञाता मन का स्वरूप	कौशीतकी ३.४।
		बृहदारण्यक १.५-३।
		कौशीतकी ३.७।

इनके आलावा निद्रा का स्वरूप, स्वप्न व उसके कारण आदि का भी विवेचन इन उपनिषदों में मिलता है।

उपनिषदों में प्राप्य सामग्री का अनुशीलन कर चुकने के उपरान्त अन्यत्र उपलब्ध सामग्री पर एक दृष्टि डालना क्रम प्राप्त है।

सबसे पहले हम प्रत्यक्षीकरण को लें। प्रत्यक्षीकरण पर प्रायः सभी दर्शनों ने अपनी दृष्टि से विचार किया है। इन विभिन्न विचारों का संकलन डा० यदुनाथ सिनहा[1] ने अपने महत्वपूर्ण पुस्तक 'इण्डियन सायकालाजी' के प्रथम भाग में किया है। प्रत्यक्षीकरण पर कार्य करने के लिए वह सामग्री अत्यधिक महत्व की है।

[1] डा० यदुनाथ सिन्हा (१९५८) इण्डियन सायकालाजी, भाग १, काग्नीशन, सिनहा पब्लिशिंग हाऊस, कलकत्ता।

योग दर्शन की एक महत्वपूर्ण देन 'विकल्प' जिसे कल्पना (इमेजिनेशन) कहते हैं, है। यह एक अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है और 'इमेजिनेशन' के आधुनिकतम सिद्धान्तों की तुलना में श्रेष्ठ जान पड़ता है। योग दर्शन सूत्र १.९ पर टीका व भाष्य तथा ४.१५ पर टीका व भाष्य के द्वारा सामग्री का निर्माण। इस सम्बन्ध में श्री प्राण जीवन विश्वनाथ पाठक[१] की पुस्तक 'हेयपक्ष ऑव योग' अध्याय–५ अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

'स्मृति' आधुनिक मनोविज्ञान का एक अनिवार्य अंग है। प्रत्याह्वान्, धारणा प्रभृति विषयों का यथायथ सैद्धान्तिक विवेचन हमें योग दर्शन १.११,४.९,३.१७ टीका व भाष्य सहित में मिलता है। केवल यही नहीं, स्मृति व धारणा से सम्बन्धित अरिस्टाटल के पुरातन व वाट्सन के जिन सिद्धान्तों का (तीव्र पुराने व तीन नवीन इस प्रकार से कुल ६ सिद्धान्त) पाठ कराया जाता है उनसे कहीं अधिक पूर्ण व विकसित सिद्धान्त हमें न्यायसूत्र वात्स्यायन भाष्य (३.२. ४२) में मिलते हैं। वहाँ हमें स्मृति से सम्बन्धित २६ सिद्धान्त मिलते हैं॥ आवश्यकता है इन सिद्धान्तों का प्रायोगिक अध्ययन करने की।

'चेतना के स्तर' एक अन्य महत्वपूर्ण अंश है जिसका अनुसन्धान अत्यधिक महत्व का है। अब तक सिग्मण्ड फ्रायड द्वारा बताये गये चेतन, अवचेतन स्तरों का ही ज्ञान रखने वाले मनोवैज्ञानिकों से यदि कोई पूछे कि क्या किसी ने अब तक अचेतन को देखा है—तो उनका उत्तर होगा— वह दृश्य नहीं, बल्कि अनुभवगम्य है, परन्तु वहीं पर अगर कोई भारतीय (उदाहरणार्थ डा० इन्द्र सेन) उर्ध्व चेतन की बात करता है तो वह कल्पना उन्हें भ्रामक प्रतीत होती है।[२] योगदर्शन अध्याय १ सूत्र ३०–३१ में चेतना के चार स्तर मुढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र बताये गये हैं। जो हमें नित्य प्रति के व्यवहार में सत्य लगते हैं।

'व्यक्तित्व' का क्षेत्र आज के सबसे अधिक महत्वपूर्ण क्षेत्रों में से है। यह देखकर आश्चर्य चकित होना पड़ता है कि हमारे दर्शनों में व्यक्तित्व से सम्बन्धित इतनी सामग्री है कि एक नया विज्ञान तैयार हो सकता है। 'व्यक्तित्व की उत्पत्ति व विकास'[३] से सम्बन्धित विवरण हमें श्वेताश्वतर ४.१०,५.३२–१२, योगवाशिष्ठ३.२३,६.९४(पूर्वार्ध), तथा डा०एस० दासगुप्ता कृत 'स्टडी ऑव पतंजलि' पृ० ५३ पर मिलती है। 'व्यक्तित्व के प्रकार' से सम्बन्ध रखने वाले विवरण हमें विष्णु भागवत अध्याय २ व ४, बाराहमिहिर कृत बृहत् संहिता अध्याय ६८, चरक संहिता का त्रिदोषाध्याय तथा उत्तराध्ययन सूत्र अध्याय २६ में प्राप्त होते हैं। व्यक्तित्व से ही सम्बन्धित एक अन्य महत्वपूर्ण अंश 'जीवन मूल्य' (सायकालाजी

---

१ श्री प्राणजीवन विश्वनाथ पाठक (१९३२) हेयपक्ष ऑव योग, पृ० १०६–११९।

२ डा० इन्द्र सेन (११५२) दी स्टेण्ड प्वाइण्ट ऑव इण्डियन सायकालाजी, इण्डियन जर्नल ऑव सायकालाजी, २६,१–४, पृ० ८९।
—डा० इन्द्रसेन (१९५२) दी सायकालाजिकल सिस्टम ऑव श्री अरविन्द, इण्डियन जर्नल ऑव सायकालाजी, २७,१–४ पृ० ७९–८९।

३ डा० हरिमोहन भट्टाचार्य (१९५३) टाइप्स ऑव ह्यूमन नेचर (डा०हरिदास भट्टाचार्य (सं०) कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया, भाग ३, में संकलित, रामकृष्ण कल्चरल इन्स्टिट्यूट, कलकत्ता, पृ० ६०८–६१९।

ऑव वैल्यूज्)[1] पर भारतीय विचार जैन ग्रन्थ गोम्मटसार के जीवखण्ड पृ० ४८८–५०७, वात्स्यायनकृत न्यायसूत्र भाष्य १.१.१–३, बृहदारण्यक उपनिषद १.४.१४ तथा ४.४.२२, गौतमकृत धर्मसूत्र १.८.२४–२५ तथा तन्त्ररहस्य पृ० ७० में मिलते हैं।

'मन का स्वरूप व उसकी क्रियाओं' का विवेचन तो प्रायः सभी दर्शनों में मिलता है परन्तु कठ उपनिषद् १.३, १०–११, एतरेय ५.२, बृहदारण्यक १.५.३ छान्दोग्य ७.३.१ तथा ७.५.१ में मिलता है। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य की रचनाओं तथा सिद्धान्त मुक्तावली आदि में भी तत्सम्बन्धी विवरण प्राप्त होते हैं।

'रस और भाव' का सर्वोत्तम प्रस्फुटीकरण आचार्य भरत कृत नाट्यशास्त्र तथा आचार्य शार्गदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' एवं उसकी विभिन्न टीकाओं में होता है। डा० यदुनाथ सिनहा ने इनके मनोवैज्ञानिक पक्ष का विवेचन किया है।[2]

ऊपर वर्णित सभी विषय एवं उनके स्रोतों का अध्ययन कर लेने के बाद भी क्या यह कहने को शेष रह जाता है कि भारतीय मनोविज्ञान में यदि अध्ययन किया जाय तो महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त हो सकते हैं? यह हमारे लिए अत्यधिक आवश्यक है कि हम इन सिद्धान्तों पर मौलिक शोध करें। हमें उन सिद्धान्तों पर शोध, अनुशोध और पुनर्शोध करना चाहिए, यह हमारे लिए कठिन नहीं होगा क्योंकि वे सिद्धान्त हमारे देश में प्रचलित अवश्य थे, परन्तु आज की परिस्थिति में शेष विश्व को उसकी आवश्यकता है। डा० प्रभु ने इस बात पर अत्यधिक जोर देते हुए कहा है कि "आधुनिक विधि-विधानों में दीक्षित मनोवैज्ञानिकों को विभिन्न समस्याओं पर अपने मौलिक शोध आरम्भ करना चाहिए। और यदि ऐसे शोध करने में उन्हें विफलता भी हाथ लगती है तो भी वह अपने आप में एक महत्वपूर्ण कार्य होगा।" परन्तु यह कार्य सुचिन्तित मेधा द्वारा अवश्य ही करना चाहिये। व्यर्थ के पक्षपात के द्वारा भारतीय मनोविज्ञान की समस्याओं को त्याग देने से कुछ भी लाभ नहीं होने का है।

"यह अत्यधिक आश्चर्य का विषय है कि अभारतीय दैहिक मनोवैज्ञानिक आधुनिकतम तरीके प्रयोग करके योग का दैहिक अध्ययन करने पर जुटे हैं; उदाहरणार्थ डा० एम० ए० वेंगर (१९५९) डा० बी० के० बागची (१९६१) इत्यादि, जब कि हम पाश्चात्य जगत की ओर तृषार्त नेत्रों से शोध के विषय व विधि के लिए भिक्षा माँगते से, देख रहे हैं। हमारे कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि पाश्चात्य विधियाँ और तरीके नहीं सीखने चाहिये। ...वरन् हमारे कहने का यह अर्थ है कि हमें इन आधुनिकतम सीखे गये तरीकों का प्रयोग भारतीय मनोविज्ञान की समस्याओं पर, जिन्हें हम अपने चारों ओर बिखरी पाते हैं, करना

---

[1] प्रो० एम० हिरियन्ना (१९५३) फिलासॉफी ऑव वैल्यूज (डा० हरिदास भट्टाचार्य (सं०) कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया में संकलित, भाग ३, रामकृष्ण इन्स्टिट्यूट ऑव कल्चर पृ० ६४५–६५६।

[2] डा० यदुनाथ सिनहा (१९६१) इण्डियन सायकालाजी भाग–२, इमोशन एण्ड विल, सिनहा पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, पृ० १८३–३४०।

चाहिये, न कि बिना उचित अध्ययन के उनको अवैज्ञानिक व रहस्यपूर्ण कहकर छोड़ देना चाहिये ।"[१]

आवश्यकता है आधुनिक परम्परा में दीक्षित, विधि विधानों के ज्ञाता, परन्तु भारतीय मनोविज्ञान की प्रतिष्ठा कराने के इच्छुक शोध कार्य में रुचि रखने वाले कार्यकर्त्ताओं की, जिनके बिना कार्य अग्रगति पा नहीं सकते ।

---

[१] डा० पण्ढरीनाथ एच० प्रभु (१९६३), स्टेट ऑव सायकालाजी एज़ ए साइन्स टुडे, अध्यक्षीय भाषण, मनोविज्ञान व शिक्षण विज्ञान विभाग, प्रोसीडिंग्स ऑव इण्डियन साइन्स कांग्रेस, पृ० ३०४।

लोक और विश्व

(स्व०) ललितकिशोर सिंह
भौतिकी कक्ष, हिन्दी प्रकाशन समिति

सूर्य और चन्द्रमा पूर्व क्षितिज से निकलते हैं और आसमान का चक्कर काटकर पश्चिम में अस्त हो जाते हैं। आसमान में सर्वत्र बिखरे हुये असंख्य तारे भी इसी तरह पूर्व से पश्चिम को जाते हुय दिखाई देते हैं। यह क्रम नित्य एकरस चलता रहता है। प्रकृति की यह गतिविधि मनुष्य की चेतना के साथ इतनी घुल-मिल गयी है कि इस पर किसी को आश्चर्य नहीं होता; पर ये क्या हैं? कहाँ से आते हैं? और कहाँ चले जाते हैं? ऐसे मौलिक प्रश्न मनुष्य के मन में उठते ही रहते हैं। तारों और सूर्य-चन्द्र के विषय में बच्चे अनेक प्रश्न करते रहते हैं और उनका बाल कौतूहल नानी की कहानियों से ही शांत हो जाता है। देश-देश के पुराणों सें इन्हें देवताओं और ऋषियों के रूप देकर अनेक कथाएँ रची गयीं हैं? पर इनसे इस विराट रहस्य को समझने की प्रखर बुद्धिवालों की कामना तृप्त नहीं होती।

आकाश के असंख्य प्रकाश-पिण्डों में देवत्व-कल्पना और आध्यात्मिक आरोप की पौराणिक पद्धति के रहते हुए भी कुछ प्राचीन प्रत्यक्षदर्शियों ने बहुतेरे तथ्यों का आविष्कार किया और उनका उपयोग भी किया। स्वस्थ नेत्रों से उन्होंने देखा कि आसमान में जगह-जगह चमकते हुए तारों के जत्थे हैं जो प्रकाश-बिन्दुओं से बनी विशेष आकृतियों से जान पड़ते हैं। इनके नाम कहीं आकृतियों की समता पर और कहीं पौराणिक देवताओं पर रखे गये। इन जत्थों को 'नक्षत्र' कहते हैं। इन नक्षत्रों से आकाश के स्थानों को चिह्नित करने में सुविधा होती है। ये नक्षत्र या तारे एक-एक वृत की परिधि पर घूमते रहते हैं। भूमध्य रेखा से जो तारा जितना ही अधिक उत्तर या दक्षिण की ओर झुका हुआ है, उसका भ्रमण-वृत्त उतना ही अधिक छोटा है। एक सीमा के बाद ये भ्रमण-वृत्त इतने छोटे हो जाते हैं कि उन पर चलने वाले नक्षत्र या तारे कभी भी क्षितिज के नीचे नहीं जाते। वे दिन में नहीं दीख पड़ते, इसलिए कि सूर्य के तीव्र प्रकाश में उनका क्षीण प्रकाश लुप्त हो जाता है। अन्त में एक स्थान पर वृत्त बिन्दुमान रह जाता है। इस बिन्दु के बहुत ही निकट एक तारा है जिसे 'ध्रुव' तारा कहते हैं। यह स्वभावतः ही प्रायः स्थिर रहता है जिससे दिशा का ज्ञान होता है। उत्तरीय ध्रुव के निकट घूमने वाले नक्षत्रों में 'सप्तर्षि' मुख्य हैं।

तारों का उदय और अस्त होना निरीक्षण-स्थान पर निर्भर है। पृथ्वी की भूमध्य रेखा के किसी स्थान पर से निरीक्षण किया जाय तो उत्तर और दक्षिण आकाश-मण्डल के सभी तारे उदय और अस्त होते हुये दिखाई पड़ेंगे। भूमध्य रेखा से उत्तर या दक्षिण चलें तो सदा दृष्टिगत रहने वाले तारों की संख्या बढ़ती जाती है। पृथ्वी के ध्रुवों पर से कुछ तारे तो सदा क्षितिज के ऊपर दीखेंगे और बाकी सदा क्षितिज के नीचे अदृश्य रहेंगे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तारों का यह गोल आसमानी घटाटोप दोनों ध्रुव ताराओं से निकलने वाली धुरी पर समगति से घूमता रहता है।

यह देखा जाता है कि तारों की पारस्परिक दूरी सदा एक-सी रहती है; अर्थात् उनमें आपेक्षिक गति का अभाव है। पर चन्द्रमा का स्थान नक्षत्रों के बीच बदलता रहता है। ऐसे और भी प्रकाश-पिण्ड हैं जो नक्षत्रों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न गति से चलते रहते हैं। इन्हें ग्रह माना जाता है। इन ग्रहों के भारतीय नाम बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति और शनि हैं। प्राचीन पद्धति में सूर्य और चन्द्र भी ग्रहों में गिने जाते हैं। भारतीय ज्योतिष में दो पौराणिक ग्रह—राहु और केतु—भी माने जाते हैं जो काल्पनिक हैं। इस प्रकार यहाँ नव-ग्रह की पद्धति प्रचलित है। ग्रह स्थिर प्रकाश देते हैं और तारे झिलमिलाते रहते हैं - यह इनमें दृष्टिगत अन्तर है।

ग्रहों की तरह सूर्य का स्थान भी नक्षत्रों के बीच बदलता रहता है। किसी पास के नक्षत्र से सूर्य प्रतिदिन अपने प्रत्यक्ष व्यास के लगभग दूने मान के बराबर पूरब की ओर खिसक जाता है। इस प्रकार एक वर्ष में वह फिर अपने पहले स्थान पर पहुँच जाता है। नक्षत्रों के बीच सूर्य के इस वार्षिक मार्ग को बारह खण्डों या राशियों में बाँटा गया है जिनके नाम उन खण्डों में स्थित नक्षत्रों के नाम पर रखे गये हैं। सूर्य के इस मार्ग के आस-पास ही अन्य ग्रह और चन्द्र भी चलते हैं; इसलिए इनका भी इन्ही राशियों में संक्रमण होता है।

काल के सतत प्रवाह का अनुभवी टॉलमी (सिंकदरिया–१२७ से १५१ ई०) का नाम प्रसिद्ध है। उन्होंने पृथ्वी को स्थिर मानकर सूर्य, चन्द्र और ग्रहों की गतियों का नक़शा तैयार किया। इन मानचित्र के अनुसार सूर्य और चन्द्र तो पृथ्वी के चारों ओर सरल वृत्तों में घूमते हैं; पर ग्रह बड़े ही जटिल मार्ग पर चलते हैं। बुध और शुक्र की गतियों की जटिलता तो और भी बढ़ जाती है। टॉलमी का सिद्धान्त एक हजार से अधिक वर्षों तक पाश्चात्य ज्योतिष का आधार बना रहा।

कोपर्निकस (१४७३–१५४३) को टॉलमी के गतिचक्र की जटिलता कष्ट-कल्पना जान पड़ी। उनकी धारणा थी कि ग्रहों की स्वाभाविक गति इतनी जटिल नहीं हो सकती। प्रकृति की प्रक्रिया में सरलता ही की अधिक सम्भावना है। उनसे १८०० वर्ष पहले अरिस्टार्कस ने प्रस्ताव किया था कि पृथ्वी के बदले सूर्य को स्थिर माना जाय। कोपर्निकस ने इसी प्रस्ताव को मानकर ग्रहों की गतियों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि पृथ्वी समेत सारे ग्रह सूर्य के चारों ओर छोटे-बड़े वृत्तों में घूमते हैं। इस धारणा से टॉलमी की पद्धति की बहुत-सी जटिलता तो दूर हो गई पर पूरी तरह दृग्गणितका की स्थापना न हो पायी। जैसे, यह पाया जाता है कि ग्रह अपने मार्ग पर कहीं तीव्र और कहीं मंद गति से चलते हैं। इसकी व्याख्या कोपर्निकस की सरल वृत्त वाली धारणा से न हो सकी, जिससे उन्हें भी कुछ जटिल वक्रों की सहायता लेनी पड़ी।

कोपर्निकस ने यह भी बताया कि सूर्य समेत सारा खगोल जो प्रतिदिन पूर्व से पश्चिम की ओर परिक्रमा करता हुआ दिखाई देता है वह इसलिए कि पृथ्वी चौबीस घंटों में अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर एक पूरा चक्र घूम जाती है। सूर्य और तारे वास्तव में

स्थिर रहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी में दो गतियाँ हैं—एक सूर्य की परिक्रमा, दूसरी अपनी धुरी पर घूर्ण।

कोपर्निकस की उत्प्रेक्षा का विरोध मुख्यतः धार्मिक पक्ष से और कुछ अंशों में ज्योतिष पक्ष से होता रहा। ज्योतिष शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित टाइको ब्राहे (१५४६–१६०१ ई०) कोपर्निकस के विचारों का अंत तक खण्डन करते रहे। उनके मत में सूर्य और चन्द्र तो पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं पर ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं।

टाइको ब्राहे ने निरीक्षण-यंत्रों में बड़ी उन्नति की और प्रयोग-विधि में भी सुधार किया। इससे उनके निरीक्षण-फल पहले से कहीं अधिक सच्चे निकले। उन्होंने अनेक नये निरीक्षण-फल भी एकत्र किये। पर केप्लर ने (१५७१–१६३० ई०) अपने गुरु टाइको ब्राहे के तथ्य भण्डार का उपयोग कोपर्निकस की ही उत्प्रेक्षा की पुष्टि में किया। उन्होंने यह नई उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की कि सूर्य के चारों और ग्रह वृत्त में नहीं, अण्डाकार परिधि अर्थात् एलिप्स में घूमते हैं। एलिप्स के दो केन्द्रक (नाभियाँ) होते हैं जिनमें से एक पर सूर्य स्थित रहता है। ग्रह अपने मार्ग पर एक ओर सूर्य के निकट और दूसरी ओर इससे दूर चलता है। ग्रह सूर्य के जितना निकट होता है उसकी गति उतनी ही अधिक होती है; अर्थात् ग्रह की गति अपने मार्ग पर बदलती रहती है। इस प्रकार जिस समस्या की व्याख्या में कोपर्निकस को भी कुछ जटिल वक्रों को मानना पड़ा था, उसका समाधान केप्लर ने बड़ी सरलता से कर दिया।

केप्लर ने तीन नियमों का निरूपण किया जो अब तक ज्योतिषशास्त्र की आधार शिला बने हुए हैं। ये निरीक्षित और परीक्षित नियम नीचे दिये जाते हैं:

(१) ग्रह एलिप्स में परिक्रमा करते हैं, जिसके एक केन्द्रक पर सूर्य स्थित है।

(२) सूर्य और ग्रह को जोड़ने वाली चल रेखा समान समय में समान क्षेत्र का भोग करती है।

(३) कोई ग्रह जितने समय में एक परिक्रमा पूरी करता है उसका वर्गफल सूर्य से उस ग्रह की दूरी के घनफल का अनुपाती है।

ये सारे परिणाम प्रत्यक्ष निरीक्षण और कोण नापने के सरल यंत्रों के प्रयोग से निकाले गये थे। जब गैलीलियो ने (१५६४–१६४२ ई०) ऐसे टेलिस्कोप का निर्माण किया, जिससे वस्तु का दृश्य-क्षेत्रफल हजार गुना बढ़ सकता था, तो इसकी सहायता से उन्होंने बहुत से नये तथ्य ढूँढ़ निकाले, जो नेत्र की क्षमता के परे थे। उन्होंने अनेक भ्रमों का निराकरण और मत-मतान्तरों का निर्णय किया। उन्होंने चन्द्रमा के दाग को पहाड़ियों की छाया बताई, बहुत बड़ी संख्या में नये तारों का पता लगाया और एक-एक नक्षत्र में सैकड़ों तारों का अस्तित्व पाया। उन्होंने शुक्र में भी चन्द्रमा की तरह ही घटती-बढ़ती कलाएँ देखीं। इससे कोपर्निकस की उत्प्रेक्षा निर्विवाद सिद्ध हो गई; क्योंकि यह तभी हो सकता है जब शुक्र सूर्य की परिक्रमा करे। पर 'आकाश गंगा' या 'छाया पथ' का रहस्योद्घाटन गैलीलियो की सबसे गम्भीर कृति है। अमावस्या की रात में यदि आसमान पूरी तरह स्वच्छ रहे तो यह साफ दिखाई पड़ेगा कि तारों के बीच धीमे मोतिया प्रकाश की एक धारा-सी बह रही है जो

क्षितिज को आमने-सामने के छोरों पर छूती है। असल में यह सारे खगोल की मेखला की तरह घेरे हुए है। यहाँ इसे 'आकाश गंगा' या 'छाया पथ' कहते हैं और देशों में इसे 'क्षीर पथ' कहते हैं। गैलीलियो ने अपने टेलिस्कोप द्वारा देखा कि यह आकाश गंगा छोटे-बड़े तारों से खचाखच भरी हुई है। इससे यह सिद्ध हो गया कि अदृश्य तारों के प्रकाश से ही आकाश गंगा की सृष्टि हुई है।

गैलीलियो के ईजाद के बाद टेलिस्कोप की क्षमता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इसमें घड़ी जैसा यंत्र लगाया गया जिससे यह जिस तारे पर लगा दिया जाय उसी के साथ-साथ घूमता रहे। इस प्रकार निरीक्षक को आँखों से देखने की आवश्यकता न रही। टेलिस्कोप के फोकस (नाभि) पर रखे हुए फोटो-फलक पर धीमे से धीमे प्रकाश देने वाले तारे का चित्र आ सकता है। स्पक्ट्रोग्राफ से तारों से आने वाले प्रकाश का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण होने लगा और तारों की रासायनिक रचना, उनका तापक्रम, उनकी गति आदि अनेक तथ्यों का आविष्कार हुआ। फोटो-विद्युत-सेलों से ताराओं के अल्प प्रकाश की भी तीव्रता बड़ी सच्चाई से नापी जाने लगी। माउंट विल्सन वेधशाला के २०० इंच व्यास वाले परावर्तन-टेलिस्कोप से तो ज्योतिर्मण्डल के ज्ञान का अमित भण्डार ही खुल गया।

उपर्युक्त अति उत्तम उपकरणों से तारा-मण्डल के विषय में अर्थात् तारों के विस्तार, भार, केंडल-पावर आदि के बारे में जो तथ्य अब तक मालूम हो सके हैं उन्हें संक्षेप में जान लेना आवश्यक है।

तारे और सूर्य (क्योंकि यह भी एक तारा ही है) स्वतः प्रकाशवान हैं। ग्रह और चन्द्र सूर्य के ही प्रकाश में चमकते हैं। तारे या सूर्य एक सेकेंड में जितना प्रकाश देते हैं इससे उनकी प्रकाश-क्षमता जानी जाती है। इसका एक निश्चित पैमाना होता है जिसे केन्डल-पावर कहते हैं। पृथ्वी के किसी स्थान पर सूर्य के प्रकाश की तीव्रता आसानी से नापी जा सकती है। इस तीव्रता से सूर्य का केन्डल-पावर निकाला जाता है, क्योंकि पृथ्वी से इसकी दूरी मालूम है। इस हिसाब से सूर्य का केन्डल-पावर ३×१०^{२७}† निकलता है। सीरियस नामक तारे का के० पा० सूर्य से २६ गुना अधिक है। सबसे मंद दीखने वाले तारे उल्फ ३५९ का के० पा० लगभग ८×१०^{३} है और परिवर्ती तारे डोरेडस का, तेजी पर, सूर्य की तुलना में ५,००,००० गुना है।

तारों का विस्तार टेलिस्कोप द्वारा नहीं नापा जा सकता, क्योंकि इसमें वे बिन्दुमात्र दीखते हैं। कुछ बड़े तारों का व्यास एक उत्तम यंत्र, इंटरफेरोमीटर से मालूम किया जा सकता है। पर मुख्य विधि यह है कि तारों के रंग से उनके तापक्रम का पता लगता है जिससे उनके प्रत्येक वर्ग इंच या वर्गफुट क्षेत्रफल से कितना प्रकाश निकल रहा है। यह जाना जा सकता है। अब उनके के०पा० से उनसे निकलने वाले सारे प्रकाश का मान निकाल कर उसमें प्रति वर्ग इंच या वर्गफुट वाले मान का भाग देने पर तारों का विस्तार निकल आता है। इस गणना से पता चलता है कि धीमे लाल रंग वाला अल्फा ओरायोनिस जैसा विराट तारा सूर्य से ६००० गुना बड़ा ह और कुछ दृश्य तारे पृथ्वी के ही लगभग बराबर हैं।

† $१०^{२७}$=एक पर सताइस शून्य।

तारे के भार या तौल में पारस्परिक अंतर बहुत ही कम पाया जाता है। सूर्य का तौल तारों के औसत तौल के लगभग बराबर है। तौल ही क्यों, केन्डल-पावर, विस्तार आदि में भी सूर्य औसत मान वाला है।

पृथ्वी से किसी ग्रह या सूर्य की दूरी अमीनी तरीके से बड़ी सरलता से निकाली जाती है। एक ही समय पर पृथ्वी के दो स्थानों से या पृथ्वी के व्यास के दोनों छोरों से ग्रह या सूर्य की स्थिति का कोण नापते हैं और निरीक्षण-स्थानों की दूरी जानकर साधारण त्रिकोणमिति से उनकी दूरी निकाल लेते हैं।

पर पृथ्वी के व्यास से तारों की दूरी नहीं निकाली जा सकती क्योंकि यह बहुत अधिक होने से दोनों स्थानों से नापे हुए कोणों में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। यदि पृथ्वी के व्यास के बदले पृथ्वी की सूर्य परिक्रमा की कक्षा का व्यास लें, जो लगभग १८ करोड़ ६० लाख मील लम्बा है, जो कुछ निकट के तारों की दूरी नापी जा सकती है। दूर के तारों की दूरी जिनके कोणों में इतने लम्बे व्यास से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता, एक दूसरी विधि से मालूम की जाती है। कुछ तारे ऐसे होते हैं जिनके प्रकाश की तीव्रता घटती-बढ़ती रहती है। ऐसे तारों को 'परिवर्ती सेफाइड' (सेफाइड वेरिएवुल) कहते हैं। इन तारों के तीव्रता-परिवर्तन के भिन्न-भिन्न आवर्त-काल होते हैं। जैसे, डेल्टा सेफाइड ५$\frac{1}{3}$ दिनों में नियमित रूप से अपनी अधिकतम तीव्रता पर पहुँच जाता है। निकट के सेफाइडों के निरीक्षण से जिनकी दूरी उपर्युक्त अमीनी तरीके से मालूम की जा सकी है, यह नियम निकलता है कि समान आवर्त-काल वाले सेफाइडों के केन्डल-पावर समान होते हैं। इस नियम के उपयोग से दूर-दूर के तारों की दूरियाँ भी मालूम हो जाती हैं।

ऊपर बताये हुए तरीके से जो तारों और नीहारिकाओं की दूरियों के मान निकलते हैं वे सचमुच चकित कर देने वाले हैं। पृथ्वी से सूर्य की दूरी लगभग ९ करोड ३० लाख मील है। प्रकाश, जो एक सेकेण्ड में १८६ हजार मील चलता है सूर्य से पृथ्वी तक पहुँचने में ८ मिनट से कुछ अधिक समय लेता है। सबसे दूरवर्ती ग्रह 'प्लूटो' से प्रकाश ४-५ घंटों में यहाँ पहुँचता है। इस हिसाब से प्लूटो की दूरी सूर्य की अपेक्षा लगभग ३० गुनी अधिक है। सबसे निकट के तारे 'प्रोक्सिमा सेन्टोरी' से प्रकाश को यहाँ पहुँचने में ४–५ वर्ष लग जाते हैं। और तारों की दूरियाँ इससे कहीं अधिक हैं जिन्हें यदि मीलों में लिखा जाय तो पृष्ठ-पर-पृष्ठ अंकों से भर जायेगा। इसीलिए इन विशाल दूरियों को व्यक्त करने के लिए एक नया मापदण्ड तैयार किया गया है जिसे 'प्रकाश-वर्ष' कहते हैं। इस पैमाने में सबसे चमकीला तारा 'सीरियस' ८ प्रकाश-वर्ष दूर है; अर्थात् उससे प्रकाश ८–वर्षों में पृथ्वी पर पहुँचता है। इससे कहीं अधिक दूर आकाश-गंगा के तारे हैं।

अंतरिक्ष में कुछ स्थानों पर असंख्य तारों से बने गोले दिखाई देते हैं जिनमें केन्द्र की ओर तारे घने होते जाते हैं और तल की ओर हलके। इन्हें 'स्टार क्लस्टर' या 'ग्लीब्यूलर स्टार' अर्थात् 'तारा-गुच्छ' कहते हैं। ऐसी रचना वाले तारा-पुंज लगभग १०० के पाये गये हैं इनमें से सबसे निकट वाले गोले की दूरी १८,४०० प्रकाश वर्ष है और सबसे दूरवाला गोला इससे दसगुना दूर है।

एंगोमेडा नक्षत्र की ओर दृष्टि डालने पर उस क्षेत्र में कोहरे की तरह एक धुंधला धब्बा-सा दिखाई देता है। इसे 'नीहारिका' कहते हैं। टेलिस्कोप से देखने पर उसमें एक परिवर्ती सेफाइड मिलता है। इस सेफाइड से उसकी दूरी ८,००,००० प्रकाश-वर्ष निकलती है। तीव्रता अधिक होने से नीहारिकाओं में यही दृष्टिगोचर होता है। पर टेलिस्कोप से ऐसी लाखों नीहारिकाओं का पता लगाया गया है। सबसे निकट वाली नीहारिका एम०३३ है जिसकी दूरी ७,०,००० प्रकाश-वर्ष है।

इन विशाल दूरियों से दो बातें स्पष्ट निकलती हैं—एक तो यह कि दूर-दूर के तारों और नीहारिकाओं से जो प्रकाश अभी मिल रहा है वह पृथ्वी के जन्म से बहुत पहले ही चला था, दूसरी यह कि सूर्य-मण्डल एक छोटे द्वीप सरीखा है जिसके और निकटतम तारों के बीच शून्य आकाश का समुद्र है और इसी प्रकार आकाश गंगा समेत सारा तारा-मण्डल एक महाद्वीप है जिसके और नीहारिकाओं के बीच शून्य का महासागर है।

आकाश-गंगा की दिशा में यदि एक शक्तिशाली टेलिस्कोप द्वारा देखा जाय तो पता चलेगा कि क्रमशः तारों की संख्या घटती जाती है और अन्त में कोई भी तारा दिखाई नहीं देता। इससे यह सिद्ध है कि आकाश-गंगा तारों के अस्तित्व की सीमा है। अंतिम तारों की दूरी १ लाख से २ लाख प्रकाश-वर्षों तक है। अब यदि टेलिस्कोप को आकाश-गंगा के तल के साथ समकोण बनाती हुई बाईं-दाईं दिशाओं में लगावें तो दीख पड़ेगा कि आकाश गंगा की अपेक्षा बहुत थोड़ी ही दूर पर तारे लुप्त हो जाते हैं। इन दिशाओं में अंतिम स्थिति ऊपर बताये हुए तारा-गुच्छों की है। इससे यह उत्प्रेक्षा की जा सकती है कि समस्त तारा-मण्डल एक गोल चक्के की तरह दो ओर से चिपटा है और तारा-गुच्छ चक्के के दोनों और प्रायः समानान्तर तल में रचे हुए हैं। आकाश-गंगा इस चक्के की परिधि है। पहले यह धारणा थी कि सूर्य इस चक्के के केन्द्र या पिण्डिका पर है, पर अब यह माना जाता है कि सूर्य केन्द्र से त्रिज्या की तिहाई दूरी पर है और यह केन्द्र पृथ्वी से लगभग ५०,००० प्रकाश-वर्ष दूर है। इस प्रकार एक ओर तो आकाश-गंगा पृथ्वी से अनुमानतः १,००,००० और दूसरी ओर २,००,००० प्रकाश-वर्ष दूर है। फिर केन्द्र से दृष्टिगत आकाश-गंगा तक सारा आकाश तारों और नक्षत्रों से भरा हुआ है, जिनमें से एक छोटे अंश को हम नेत्रों से देख पाते हैं। यह रोटी की तरह चिपटा तारा-मण्डल ही हमारा 'लोक' है, क्योंकि यह आंशिक रूप में हमारे अवलोकन का विषय है।

यह तारा-मण्डल या गांगेय लोक केन्द्र के चारों और तीव्रगति से घूम रहा है। यदि ऐसी गति न हो तो गुरुत्वाकर्षण से खिंचकर यह केन्द्र पर सिमट जायगा। इस अनवरत गति के कारण ही गांगेय लोक में स्थायित्व है। अलग-अलग तारों की गतियाँ उतनी नियमित नहीं हैं। औसत मान में जो तारा केन्द्र से जितना अधिक दूर है वह उतनी ही अधिक गति से घूमता है। सूर्य अपने ग्रहों-उपग्रहों के परिवार समेत २०० मील प्रति सेकेण्ड की गति से घूम रहा है। इस तीव्र गति से भी यह २०–३० करोड वर्षों में केन्द्र की परिक्रमा पूरी करेगा।

दूरी के प्रसंग में जिन नीहारिकाओं की चर्चा की गई है वे इस गांगेय लोक जैसे ही भिन्न-भिन्न लोक हैं। जैसे दूरी के कारण आकाश-गंगा के तारे नहीं दिखाई देते, उनका

धुंधला प्रकाश भर दिखाई देता है, वैसे ही अधिक दूरी के कारण ये लोक टेलिस्कोप में भी धुंए के धुंधले गुब्बारे से ही दिखाई देते हैं। इन नीहारिकाओं में टिमटिमाते दिये की तरह एक दो परिवर्ती सेफाइड टेलिस्कोप की पकड़ में आ जाते हैं जिससे इनकी दूरी का अनुमान लगाया जाता है। इन नीहारिकाओं में से कुछ गोल हैं और कुछ चिपटे। जो जितना चिपटा है वह उतना ही पुराना है। हमारा गांगेय लोक भी इन्हीं पुराने नीहारिकाओं में से एक है। प्रायः सभी चिपटी नीहारिकाएं साँप की कुण्डली के आकार की हैं। इससे यह धारणा होती है कि इनमें भी अपनी-अपनी आकाश गंगा है।

हमारे गांगेय लोक की भाँति ही असंख्य लोकों से 'विश्व' की रचना हुई है, जिनमें से लगभग २० लाख लोकों का अस्तित्व टेलिस्कोप से सिद्ध हो चुका है। यह नीहारिका-मण्डल या विश्व भी स्वभावतः वैसे ही तीव्र गति से घूम रहा है जैसे गांगेय-लोक। ऐसा न हो तो यह विश्व भी एक केन्द्र पर सम्पुट हो जाय।

यह विश्व एकाकी है या ऐसे अनेक विश्व कई महाविश्व बनाते हैं, इसका अनुमान या अनुसंधान वर्तमान वैज्ञानिक क्षमता के परे है।

विश्व के घूर्ण के अतिरिक्त एक और ऐसी गति का आविष्कार हुआ है जो बुद्धि को चक्कर में डाल देता है। नीहारिकाओं से आये प्रकाश में डाप्लर-परिणाम के माप से यह प्रकट हुआ कि प्रत्येक नीहारिका या लोक बड़ी तीव्र गति से पृथ्वी से सीधे दूर भागा जा रहा है। यह गति दूरी के अनुपात में बढ़ती जाती है। यह विकर्षण पृथ्वी से ही क्यों हो, यह कठिन समस्या है। इसका एक ही समाधान है कि सारे विश्व का अनवरत प्रसार हो रहा है और इसलिए चाहे जिस ग्रह-नक्षत्र से देखा जाय, नीहारिकाएँ उससे एक ही गति से भागती हुई जान पड़ेंगी। इस उत्प्रेक्षा से दूरी और गति के अनुपात की भी व्याख्या हो जाती है। अब बुद्धि का सबसे बड़ा चक्कर यह है कि विश्व का जो प्रसार हम आज देख रहे हैं यह करोड़ों-अरबों वर्ष पुरानी घटना है। इस क्षण में विश्व की क्या दशा है और आज से करोड़ों वर्ष इसकी क्या दशा होगी, यह न तो जाना जा सकता है और न सोचा जा सकता है।

---o---

बाढ़ : एक भूवैज्ञानिक विवेचन*

उमाशंकर दुबे
शोध छात्र, भौमिकी विभाग

भारत में नदियाँ सदा से पूज्य मानी जाती रही हैं। भारत की प्राचीन सभ्यता का विकास नदियों के किनारे हुआ है। नदियाँ यदि देश के इतिहास का वर्णन करती हैं, देश की उन्नति-अवनति की गाथा गाती हैं तो भारत की वर्तमान विडम्बनामय कहानी का शीर्षक होना चाहिए—**'सूखा' अथवा 'बाढ़'**।

हमारे देश में इतनी क्षमता है कि सूखा तथा बाढ़ जैसे प्राकृतिक प्रकोपों को अपने वैज्ञानिक एवं तकनीकी ज्ञान के समुचित उपयोग द्वारा सदा के लिए समाप्त कर सकते हैं। यह और बात है कि अपनी अकर्मण्यता को हम 'प्राकृतिक प्रकोप' या 'संयोगमात्र' जैसे शब्दजालों के पीछे छिपाते फिरें।

सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक सर फ्रांसिस बेकन ने कहा है—"प्रकृति को अपने बस में रखना है, तो उसकी आज्ञा का पालन करो।"[१] मनुष्य कभी प्रकृति को विजित नहीं कर सकता, परन्तु प्रकृति को अपनी इच्छानुसार चलाये बगैर मानव जीवन संभव नहीं है। विज्ञान तथा तकनीक ने मानव को अपरिमित शक्तियां प्रदान की हैं, इतना कि मनुष्य आज अपने को सहस्त्रबाहु कह सकता है, फिर भी सूखा तथा बाढ़ जैसे साधारण प्राकृतिक प्रकोपों से मानव समाज का बहुत बड़ा हिस्सा असाधारण रूप से संत्रस्त रहता है। विज्ञान मनुष्य को प्रकृति के प्रकोपों से छुटकारा दिला सकता है और प्रकृति की अपार सम्पदा उसके कदमों पर निछावर कर सकता है, बशर्ते कि मनुष्य विज्ञान का सही दिशा में उपयोग करना सीख ले। भयानक प्राकृतिक प्रकोप, बाढ़ के सन्दर्भ में, विज्ञान के इसी पहलू का विवेचन प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

भारत में बाढ़ के क्षेत्र

भारत का कोई न कोई क्षेत्र, प्रति वर्ष बाढ़ से भयानक रूप से संत्रस्त होता है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की भूवैज्ञानिक परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। अतः इन परिस्थितियों से उत्पन्न बाढ़ के कारण भी भिन्न होते हैं। भारत के कुछ प्रदेश यथा बिहार, उड़ीसा, पूर्वी उत्तर प्रदेश, असम और पश्चिम बंगाल बाढ़ के प्रमुख क्षेत्र हैं। इन इलाकों के लोग, धीरे-धीरे बाढ़ की विपदा झेलने के अभ्यस्त हो चुके हैं। दरअसल हिमालय से निकली और मैदानों की ओर बहने वाली नदियाँ बाढ़ से यदा-कदा ही प्रभावित होती हैं। इन क्षेत्रों में यदि कभी बाढ़ आती भी है तो उसके पीछे प्राकृतिक कारण कम, मानवकृत कारण अधिक प्रभावित होते हैं।

---

* भूविज्ञान परिषद् के उद्घाटन अवसर पर प्रस्तुत किया गया निबन्ध।

१ "Nature to be mastered, must be obeyed"—Sir Francis Bacon.

बाढ़ का कारण

थोड़े समय के भीतर जब किसी क्षेत्र में अत्यधिक वर्षा हो जाती है तो नदियाँ अपनी प्रवाह की गति के साथ तालमेल बैठा पाने में असमर्थ हो जाती हैं। फलस्वरूप नदियों का जलस्तर ऊपर उठना शुरू हो जाता है। यदि प्रवाह का गत्यावरोध अधिक होता है तो जलस्तर अधिक ऊपर उठता है और नदी के किनारों को लांघ कर आस-पास के विस्तृत क्षेत्रों में फैल जाता है। इस क्रिया को बाढ़ का आना कहते हैं। जल के प्रवाह की गति क्षेत्र के ढालुआपन तथा जमीन के जल शोषण करने की क्षमता पर निर्भर करती है। पहाड़ी तथा ढालुये प्रदेशों में ढाल अधिक होने के कारण पानी तेज गति से नीचे की ओर बहता है। पहाड़ी प्रदेशों की जमीन पथरीली होने के कारण, वर्षा का जल सोखने की इनकी क्षमता सीमित होती है। अतः पहाड़ी नदियों का अधिकांश जल मैदानी प्रदेश की ओर बह जाता है।

मैदानी भागों में ढाल तो बहुत कम होता है, परन्तु भूमि की जल शोषण करने की क्षमता अत्यधि क होती है। परन्तु जसे-जैसे वर्षा होती जाती है, भूमि जल से अधिकाधिक संतृप्त होती जाती है, उसकी जल-शोषण करने की क्षमता क्रमशः घटती जाती है, फलतः अधिकाधिक जल नदियों की ओर प्रवाहित होता रहता है।

एक भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण के अनुसार, जून ६८ के महीने नें, अर्थात् मानसून के प्रारम्भ के दिनों में, जब कि जमीन शुष्क थी, प्रारम्भिक वर्षा का ९५. ३ प्रतिशत जल भूमि द्वारा सोख लिया गया और केवल ४.७ प्रतिशत नदियों को मिला। जुलाई में ७७.३ प्रतिशत जमीन द्वारा सोखा गया तथा २२.७ प्रतिशत नदियों को मिला। अगस्त में कुल वर्षा का ४४.२ प्रतिशत भूमि के द्वारा सोखा गया और ५५.८ प्रतिशत नदियों को मिला। सितम्बर के महीने में जब कि मानसून समाप्ति पर था, कुल वर्षा का २३.६ प्रतिशत जल ही भूमि द्वारा सोखा जा सका, जब कि ७६.४ प्रतिशत जल नदियों को मिला। स्पष्ट है कि सितम्बर का महीना मैदानी प्रदेश में बाढ़ की दृष्टि से अत्यधिक भयावह होता है। वास्तव में सितम्बर शुरू होने के पहले से ही नदियाँ जल से काफी परिपूर्ण रहती हैं, अतः इस महीने में होने वाली वर्षा से नदियों का जलस्तर बड़ी तेजी के साथ ऊपर उठता है और बाढ़ का खतरा उत्पन्न हो जाता है।

वन्य प्रदेशों में वर्षा का अधिकांश भाग, चाहे वह जून की वर्षा का हो अथवा सितम्बर की, वृक्षों और वनस्पतियों द्वारा सोख लिया जाता है, अतः वन्य प्रदेशों की वर्षा का अति न्यून प्रतिशत नदियों को मिल पाता है। जहाँ वनों का अभाव है, वहाँ अपेक्षाकृत अधिक जल प्रवाहित होता है। सभ्यता के विकास के साथ हमने कृषि हेतु अधिकाधिक भूमि प्राप्त करने के लोभ में वृक्षों और वनस्पतियों का निर्मूलन प्रारम्भ कर दिया, फलतः बाढ़ का खतरा दिन-ब-दिन बढ़ता चला गया। अजीब बात है कि भूतकाल में भी नदियाँ उसी दर से पानी बहाती थीं जिस दर से कि आज, परन्तु उस काल के पानी के बहाव के वेग तथा आज के वेग में इतना अन्तर आ गया है जो कल्पना के परे है। यदि कल्पना करती हो तो हम अधिक नहीं, दो हजार वर्ष पहले का अपना इतिहास देखें, बाढ़ द्वारा होने वाली क्षति उस समय नगण्य थी, आज इतनी अधिक है कि हम परेशान हैं।

वन-निर्मूलन का एक अन्य घातक परिणाम रहा है, भूमि की मिट्टी का क्षरण तथा नदियों को मिलने वाली मिट्टी की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि। पेड़, पौधे तथा वनस्पतियाँ मिट्टी के क्षरण को रोकती हैं तथा पेड़-पौधों के अभाव की स्थिति में मिट्टी का क्षरण तीव्र गति से होता है, फलतः नदियों का स्तर ऊपर उठता जाता है और बाढ़ का खतरा बढ़ता जाता है। राजस्थान के रेगिस्तानी प्रदेश का अक्सर जलप्लावित होते रहने का कारण वहाँ पर वनों का अभाव एवं भूमि संरक्षण कार्यों की कमी ही है।

नदियाँ यदि छिछली होंगी, उनकी गहराई कम होगी तो निश्चित रूप से बरसात के दिनों में उनका पानी काफी बढ़ जायेगा। इसके विपरीत गहरी नदियों में बाढ़ का खतरा अपेक्षाकृत कम होता है। छोटी नदियाँ अक्सर अपने छिछलेपन के कारण अपना पथ बदल देती हैं जिसके परिणामस्वरूप अगल-बगल के कुछ क्षेत्रों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

बाढ़-नियंत्रण एवं रोक-थाम

क्षेत्र विशेष में आने वाली बाढ़ के प्राकृतिक कारण का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् उस क्षेत्र की बाढ़ को रोकने का काम आसान हो जाता है। बाढ़ के कारणों की जाँच हेतु उस क्षेत्र का भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण आवश्यक है। बाढ़ से होने वाली आर्थिक हानि की तुलना में, उसकी रोकथाम के उपायों पर बहुत कम खर्च आता है। साथ ही पानी के बहाव को आवश्यकतानुसार नियंत्रित करके सूखे की समस्या का मुकाबला करना भी आसान हो जाता है भारत जैसे विशाल देश में जहाँ हजारों छोटी-बड़ी नदियाँ विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में बहती हों, वहाँ बाढ़-नियंत्रण के लिए कोई एक ही तरीका काम में नहीं लाया जा सकता। भूमि, मौसम एवं स्थान विशेष की परिस्थितियों के अनुसार जहाँ जो ढंग सबसे अधिक कारगर हों, वहाँ उन्हें एक साथ अथवा कई तरीकों के सम्मिलित प्रयोग से बाढ़ को रोका जा सकता है। भारत के प्रत्येक क्षेत्र की कुल वर्षा का औसत ४५ इंच प्रति वर्ष है। इस प्रकार भारत को वर्षा द्वारा प्रतिवर्ष कुल ३ सौ करोड़ एकड़ फुट जल प्राप्त होता है। कुल वर्षा का लगभग एक सौ करोड़ एकड़ फुट जल वाष्प बनकर उड़ जाता है, और लगभग ६५ करोड़ एकड़ फुट जल भूमि द्वारा सोख लिया जाता है, बाकी का १३५ करोड़ एकड़ फुट जल नदियों द्वारा प्रवाहित होता है। नदियों द्वारा प्रवाहित होनेवाले जल का एक तिहाई अर्थात् ४५ करोड़ एकड़ फुट जल, बाँध एवं जलाशयों में इकट्ठा कर लिया जाता है, शेष ९० करोड़ एकड़ फुट जल नदियों द्वारा समुद्र में प्रवाहित हो जाता है।

बाढ़ की रोक-थाम तथा जल प्रवाह की गति को नियंत्रित करने का सबसे प्रमुख एवं कारगर तरीका नदियों पर बाँध बनाने का माना जाता है। नदी के ऊपरी भाग में उपयुक्त स्थान खोज कर, बढ़िया और मजबूत बाँध बनवा देने से आवश्यकतानुसार काफी पानी उसमें एकत्र किया जा सकता है जो समयानुसार रोका और प्रवाहित किया जा सकता है। क्योंकि छोटी नदियाँ विपदा का प्रमुख स्रोत बन जाती हैं, उतः बड़ी नदियों से मिलने वाली इन छोटी नदियों पर स्थान-स्थान पर छोटे बड़े कई जलाशय बनवा देने से समस्या का काफी हद तक समाधान हो सकता है।

भारत में बाँध एवं जलाशय बनवाने की दिशा में तो पर्याप्त ध्यान दिया गया है, परन्तु इनसे समस्या हल होने के बजाय बढ़ती ही गई है। दरअसल बाँध का निर्माण करते समय बड़े-से-बड़े एवं छोटे-से-छोटे प्रत्येक पहलू का विस्तृत अध्ययन, सावधानी, योजना एवं सतर्कता की आवश्यकता होती है। बाँध के लिए उपयुक्त निर्माणस्थल की खोज अत्यधिक सावधानी के साथ की जानी चाहिये। नींव के पत्थरों की बनावट एवं उनका भूवैज्ञानिक अध्ययन अपने आप में सबसे महत्वपूर्ण है। बाँध निर्मित होने के पश्चात् नींव पर पड़ने वाले दबाव की मात्रा तथा दिशा का ज्ञान भी अति आवश्यक है। बाँध का प्रकार और उसके लिए प्रयुक्त साधनों का गहरा असर बाँध की मजबूती पर पड़ता है। एक विशेष निर्माण स्थल के लिए एक विशेष प्रकार का बाँध उपयुक्त हो सकता है, दूसरी प्रकार का नहीं, ये बातें अति सूक्ष्म अध्ययन की अपेक्षा रखती हैं। यदि सावधानी बरती जाय और लगन तथा ईमानदारीपूर्वक कार्य किया जाय तो बाँध हमारी आर्थिक प्रगति के प्रतीक बन सकते हैं, न कि विनाश के।

परन्तु दुर्भाग्यवश बाँध स्वयं बाढ़ का कारण बन गये हैं। अक्सर ऐसा भी होता है कि बाँधों की दीवारों में अचानक काफी चौड़ी दरार पड़ जाती है और सारा बँधा हुआ जल आबादी और खेती के इलाकों में फैल कर उन्हें नष्ट कर देता है। **पिछले २० वर्षों के दौरान भारत सरकार ने जो भी बाँध बनवाये, वे इतने कमजोर और बिना सही दृष्टि के बने थे कि पहले जहाँ पानी जमा नहीं होता था, वहाँ भी अब जमा होने लगा है।**

भारत में निर्मित बाँधों एवं जलाशयों में जमने वाली मिट्टी की परतों को देख कर बाढ़-नियंत्रण की क्षमता पर सन्देह होता है। उदाहरणार्थ, **हीराकुंड बाँध** निर्मित किये जाने के समय अनुमान था कि उसमें प्रतिवर्ष १७,००० एकड़ फुट मिट्टी इकट्ठा होगी, परन्तु **व्यावहारिक अध्ययन के दौरान पता चला कि प्रतिवर्ष २५,००० एकड़ फुट मिट्टी जम रही है। इस बाँध की आयु निर्माण के समय १३२ वर्ष कूती गई थी, परन्तु अब ऐसा समझा जाने लगा है कि यह ७६ वर्ष से अधिक समय तक काम नहीं देगा।**

बाँध में जल को रोक रखने के अतिरिक्त और भी कई उपाय, बाढ़ की विभीषिका को कम करने हेतु प्रयोग में लाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि नदी की तलहटी में जमी मिट्टी को निकाल कर स्रोत को गहरा कर दिया जाय तो जल प्रवाहित करने की नदियों की क्षमता में वृद्धि हो जायेगी। यह तरीका, क्षेत्रफल की दृष्टि से छोटे देशों, यथा हालैण्ड, में प्रयुक्त किया गया है। नदियों से मिट्टी काट कर उन्हें गहरा करने का काम काफी खर्चीला है। भारत के विशाल सिन्धु-गंगा-ब्रह्मपुत्र के मैदानी हिस्सों में बहने वाली सैकड़ों नदियों की सफाई को भारत की वर्तमान अर्थ व्यवस्था को देखते हुए, व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता।

कच्छ-बंगाल नहर बनाने का सुझाव

इस तथ्य को दृष्टि में रखकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भौमिकी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० राजनाथ ने बाढ़-नियंत्रण का एक व्यावहारिक तरीका सुझाया है। उनके अनुसार नदियों की वक्रता को नया मोड़ देकर, कुछ लम्बी-चौड़ी व गहरी नहरों द्वारा बाढ़ प्रदेशों की कुख्यात नदियों को जोड़ कर बंगाल की खाड़ी से कच्छ के रन को

जोड़नेवाली एक विशालकाय नहर बनवायी जा सकती है। इस प्रकार इस नहर से उत्तरी भारत की अधिकांश नदियों की बाढ़ का खतरा हमेशा के लिए समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार की नहर द्वारा न केवल बाढ़ का प्रभावकारी नियंत्रण ही सम्भव हो जायेगा, बल्कि सिंचाई एवं यातायात का एक सुगम जलपथ भी तैयार हो जायेगा। मानव निर्मित यह नहर इतनी चौड़ी व गहरी होगी कि उसमें समुद्री जहाजों का आवागमन संभव होगा, इस प्रकार इस नहर के इलाके का प्रत्येक क्षेत्र एक कृत्रिम बन्दरगाह के सदृश हो जायेगा।

बाढ़ की उत्पत्ति में वन-निर्मूलन कितनी प्रमुख भूमिका निभाता है, इसका वर्णन किया जा चुका है। यदि बाढ़ के खतरे का स्थायी हल ढूँढ़ना है तो न केवल पेड़, पौधों और वनस्पतियों का काटना तुरन्त बन्द कर देना चाहिए, बल्कि नये वन लगाने की दिशा में भी आवश्यक कदम उठाये जाने चाहिए। पं० जवाहरलाल नेहरू ने बम्बई शहर में वृक्ष काट कर मकान बनवाये जाने की प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हुए एक बार कहा था कि यदि उनके वश में होता तो वे वृक्ष काटने और कटवाने वालों को 'हत्यारा' घोषित करते और आजीवन कारावास का दण्ड तजवीज करते। एक अनुमान के अनुसार यदि प्रत्येक भारत-वासी प्रतिवर्ष एक वृक्ष रोपें तो कुछ वर्षों में बाढ़ की समस्या पूर्णतया समाप्त हो सकती है।

समस्या का आर्थिक पहलू

भारत में प्रतिवर्ष लगभग १६ करोड़ एकड़ भूमि बाढ़ों की चपेट में आ जाती है, जिनमें से ५ करोड़ एकड़ भूमि में खड़ी फसलें होती हैं। १ करोड़ व्यक्ति प्रतिवर्ष बाढ़ की परेशानी झेलते हैं। ८ लाख मकान नष्ट हो जाते हैं एवं १८ हजार पशु बाढ़ की भेंट चढ़ जाते हैं। अनुमान है कि कुल नुकसान औसतन १०० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष का होता है। इसके अतिरिक्त सड़कों एवं रेल यातायात के अवरुद्ध हो जाने से करोड़ों रुपये की हानि होती है। शहरों में गन्दगी के निकास का मार्ग पानी भर जाने से अवरुद्ध हो जाता है। निचले स्तरों में गंदा पानी सड़ने के कारण अक्सर बाढ़ से प्रभावित शहरों एवं कस्बों में भयंकर बीमारियाँ फैलने लगती हैं।

बाढ़ के हर साल के खतरे को समाप्त करने वाले स्थायी निर्माण कार्य का विकल्प तात्कालिक राहत का कार्य नहीं बन सकता। स्थायी महत्व के कार्यों को अब टालना नहीं चाहिए। इसके अतिरिक्त वन सम्पदा में वृद्धि के निमित्त जनता में प्रोत्साहन की भावना उत्पन्न करनी चाहिए एवं भावी पीढ़ी को बाढ़ के खतरे से बचाने के लिए वृक्ष उगाने चाहिए।

नेत्र-रक्षा

डॉ० हरिवल्लभ नेमा
रीडर, नेत्र-चिकित्सा विभाग

नेत्र-रक्षा नेत्र-रोग-चिकित्सा से कहीं अधिक सुगम एवं प्रभावकारी होती है किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश में नेत्र-रोग-निरोध की ओर आज भी ध्यान नहीं दिया जाता है, इसी कारण यहाँ रोहे, चेचक, सूखा रोग आदि रोके जाने वाले रोग बहुतायत से पाये जाते हैं। नेत्र-रोगों की समय से चिकित्सा न होने से दृष्टि मंद हो जाती है और व्यक्ति का विकास रुक जाता है; अतएव नेत्रों को स्वस्थ बनाये रखने के लिए समय से नेत्र-चिकित्सा ही नहीं, वरन् दैनिक जीवन में उनकी रक्षा की ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। दोनों नेत्र प्रत्येक व्यक्ति की अमूल्य निधि हैं, इनकी स्वच्छता एवं स्वस्थता बनाये रखना हमारा प्रधान कर्तव्य है। स्वयं प्रकृति ने रक्षा की दृष्टि से नेत्रों की इस प्रकार रचना की है कि इनका कम-से-कम भाग खुला रहे। लगभग सम्पूर्ण नेत्र सुदृढ़ अस्थिगुहा में स्थापित है। इसके पश्च भाग में वसा की पतली गद्दी है। केवल अग्रभाग (स्वच्छ पटल) वातावरण के संपर्क में आता है जो अश्रु एवं ग्रंथियों द्वारा उत्पन्न तरल से सदा ही घुलता रहता है। इस तरल का प्रभाव कीटाणु-नाशक होता है। इसके अतिरिक्त नेत्रों को पलकों के रूप में दो प्रहरी हैं जो एक क्षण में अनेक बार झपकते रहकर अपनी सजगता का परिचय देते रहते हैं। जहाँ प्रकृति नेत्र-रक्षा के लिए इतनी अधिक सक्रिय है, क्यों न हम तनिक जागरूक होकर रक्षा-पंक्ति को सुदृढ़ कर दें, ताकि नेत्र-रोग इन पर आक्रमण करने का दुस्साहस ही न कर सकें।

नेत्रों की रक्षा का भार माता-पिता, आक्रान्त व्यक्ति एवं शासन पर समान रूप से है। इसे भार न मानकर कर्तव्य रूप से निभाना चाहिए। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में जैसे जन्मपूर्व, प्रसवकाल, शैशवावस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था में नेत्र-रक्षा के साधारण नियमों का पालन करने से नेत्र-रोगों को रोकने में आशातीत सफलता मिल सकती है।

जन्म के पूर्व नेत्र-रक्षा

अच्छा हो, अपने नेत्र-स्वास्थ्य को दृष्टि में रखकर ही भावी पति-पत्नी विवाह सूत्र-बन्धन में बँधे। इस प्रकार की सावधानी बरतने से आनुवंशिक नेत्र-रोगयुक्त संतान उत्पन्न होने की संभावना बहुत कम रहती है। इसी ध्येय से कुछ देशों में विवाह के पूर्व स्वास्थ्य-परीक्षा-पत्र लेना वांछनीय माना जाता है। यदि दुर्भाग्य से पति-पत्नी दोनों की नेत्र-दृष्टि अधिक क्षीण हो तो उन्हें इस बात का निर्णय करना होगा कि वे संतानहीन रहना पसंद करेंगे अथवा दृष्टिमंद बालक को जन्म देंगे।

कुछ वर्णों में सगोत्र विवाह की प्रथा प्रचलित है जिसमें सगे संबंधियों में विवाह हो जाता है। नेत्र के कुछ रोग माता-पिता से उनके बच्चों में चले जाते हैं और इस प्रकार

सगे संबंधियों में विवाह होने से उनका रूप अधिक विकृत हो जाता है; अतएव सगोत्रीय विवाह प्रथा का बहिष्कार होना चाहिए।

कहावत है कि बच्चों के सुन्दर नेत्र एवं सुन्दर शरीर का आधार उनके माता-पिता का स्वास्थ्य ही है। यह कहावत माता के लिए विशेष रूप से चरितार्थ होती है, अतएव गर्भकाल ही से माता के स्वास्थ्य का ध्यान रखना नेत्र-रक्षा का प्रमुख अंग है। प्रायः यह देखा गया है कि गर्भकाल के आरम्भ में जिन माताओं को जर्मन खसरा निकल आती है उनके बच्चों में विषम नेत्र-रोग जन्मकाल ही से दृष्टिगोचर होते हैं। इससे गर्भिता स्त्री को संक्रामक रोगों से बचना चाहिए। इन माताओं को कठिन व्रत नहीं करने देना चाहिए तथा उन्हें संतुलित आहार (जिसमें अच्छे प्रोटीन एवं विटामिन का समावेश रहता है) दिया जाना चाहिए, क्योंकि अवपोषण से भी भावी संतान में अनेक नेत्र-रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

कुछ माताएँ जननेन्द्रिय, संबंधी रोगों से पीड़ित रहती हैं और इन रोगों का कुप्रभाव उनके भ्रूण पर पड़ता है जिससे उनमें तथा उनके नेत्रों में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए गर्भ के पूर्व जननेन्द्रिय संबंधी रोगों का निवारण करना उत्तम है।

जन्म के समय नेत्र-रक्षा

प्रसव के समय नवजात शिशु के नेत्रों की रक्षा का विशेष प्रबंध होना चाहिए क्योंकि शिशु के उत्पन्न होने के स्थान के पास ही शौच द्वार होता है जिससे कीटाणु सहज ही नेत्रों में प्रवेश कर सकते हैं। जैसे ही शिशु का सिर बाहर आता है उसके पलकों को स्वच्छ जल से साफ कर देना चाहिए और प्रसव हो जाने पर उसके नेत्रों में १ प्रतिशत सिलवर नाइट्रेट की एक बूँद डाल देनी चाहिए। कभी-कभी प्रसव-काल में चोट द्वारा आनन तंत्रिका पर आघात हो जाता है जिससे शिशु की पलक बंद होने की क्रिया यथोचित रूप से नहीं हो पाती। ऐसी अवस्था में योग्य नेत्र-चिकित्सक से उपचार कराना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा नेत्र खुले रहने से स्वच्छ पटल पर घाव हो जाने का भय रहता है।

शैशव अवस्था में नेत्र-रक्षा

इस अवस्था में शिशु के नेत्रों की रक्षा का भार मुख्यतः माता पर है। योग्य माता अपने शिशु के नेत्रों को उषाकाल में स्वच्छ जल से धोकर साफ करने का कार्य आरम्भ से ही अपनाती है। शिशु के नेत्रों को बड़ा एवं सुन्दर बनाने की माता की लालसा काजल आंजने को प्रेरित करती है। वास्तव में काजल के आँजन से किसी प्रकार की हानि नहीं होती; किन्तु आँजन लगाने में आवश्यक सावधानी बरतनी चाहिए। कभी-कभी माताएँ एक ही अंगुली अथवा सलाई से परिवार के सभी बालकों की आँखों में काजल लगा देती हैं। यदि दुर्भाग्य से किसी बच्चे को रोहे अथवा श्लेष्मला शोथ आदि संक्रामक रोग हो तो अंगुली अथवा सलाई के माध्यम से यह रोग अन्य बच्चों में भी फैल जाते है। अतएव एक बच्चे की आँखों में काजल लगाने के पश्चात् अंगुली अथवा सलाई को साबुन के पानी से अवश्य धो डालना चाहिए।

नवजात शिशु के जन्म के बाद यदि उसके नेत्रों से अश्रु अथवा मवाद आता हो तो यह इस बात का द्योतक है कि कहीं उसकी अश्रु-नलिकाओं में खराबी है। अस्तु इसके लिए तुरन्त नेत्र चिकित्सक द्वारा उपचार कराना चाहिए।

प्रत्येक माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे शिशु को चेचक का टीका छः मास की आयु के पूर्व ही लगवा दें। इससे शिशु को चेचक का प्रकोप नहीं होता और साथ ही चेचकजन्य अंधेपन की संभावना जाती रहती है।

शैशव काल में शिशु का विकास तीव्र गति से होता है जब उसे पौष्टिक तत्वों की आवश्यकता होती है। अतएव शिशु के आहार में प्रोटीन, विटामिन एवं कैलशियम होना चाहिए। साधारणतया यह सभी तत्व माता के दूध से प्राप्त हो जाते हैं किन्तु यदि किसी कारणवश माता का दुग्ध यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध नहीं हो तो डिब्बे का दूध व्यवहार किया जा सकता है। छः मास की अवस्था के बाद दूध के साथ ताजे फल एवं तरकारियों का रस भी शिशु के लिए लाभकारी होता है। इस अवस्था में यदि शिशु को पतले दस्त आते हैं तो उसका शीघ्र उपचार करना चाहिए अन्यथा सूखा रोग हो जाने का भय रहता है। जिन परिवारों में एक भी बच्चे को सूखा रोग हो चुका हो अथवा रात्रि के समय कम दिखाई देता हो तो आहार संबंधी विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। विटामिन 'ए' एवं पूर्व याचित प्रोटीन का उपयोग शिशुओं के लिए अधिक लाभकारी सिद्ध होता है।

बाल्यकाल में नेत्र-रक्षा

इस अवस्था में बालक बहुत ही चंचल प्रकृति का होता है। उसका क्रीड़ा क्षेत्र घर से हट कर खेल का मैदान हो जाता है, जहाँ वह स्वच्छंद रूप से सभी खेलों में भाग लेता है। इन खेलों में कुछ तो भयंकर एवं खतरनाक होते हैं; जैसे गुल्ली-डंडा, तीर-कमान, गुलेल, हवाई बन्दूक आदि। इन खेलों में कभी-कभी नेत्रों में चोट लग जाया करती है जो बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण होती है। घायल बालक प्रायः नेत्र-दृष्टि खो बैठता है। इसलिए यथा संभव बालकों को इन खेलों से दूर रखना चाहिए। इसी प्रकार छोटे बालकों को नुकीले टीन के खिलौने जैसे हवाई जहाज, राकेट, चकरी आदि भी खेलने के लिए नहीं देना चाहिए। दीपावली के अवसर पर आतिशबाजी से भी कई दुर्घटनाएँ होती देखी गई हैं जिनमें बालकों के नेत्रों को गम्भीर रूप से क्षति पहुँचती है। इनको रोकने के लिए सावाधानी बरतना परम आवश्यक है।

बाल्यकाल से ही बालक को पढ़ने-लिखने की उचित रीति सिखलानी चाहिए। स्वस्थ बालक को लगभग १४ इंच की दूरी पर पुस्तक रख कर पढ़ना चाहिये। यदि वह पुस्तक को नेत्रों के अधिक समीप रखकर पढ़ता है तो संभवतः उसे निकट दृष्टि रोग है, अतएव नेत्र परीक्षण के पश्चात् उसे चश्मा लगाना चाहिए और पुस्तक को उपर्युक्त दूरी पर रखकर पढ़ने का अभ्यास कराना चाहिए। बालकों को दिन ही में पढ़ना चाहिए। उनकी पुस्तकें भी मोटे टाइप में छपी हुई होनी चाहिए, जिससे उन्हें पढ़ने में असुविधा न हो। बालकों को लेट कर पढ़ने से सदैव अनुत्साहित करते रहना चाहिए। उन्हें लम्बे समय तक बैठकर पढ़ने के लिए भी मना करना चाहिए। पुस्तक पढ़ते समय उस पर काफी प्रकाश पड़ना चाहिए। कम प्रकाश में पढ़ने से नेत्रों पर अनावश्यक रूप से जोर पड़ता है और वे जल्द ही थक जाते हैं। रुग्णावस्था में बालक का लिखना-पढ़ना अवांछनीय है क्योंकि अस्वस्थ स्थिति में पढ़ते रहने से बालक की दृष्टि कमजोर होने की सम्भावना रहती है। बालकों

को सीधे बैठकर लिखने के लिए उत्साहित करते रहना चाहिए। कापी पर झुककर लिखना हानिकारक है। स्कूल के अध्यापकगण बालक की नेत्र-रक्षा में प्रसंशनीय योगदान कर सकते हैं। अच्छी पाठशाला में वर्ष के आरम्भ में प्रत्येक बालक की स्वास्थ्य परीक्षा होती है जिसमें नेत्रों पर विशेष ध्यान दिया जाता है—स्कूल में संक्रामक रोगों के फैलने की सम्भावना रहती है, यदि बालक के नेत्रों से अश्रु बहता हो अथवा नेत्र लाल रहते हों तो तुरन्त चिकित्सक द्वारा निदान कराना श्रेयस्कर होता है।

युवावस्था में नेत्र-रक्षा

युवावस्था में नेत्रों में व्यवसाय सम्बन्धी चोट लगने की अधिक सम्भावना रहती है; अतएव उद्योग प्रतिष्ठानों में नेत्र-सुरक्षा का विशेष प्रबन्ध होना चाहिए। जहाँ धातु की वस्तुओं को रेतने अथवा काटने का काम होता हो, वहाँ श्रमिक को सुरक्षा चश्मा अवश्य लगाना चाहिए जिससे लोहे के छोटे कण आँख में न जा सकें। यदि दुर्भाग्य से आँख में चोट लग जाय अथवा उसमें कण प्रविष्ट हो जायँ तो शीघ्र नेत्र-चिकित्सालय में श्रमिकों का उपचार कराना चाहिए। यदि उद्योग प्रतिष्ठानों के स्वामी, शासन एवं श्रमिक दुर्घटनाओं को रोकने के लिए सामूहिक प्रयत्न करें तो व्यावसायिक चोट द्वारा उत्पन्न अंधेपन का औसत बहुत कम किया जा सकता है। नेत्र को विशेष प्रकार की हानि सूर्य ग्रहण को देखने में हो जाती है। ऐसे तो यह किसी भी अवस्था में हो सकती है पर अधिकांशतः युवा व्यक्ति इसके रोगी देखे गये हैं। सूर्य के तीव्र ताप से आँख का पीत बिन्दु जल जाता है और दृष्टि मन्द हो जाती है। इस प्रकार के दृष्टि विकार को स्कूलों में अथवा सूर्य ग्रहण के पूर्व होने वाले मेलों में स्वास्थ्य-शिक्षा के माध्यम से सहज ही रोका जा सकता है।

युवावस्था में जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोग भी अधिक संख्या में पाये जाते हैं। उनके कुछ प्रभाव से नेत्र में अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। अतएव जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोगों की उचित रोक-थाम नेत्र-रक्षा का एक आवश्यक अंग बन जाता है। यदि कोई व्यक्ति इन रोगों से पीड़ित हो और अचानक ही उसे अपने नेत्रों में लाली अथवा दर्द अनुभव हो तो बिना किसी लज्जा किये उसे इनकी चिकित्सा करा लेनी चाहिए। कभी-कभी गर्भ-काल में माता के हाथ पैरों पर सूजन आ जाती है और वह बढ़कर नेत्रों पर भी अपना कुप्रभाव डालकर उनकी दृष्टि मन्द कर देती है।

प्रौढ़ावस्था में नेत्र-रक्षा

प्रौढ़ावस्था में नेत्र में कुछ परिवर्तन हो जाते हैं जैसे मोती काठिन्य होना, नेत्र के अग्र कोष्ठ का उथला होना आदि। इन परिवर्तनों से दृष्टि का निकट बिन्दु दूर हो जाता है एवं सबलबाय होने की संभावना बढ़ जाती है। इसलिए प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति को वर्ष में एक बार अवश्य ही अपने नेत्रों का परीक्षण करवाते रहना चाहिए। संध्या के समय अखबार के छोटे अक्षरों को पढ़ने में कठिनाई होना, इस बात का द्योतक है कि दृष्टि का निकट बिन्दु दूर हो गया है और अब पढ़ते समय चश्मे की आवश्यकता है। चश्मे का नम्बर प्रत्येक दो वर्ष पश्चात् प्रायः बदल जाया करता है। सबलबाय के रोग का भी

आरम्भ बहुधा इसी अवस्था में होता है। सिर में पीड़ा होना, आँखों में तनाव बना रहना, बिजली के वाल्व के चारों और रंगीन घेरों का दिखाई देना इस रोग के कुछ लक्षण हैं। इनमें से यदि एक लक्षण भी किसी व्यक्ति को अनुभव होता हो तो शीघ्र ही नेत्र चिकित्सक से परीक्षा करा लेनी चाहिए क्योंकि इस तथ्य को भलीभांति समझ लेना आवश्यक होगा कि सबलबाय का उसकी आरम्भिक अवस्था ही में निदान कर चिकित्सा करा लेने से उससे उत्पन्न अंधापन रोका जा सकता है सबलबाय द्वारा नष्ट दृष्टि को पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता।

प्रायः ऐसा देखा गया है कि यदि कोई व्यक्ति युवावस्था से ही अधिक तम्बाकू अथवा शराब या दोनों ही का निरन्तर सेवन करता रहता है तो प्रौढ़ावस्था तक पहुँचने पर उसकी दृष्टि मन्द हो जाती है। तम्बाकू और शराब में रहने वाले विषैले तत्त्व दृष्टि तंत्रिका को क्षीण कर देते हैं; अतएव इन मादक पदार्थों का सेवन कम-से-कम करना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति की दृष्टि इनके सेवन से मन्द होती हुई प्रतीत हो तो तुरन्त इनका प्रयोग बन्द कर देना आवश्यक है। जिन प्रांतों में मद्य-निषेध है वहाँ मेथेलेटेड स्प्रिट के वितरण पर कड़ी नजर रखनी चाहिए अन्यथा शराब पीने वाले इसका उपयोग करके अपनी दृष्टि खो बैठते हैं।

वृद्धावस्था में नेत्र-रक्षा

वृद्धावस्था में सम्पूर्ण शरीर की रक्षा-क्षमता कम हो जाती है, साथ ही प्रौढ़ावस्था में होने वाले नेत्रीय परिवर्तन अधिक विषम रूप ले लेते हैं। साठ वर्ष की अवस्था पर पहुँचने पर अधिकांश व्यक्तियों के मोती अपारदर्शक बन जाते हैं जिसे मोतियाबिन्दु की संज्ञा दी जाती है। इस मोतियाबिन्दु के बनने की क्रिया में अग्रकोष्ठ काफी उथला हो जाता है। यदि रोगी के नत्र की बनावट सबलबाय के लिए पूर्व प्रवृत्ति रखती है तो ऐसी अवस्था में सबलबाय का आक्रमण हो जाता है। इस आक्रमण से रोगी को अत्यधिक पीड़ा ही नहीं होती है, वरन् उसकी दृष्टि के क्षीण होने का भय रहता है; अतएव सबलबाय के आक्रमण होने पर शीघ्रातिशीघ्र नेत्र चिकित्सालय में इलाज कराना चाहिए। यदि रोगी प्रति वर्ष अपने नेत्र-परीक्षण का क्रम पालता आया है तो सबलबाय के आक्रमण के पूर्व ही नेत्र विशेषज्ञ शल्य क्रिया द्वारा नेत्र-तनाव को कम कर देता है और इस प्रकार सबलबाय से होने वाला अन्धापन रोका जा सकता है। वृद्धावस्था के मोतियाबिन्दु की शल्य-चिकित्सा अच्छे नत्र चिकित्सालय में होने से पुनः दृष्टि प्राप्त की जा सकती है। जहाँ नेत्र चिकित्सालय बहुत दूरी पर हों, शासकीय नेत्र-शिविरों में यह सुविधा प्राप्त की जा सकती है। बहुधा यह देखा गया है कि अनेक अयोग्य व्यक्ति ग्रामों में जाकर नेत्र शिविर लगाकर शल्य-चिकित्सा करते हैं। इससे अनेक भोले-भाले ग्रामीण अपनी दृष्टि खो बैठते हैं। इस प्रकार के दृष्टि विकार को रोकने के लिए शासन एवं स्थानीय अधिकारियों को उचित कदम उठाना चाहिए। केवल मान्यताप्राप्त नेत्र-चिकित्सकों को ही नेत्र शिविर लगाने का अधिकार होना चाहिए। विषम परिस्थितियों में भी सतिया द्वारा आँख नहीं बनवानी चाहिए।

वृद्धावस्था में कुछ असाध्य नेत्र-रोग दृष्टि-पटल एवं रंजित-पटल की धमनियों में कठिनता आ जाने से उत्पन्न हो जाते हैं। इससे पीत बिन्दु एवं दृष्टिपटल की कार्यक्षमता गम्भीर रूप से क्षीण हो जाती है। इस प्रकार के व्यपजनन को संभवतः रोका नहीं जा सकता, किन्तु पौष्टिक तत्वों एवं धमनी-विस्फारक औषधियों के सेवन से व्यपजनन की गति धीमी की जा सकती है। इस अवस्था में यदि व्यक्ति मधुमेह एवं अतिरक्त दाब का रोगी होता है तो उसके दृष्टिपटल पर रक्तस्राव एवं अन्य गम्भीर विकार उत्पन्न हो सकते हैं, जिससे दृष्टिविहीनता हो जाती है। इन शारीरिक रोगों के समय रहते उचित उपचार कराते रहने से इनसे नेत्र में होने वाले उपद्रवों की गंभीरता को अवश्य कम किया जा सकता है। शरीरस्थ रोग से यदि नेत्र में विकार उत्पन्न होने का भय हो तो शीघ्रातिशीघ्र योग्य नेत्र विशेषज्ञ की सहायता प्राप्त करनी चाहिए।

———

प्रामाण्यविचारः

मीमांसारत्नम् सुब्रह्मण्य शास्त्री,
रीडर, मीमांसा, प्रा० वि० एवं ध० संकायः

मीमांसाश्लोकवार्तिके "सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत्परीक्ष्यताम्" इत्यादिनोपक्रम्य, सांख्यादिपरमतनिराकरणपूर्वकं स्वतःप्रामाण्यवादः सोपपत्तिकं समर्थितः। स एव शास्त्रदीपिकातर्कपादादिष्ववर्वाचीनैर्मीमांसकैस्समर्थितः। तस्यैव सङ्ग्रहेण निरूपणमस्मिन् लघुकाये निबन्धे निरूप्यते।

प्रामाण्यस्वरूपम्

अत्र प्रामाण्यशब्दो भावव्युत्पत्त्या प्रमितिपरः। तदर्थश्च—याथार्थ्यापरपर्यायमर्थतथात्वरूपं प्रकृते विवक्षितम्। न त्वनधिगतार्थगन्तृत्वरूपम्। चोदनाप्रामाण्याक्षेपावसरे—'नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना' [शा० भा० पृ० १३] इत्यादिभाष्ये—अर्थातथात्वमेवाक्षिप्तम्, समाहितमुत्तरत्र। अस्य विस्तरो न्यायरत्नमालायां द्वितीयप्रकरणे द्रष्टव्यः। इदञ्च प्रामाण्यं प्रकृतेऽभिमतम्। तत् स्वत उत्पद्यते, स्वतो ज्ञायत इति केचन मन्यन्ते। अपरे तु द्वयमपि परतः उत्पद्यते, परतो ज्ञायत इति च मन्यन्ते। तत्र स्वतःप्रामाण्यवादिनां मीमांसकानामयमाशयः—यया सामग्र्या ज्ञानमुत्पद्यते, तयैव सामग्र्या प्रामाण्यमप्युत्पद्यत इति ज्ञानोत्पादकसामग्रीजन्यत्वं उत्पत्तौ स्वतस्त्वम्, यया सामग्र्या ज्ञानं गृह्यते, तयैव सामग्र्या प्रामाण्यं गृह्यत इति ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वं ज्ञप्तौ स्वतस्त्वम्—इति।

परतः प्रामाण्यवादिनामयमाशयः—यया सामग्र्या ज्ञानमुत्पद्यते, न तया सामग्र्या प्रामाण्यमुत्पद्यते, किन्तु तद्भिन्नया सामग्र्या, अतस्तन्मते ज्ञानोत्पादकसामग्रीभिन्नसामग्रीजन्यत्वमुत्पत्तौ परतस्त्वमिति फलति। एवं यया सामग्र्या ज्ञानं गृह्यते, तया सामग्र्या प्रामाण्यं न गृह्यते, किन्तु तद्भिन्नयान्ययैव सामग्र्या गुणज्ञानादिलक्षणया प्रामाण्यं गृह्यते। अतो ज्ञानग्राहकसामग्रीभिन्नसामग्रीग्राह्यत्वं ज्ञप्तौ परतस्त्वमिति। उपर्युल्लिखिते प्रकारद्वये—आद्यः प्रकारः स्वतःप्रामाण्यवादिनाम्, चरमः प्रकारः परतः प्रामाण्यवादिनामिति विवेकः।

तत्र मतचातुर्विध्यम्

तत्र सत्कार्यवादिनस्सांख्याः-ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वतो ग्राह्यमिति मन्यन्ते। तार्किकास्तु-ज्ञाननिष्ठं प्रामाण्यमप्रमाण्यं चेति द्वयमपि परतो ग्राह्यमिति। ताथागतास्तु—अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं परत इति मन्यन्ते। मीमांसकाः, तदनुसारिणोऽद्वैतवेदान्तिनश्च प्रामाण्यं स्वतः, अप्रामाण्यं परत इत्यातिष्ठन्ते। एवं मीमांसाग्रन्थेषु प्रकारचतुष्टयमुपन्यस्तं विचारितं च।

सांख्यमतोपन्यासनिरासौ

तत्र सांख्याः सत्कार्यवादिनः, यथा प्रामाण्यरूपं कार्यम् ज्ञाननिष्ठम्, तथाऽप्रामाण्यरूपं कार्यमपि ज्ञाननिष्ठम्। सर्वत्र कार्यं स्वकारणातिरिक्तं कारणान्तरं नापेक्षते। एवं सति

तत्र मानाभावः लाघवं च । अतः प्रकृते यथा प्रामाण्यं स्वत उत्पद्यते तथाऽप्रामाण्यमपीति । इदं चानुपपन्नम् तथाहि—यथा ज्ञाने प्रामाण्यमस्ति, तथाऽप्रामाण्यमप्यस्ति । अतः परस्पर-विरुद्धयोर्धर्मयोरेकस्मिन्धर्मिणि सत्त्वात् प्रामाण्यग्रहणवेलायामप्रामाण्यं कुतो न गृह्यतेऽविशेषात् । अतस्सांख्यमते किं ज्ञानं प्रमाणम् ? किं ज्ञानमप्रमाणमिति विवेक एव दुर्लभः । यद्युच्येत एका ज्ञानव्यक्तिः प्रामाण्यं गृह्णाति, अपरा च ज्ञानव्यक्तिरप्रामाण्यं गृह्णातीति । अस्यां व्यवस्थायां नियामकं किंचिद्वक्तव्यम्, तद्दुर्लभम्, अत इमं पक्षं परित्यज्य, तार्किकाः प्रामाण्याप्रामाण्ययोः परतस्त्वं व्यवस्थापयन्ति ।

तार्किकमतोपपादननिराकरणे

तत्र तार्किकाः स्वकीयं मतमित्थमुपस्थापयन्ति । यज्ज्ञानमुत्पद्यमानं प्रमात्मकमेवोत्पद्येत । तर्हीदं रजतमिति विपर्ययज्ञानम्, स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयश्च कथमुपपद्येयाताम् । किं चानवधृतप्रामाण्यकं यज्ज्ञानं तदनभ्यासदशापन्नज्ञानमित्यभिधीयते । तत्र संशयो जायते तस्याप्यनुपपत्तिस्स्यात् । अतः स्वतःप्रामाण्यपक्षं विहाय, परतः प्रामाण्यपक्षस्वीकार एव युज्यत इति । प्रत्यक्षादिज्ञानं यया सामग्र्या उत्पद्यते, तया सामग्र्या प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा नोत्पद्यते, किन्तु गुणलक्षणया प्रामाण्यमुत्पद्यते, दोषलक्षणयाऽप्रामाण्यमुत्पद्यते । अतो ज्ञानोत्पादकसामग्र्यन्या, प्रामाण्योत्पादकसामग्री भिन्नाऽऽस्थेया । एवं यया सामग्र्या ज्ञानं गृह्यते तया सामग्र्या प्रामाण्यं न गृह्यते, दोषज्ञानलक्षणयाऽप्रामाण्यमिति । एवं च सामग्रीतस्समुत्पद्यमानं ज्ञानं न प्रमात्मकं भ्रमात्मकं वोत्पद्यते । ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं गुणज्ञानेन प्रामाण्यम्, दोषज्ञानेन चाप्रामाण्यं गृह्यते । अतो यथा ज्ञाननिष्ठं प्रामाण्यं परतः, एवं ज्ञाननिष्ठमप्रामाण्यस्यापि परतस्त्वम् । अत उभयं परतो ग्राह्यमिति तदीयः पन्थाः । अयं चाविचारितरमणीयः इति विमर्शका मन्यन्ते । तेषामयम्भावः—ज्ञानं राशिद्वये विभक्तम्-प्रमात्मकम्, भ्रमात्मकं चेति, तत्रोत्पद्यमानं ज्ञानं यदि प्रमात्मकं न भवति, तर्हि भ्रमात्मकं स्यात् । यदि भ्रमात्मकं न भवति, तर्हि प्रमात्मकं स्यात् । प्रकारद्वयातिरिक्तस्य तृतीयस्य प्रकारस्याभावादुत्पद्यमानं कीदृशं स्यात् ? महदिदं सङ्कटमापतितं परतःप्रामाण्यवादिनाम् । एवं ज्ञानं निस्स्वभावं स्यादिति । अतो जायमानं ज्ञानं प्रमात्मकं वा भवति, भ्रमात्मकं भवतीत्यवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । अतः प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वस्वीकारमन्तरा नान्या गतिरस्ति । अप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं सौगतमतनिराकरणावसरे पराकरिष्यते । तस्मादुत्पद्यमानं ज्ञान कारणदोषवशात्, बाधकप्रत्ययवशाद्वा अपोदितं भवति । संशयश्च य उपन्यस्तः, सोऽपि कारणदोषवशादिति सेत्स्यति । अनभ्यासदशापन्नज्ञाने संशयश्च य उपन्यस्तः, सोऽपि न युज्यते, संशयं प्रति निश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वात् सोऽपि नोपपद्यते ।

सौगतमतोपन्यासनिरासौ

तस्माद्परासह्यमानमिदं तार्किकमतं न युक्तिसहमिति मन्वानाः सौगता अप्रामाण्य स्वतः, प्रामाण्यं परत इति स्वपक्षमुपस्थापयन्ति । तथाहि—अप्रामाण्यमवस्तु, अर्थादभावरूपम्, अतस्तत्र कारणापेक्षा न विद्यते । प्रामाण्यं च वस्तु, अतस्तत्कारणमाकांक्षति । तच्च कारणं संवादज्ञानरूपम्, अर्थक्रियाज्ञानरूपं वा, गुणज्ञानरूपं वा भवति । अत्रार्थक्रियाशब्देन प्रयोजनं विवक्षितम् । गुणसत्वे दोषा न सन्तीति गुणाभावेन दोष इति दोषज्ञानान्मिथ्यानि-

भ्रमः। वस्तुतस्तु दोषेण मिथ्यात्वं न जायते अपि तु स्वाभाविकमिति। एवं चाप्रामाण्यं स्वत; प्रामाण्यं संवादिज्ञानादिना भवतीति तन्मतस्थितिः।

अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं परत इति तथागतानाम्मतमविमृश्यमानसुन्दरमिति मीमांसका मन्यन्ते। तेषामयमाशयः। तथा हि—ज्ञानमर्थतथात्वरूपस्य प्रामाण्यस्य जनने ग्रहणे च स्वयमसमर्थं सज्ज्ञानान्तरमपेक्षेतान्यदपि ज्ञानं ज्ञानत्वाविशेषात् स्वयमसमर्थं सज्ज्ञानान्तरमपेक्षेत तदापि ज्ञानं ज्ञानान्तरंमित्येषानवस्था स्यात्। सा च मूलक्षयकरीत्यतो न युक्तः। अत एवोक्तं वार्तिके—

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते॥
परापेक्षं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित्।
मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति॥"

अत्रेदं बोध्यम्—अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं परत इति बौद्धोक्तमर्थमुत्सर्गाख्येन तर्केण निरस्यन् वार्त्तिककारः स्वपक्षं प्रासीसधत्। उत्सर्गाख्यस्य तर्कस्येदं स्वरूपम्-बाहुल्यादृष्टमपेक्ष्य बाहुल्यदृष्टतयाऽदुर्बलस्योपगमार्हतानामुत्सर्ग इत्यभिधीयते। यथा—स्वस्थस्य पुरुषस्य जाग्रतो ज्ञानं प्रामण्याप्रामाण्यान्यतरनिर्धारकप्रमाणस्यानुपनिपाताविशेषेऽपि बाधकमन्तरेणाप्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तं प्रति स्यात्, न तु प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तं प्रति। तथा च वार्तिकम्—

"तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥"

—चो० सू० श्लो० ५३ इति।

अस्यायमर्थः—बोधात्मकत्वेन, प्रकाशात्मकत्वेन ज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यं प्राप्नोति। स्यतस्सिद्धस्य प्रामाण्यस्योत्पत्तिस्स्वतस्त्वेऽपवादः कारणदोषः। तत्सद्भावे च प्रामाण्यमेव नोत्पद्यते। अतः कारणदोषः उत्पत्तिस्वतस्त्वे बाधकः। एवं ज्ञप्तिस्वतस्त्वस्यापवादो बाधः। अत एव 'इदं रजतम्' इति ज्ञानस्य 'नेदं रजतमि'त्यनेन बाधात्पूर्वज्ञाने प्रामाण्यं न गृह्यते। तथा च प्रामाण्यगतोत्पत्तिगतस्वतस्त्वापवादस्य कारणदोषस्य ज्ञप्तिगतस्वतस्त्वापवादस्य बाधस्य च सत्त्वे प्रामाण्यं नोत्पद्यते, न गृह्यते च। तयोरभावे प्रामाण्यमुत्पद्यते, ज्ञायते चेति श्लोकस्यार्थः। तेन कारणदोषबाधकज्ञानाभ्यां प्रामाण्यस्यापवाद इति। किञ्च स्वतस्सर्वप्रमाणानामिति पूर्वार्धेन विज्ञानहेतूनां प्रामाण्येऽपि व्यापर इति प्रतिज्ञातम्। उत्तरार्धेन सामग्र्यन्तराभावस्तत्र हेतुरुक्तः।

"न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते।"

अत्रान्येन—विज्ञानसामग्र्यतिरिक्तेनेत्यर्थः। एवं च सर्वेषां घटादिभावानां स्वोत्पत्तौ कारणापेक्षासत्वेऽपि स्वकार्ये जलानयनादौ न कारणापेक्षा विद्यत इति। तत्रापि कारणदोषबाधकज्ञानयोर्वैषम्यप्रदर्शनम्, दोषबाधकज्ञानयोरयं विशेषः—बाधकज्ञान साक्षादेव, अर्थादव्यधानेन भवति। कारणदोषे तु क्वचिद्विलम्बेन भवति। यथा 'इदं रजतम्' इत्यत्र नेदं रजतमिति ज्ञाने उत्पन्ने सति पूर्वज्ञानीनबन्धनो व्यवहारो निवर्तते। प्रवृत्तिश्च फलं प्रमाणानाम्। प्रकृते प्रवृत्त्याख्यस्य फलस्यापहारो बाध इति मन्तव्यम्।

'साक्षाद्विपर्ययज्ञानात् लघ्व्येव त्वप्रमणता।
पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि सिध्यति॥"

—श्लो० वा० श्लो० ५७ इति।

तत्र साक्षादित्यनेन विषयैकत्वमभिप्रेतम्। विपर्ययज्ञानादित्यनेन विरोधः। लघ्व्येवेत्यनेन विरोधस्याविचारितसिद्धतां दर्शयतीति ध्येयम्। अतो बाधकज्ञानेन साक्षादप्रमाण्यं बोध्यते। किञ्च पूर्वज्ञानबाधमन्तरेणोत्तरस्योत्पत्तिरेव न सिध्यति। न च वैपरीत्यमाशङ्कनीयम् परस्याजातत्वात्। अत एव न्यायरत्नमालायाम् पार्थसारथिनोक्तम्—

"पूर्वं परमजातत्वादबाधित्वैव जायते।
परस्यानन्यथोत्पादात् नाद्या बाधेन सम्भवः॥"

कारणदोषस्थले तु कियता विलम्बेन विषयीकर्तुमापाद्य, गोदोहनेन चमसबाधवत् बाधः कल्प्यते। यथा पीतः शङ्ख इत्यत्र शङ्खे पीतिमाऽवगम्यते। दोषज्ञानं तु चक्षुषि पित्तदोषमवगमयति। अतः पूर्ववदप्रमणता लघ्वी न भवति तथापि कारणदोषज्ञानप्रणाड्याऽर्थातुल्यार्ततां प्राप्य, कियताविलम्बेनास्त्येव बाधः। यथा गोदोहनेन पुरुषार्थेनापि क्रत्वर्थस्य चमसस्यार्थिकतुल्यविषयकतया बाधो भवति, द्वयोरपि प्रणयनद्वारकत्वात्। गोदोहनेन प्रणयने साधिते चमससस्य बाधः। एवं प्रकृते पीतज्ञानं पीतं गृह्णाति। तच्च श्वेते पीतभ्रमस्य कारणत्वेन ज्ञाते नेत्रे दृश्यमानं स्वजन्यस्य पीतज्ञानस्य भ्रान्तत्वमवगमयति। तद्भ्रान्तत्वेनार्थान्तिरत्वमिति बाधसिद्धिः। एवं च ज्ञानानां प्रामाण्यं स्वत उत्पद्यते, ज्ञायते कारणदोषबाधकज्ञानाभ्यां तदपोद्यते। गुणज्ञानस्य हेतुत्वपक्षेऽनवस्थादोषः, अन्तिमस्य स्वतःप्रामाण्ये प्रथमज्ञानस्यैव तत्स्वीकार उचित इति। यत्र प्रथमज्ञानानन्तरं द्वितीयज्ञानमुत्पद्यते, तत्र द्वितीयस्य प्रामाण्यं प्रथमस्याप्रामाण्यमिति। यथा 'इदं रजतमि'ति ज्ञानानन्तरं 'नेदं रजतम्' इति ज्ञानम्। यदि द्वितीयज्ञानानन्तरं तृतीयज्ञानमुत्पदचते तद्विरोधि, तदानीं द्वितीयस्याऽप्रामाण्यम्, आद्यस्य प्रामाण्यमुज्जीव्यते। एवं चतुर्थज्ञानमिति बाधकज्ञानपरम्पराया अविश्रान्तौ कथं प्रामाण्यनिर्णय इति शान्तिकर्मणि वेतालोदय इति न शङ्कनीयम्। यत्र द्वितीयज्ञाने दोषो यदि न सम्भावितस्तदवसान एवं निश्चयः। यदि तत्र दोषस्सम्भावितः, ततस्तन्निराकरणप्रयासेन चतुर्थज्ञानावसानो निर्णय इति नाधिकज्ञानापेक्षा समस्ति। तावतैव तृतीयेन चतुर्थेन वा द्वितीयस्य तृतीयस्य बाधे सति यस्यैवाद्यस्य द्वितीयस्य वा प्रामाण्यं समर्थ्यते, तस्य स्वाभाविकं प्रामाण्यमनपोदितं भवति। इतरच्चापवादादप्रमाणमिति नानवस्थावकाशमासादयति। न किञ्चिद्धीयते। यथोक्तम्—

"एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः।
प्रार्थ्यते तावदेवैकं स्वतःप्रामाण्यमश्नुते॥"

—श्लो० चो० सू० ६१ इति।

अत्रेदं बोध्यम्—तथा हि -यदि ज्ञानं स्वनिष्ठं प्रामाण्यं स्वयं निश्चेतुमसमर्थं स्यात्तर्हि जगतीतले निश्चयशशश्रृङ्गायमाणस्स्यादित्यान्ध्यमेवाशेषस्य जगतस्स्यात्। न हि स्वतोऽसम्प्रधार्यमाणोऽर्थः परेणापि निश्चेतुं न शक्यते, अन्यस्यापि तद्वदेवासामर्थ्यात्। अतः किञ्चिद्दूरं गत्वा यत्र कुत्राऽपि स्वतो ग्राह्यमित्यङ्गीकरणीयम्। तद्वरं सामान्यतः सर्वज्ञानेष्वेव प्रामाण्यं स्वतोगृह्यत इत्यभ्युपगमः। तच्च ज्ञानग्राहकसामग्रीगाह्यत्वमिति प्रागवोचि।

एतादृशं स्वतो ग्राह्यत्वं मुरारिमिश्र-प्राभाकर-भाट्टमतेषु त्रिष्वपि युज्यते। तत्र मुरारिमिश्रः यमधिकृत्य मुरारेस्तृतीयः पंथा इत्यभियुक्तानां व्यवहारो दृश्यते। स हि मेने अयं घट इत्याकारकज्ञानोत्पत्यनन्तरं द्वितीयक्षणे घटमहं जानामीति तद्विषयकोऽनुव्यवसायः संजायते। तेनैव प्रामाण्यं गृह्यत इति, तन्मते प्रामाण्यस्य स्वतो ग्राह्यत्वमुपपद्यते।

गुरुमतानुसारिणस्तु—ज्ञानानां स्वप्रकशत्वमङ्गीकृत्य, घटमहं जानामीति (त्रिपुट्यात्मक) घटमहं जानामीति व्यवसायेन प्रामाण्यग्रहणमाचक्षते। तन्मते व्यवसायात्मकग्रहविषयत्वात् प्रामाण्यस्य स्वतो ग्राह्यत्वं उपपद्यते।

कौमारिलमतानुसारिणस्तु – 'अयं घटः' इति ज्ञानानन्तरं ज्ञातताऽपरपर्यायः कश्चनातिशयः घटे ज्ञानेन जन्यते, स च प्रत्यक्षः, ज्ञातो घट इति व्यवहारात्, तेन ज्ञानमनुमीयते। अनुमानाकारश्चेत्थं—घटः विषयतासम्बन्धेन ज्ञानविशिष्टः स्वरूपसम्बन्धेन ज्ञाततावत्वात्, एवं च तल्लिङ्गकानुमित्या प्रामाण्यं गृह्यत इति। अतो मतत्रयेऽपि स्वतो ग्राह्यत्वम्। अत्र निर्दिष्टक्रमो न, अपि तु बोधाय कश्चन क्रमोऽपेक्षित इति मन्तव्यम्।

इदं च स्वतःप्रामाण्यनिरूपणम्, वेदप्रामाण्यसिध्यर्थमेव। तावतेष्टं सेत्स्यति मीमांसकानाम्। तथापि सर्वज्ञानान्यधिकृत्य विचारस्तु महाविषयत्वसिध्यर्थम्। अत एव तत्रभवान् सुचरितमिश्रो निरदिक्षत् सामान्यविचारो विशेषे फलिष्यतीति। यथा—

"सामान्यानुगता शक्तिर्या काचन निरूपिता।
तदन्वितो विशेषोऽपि तद्द्वारव्यपदेशभाक्॥" इति।

अतः ज्ञानानां स्वतःप्रामाण्यसाधनेन वेदानां प्रामाण्यमनपोदितं सुप्रतिष्ठितं भवतीति शम्।

———

उपमा-विमर्शः

जगदीशचन्द्रशास्त्री
साहित्यप्राध्यापकः, प्रा० वि० एवं ध० संकायः

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ ॥
तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात् ।
ज्ञातं भवतीत्याकूतवान्निरूपयति शास्त्रसततस्ताम् ॥
स्थानस्थानविकीर्णं विचारमुपमागतं सुखेनैव ।
एकत्र द्रष्टुं ये वाञ्छन्ति तदर्थमेष मे लेखः ॥

मणिमण्डितमनोहरकर्णपूरमुक्ताहाराद्यलङ्कारालङ्कृताङ्गनेवोपमोत्प्रेक्षादीपकाद्यलङ्कार-सुशोभिता कविता सद्योऽनवद्यसहृदयहृदयहारिणी भवतीति नापरोक्ष मनुभवशालिनां प्रशस्तशेमुषीमताम् ।

तत्र काव्यात्मभूतरसादिरूपव्यङ्ग्यार्थं, वाच्य-वाचकरूपाङ्गोपस्कारद्वारा समुपस्कुर्वन्तोऽनुप्रासादय उपमादयश्चालङ्कार-व्यपदेश्या भवन्ति । तथाचोक्तं मम्मटाचार्यैः—

"उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥" —का. उ. ८ कार

आनन्द वर्धनाचार्यैश्च

रसभावादितात्पर्य माश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलङ्कृतीनां सर्वासा मलङ्कारत्वसाधनम् ॥" —ध्व. २. उ.

रसादिरूपव्यङ्ग्याभावे काव्यकमनीयताप्रयोजकवियोपमाद्यलङ्कारसन्निवेशनमपगतासुशरीरमण्डन मिव उक्तिवैचित्र्यात्पामरप्रशंसितमपि सहृदय-हृदयोद्वेगजननायैव भवति । रसादितात्पर्यविरहेऽपि क्वचिदलङ्कारव्यपदेशस्तु सादृश्यहेतुकत्वादौपचारिक एव चित्रगविगोव्यपदेश इव । इत्थञ्च—परम्परया रसादिरूपव्यङ्ग्यार्थोपस्कारकत्व मलङ्कारत्वमिति लघुतमं लक्षणमलङ्काराणां हस्तगतम्भवति ।

परिष्कारप्रवीणास्त्वित्थं परिष्कुर्वन्त्यलङ्कारलक्षणम् :—

समवायसम्बन्धावच्छिन्न, चमत्कृतित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्न ज्ञानत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपित, विषयित्वसम्बन्धावच्छिन्न शब्दार्थान्यतरनिष्ठावच्छेदकता-निरूपितावच्छेदकतावत्त्वमलङ्कारत्वम् । व्यङ्ग्यविशिष्ट-शब्दार्थज्ञानत्वेन, चमत्कारत्वेन कार्यकारणभावाभ्युपगमाद् व्यङ्ग्यभिन्नेत्यपि लक्षणे केचन सन्निवेशयन्ति । चमत्कारत्वावच्छिन्नं प्रति रसविशिष्टशब्दार्थज्ञानत्वेन कार्यकारणभावाभ्युपगमस्याप्रामाणिकत्वेन, लाघवात्तत्र रसज्ञानत्वेनेव कारणत्वाभ्युपगमात् प्रकृतलक्षणे रसभिन्नत्वरूपविशेषणनिवेशप्रयासस्तु कैश्चित् परिष्कारपाटवगर्वितमतिभिः कृतोऽपि नाऽतीव श्रद्धां जनयति विलक्षणविचक्षणानाम् ।

पूर्वोक्तलक्षणलक्षिताश्चालङ्कारा नाटचाचार्यश्रीभरतमुनिमतेन चत्वार एव दरीदृश्यन्ते । उपमा दीपकं, रूपकं, यमकञ्च । तथा च नाटचशास्त्रे :—

"उपमा रूपकञ्चैव दीपकं यमकन्तथा ।
अलङ्कारास्तु विज्ञेया चत्वारो नाटकाश्रयाः ॥" —अ. १७, श्लोक ४३

एषु चतुर्षूयमादयस्त्रयः साक्षादर्थोपस्कारका इति अर्थालङ्कारत्वेन व्यपदिष्टा भवन्ति। यमकालङ्कारस्तु साक्षाच्छब्दोपस्कारकत्वाच्छब्दालङ्कारव्यपदेशं भजति। अन्वय–व्यतिरेकनिकषपरीक्षणेऽपि सेयं व्यवस्था सुतरां प्रामाण्य मावहति।

एत एव चत्वारोऽवान्तरभेदोपभेदवैशिष्टचमनुभवन्त स्तत्तद्वैशिष्ट्योत्थविच्छित्तिसमनुरोधेन तत्तन्नामभाजो भवन्त्यनेकधाविभक्ताः, स्वीकृताश्च वामनभामहादिप्रामाणिकपूर्वाचार्यैः।

आपेक्षिकार्वाचीनैराचार्यमम्मटपादैरेकषष्टिसंख्याका अर्थालङ्काराः षट् च ते शब्दालङ्कारा स्वीकृताः सन्ति।

अन्यकतिपयप्रसिद्धाचार्यस्वीकृतसंख्यातालिका

आचार्यनाम	शब्दालङ्काराः	उभयालङ्काराः	अर्थालङ्काराः
दण्डी	६		३५
भोजराज	२४	२४	२४
जयदेवः	८		१००
कर्णपूरः	४३		६२
विश्वनाथः	७	१	७६
अप्पयदीक्षितः			१२३
श्री जगन्नाथः			७१ (अपूर्णाः)

स चायं संख्यानियमो ज्ञानसौकर्यायैव लाक्षणिकैरुपदर्शित आस्ते। वस्तुतस्तु नवनवोन्मेषदेदीप्यमानशेमुषीभि रहरहो नानाविधा अलङ्कारा प्रादुर्भाव्यन्ते, प्रादुर्भाविष्यन्ते चातोऽलङ्काराणामियत्तां निर्धारयितुं स एव शक्तो भवेद्योऽञ्जुलिभिरम्बुधिं परिच्छेत्तुं प्रभवेत्। आचार्यानन्दवर्धनपादैरप्यलङ्कारसंख्याविषये "सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च' (ध्व० १३०) इति वदद्भिरयमेवार्थः समुद्भावितः।

शब्दार्थभेदविभक्तेष्वेष्वलङ्कारेष्वर्थालङ्कारा एवार्थज्ञानस्यैव प्रवृत्तिप्रयोजकत्वात्प्रायशः सहृदयैः सोल्लासं काव्येषु विनियुज्यन्ते, विनियुज्यमानाश्चेतरकविभिः सशिरःकम्पं समाद्रियन्ते। प्रायशः :—

अशेषार्थालङ्काराणामनुपमा, कविचक्रचूडामणिभिः श्रीकालिदासप्रभृतिभिः सक्षणं काव्येषु प्रयुक्ता न केवलमात्मना काव्यवस्तूनि कज्जलेन नयन इवालङ्कुर्वाणा सहृदयमनोरमाऽपितु सर्वस्वप्रयोक्तृभ्यो विपुलसुवशःप्रदानसक्षेमेति कविभिरहमहमिकया निजोम्भितकाव्येषु समुपनिबद्धा निखिलाऽर्थालङ्कार-जीवातुभूतोदीयमानकवीनां कृते भूतधात्रीव प्राणिनामाधारस्थलीयमुपमा सर्वानतिशेत अलङ्कारा निति नाऽपरोक्षं प्रेक्षावत्स्वग्रगण्यानामालङ्कारिकाणाम्।

उपमालक्षणानि

एवमर्थालङ्कारवीजभूताया अस्या विविधानि लक्षणानि लक्षणग्रन्थेषु समवलोक्यन्ते। तथाहि :—

लक्षण-स्वरूपम्	आचार्यनाम	ग्रन्थनाम
'यत्किञ्चित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते। उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया॥'	श्री भरतमुनिः	नाट्यशास्त्रम्

लक्षणस्वरूपम्	आचार्यनाम	ग्रन्थनाम
'यथाकथञ्चित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते, उपमा नाम सा'	दण्डी	काव्यादर्शः
'स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः, साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा'	विद्यानाथः	प्रतापरुद्रीयम्
'उपमा यत्र सादृस्य लक्ष्मीरुल्लसतीद्वयोः, हृदये खेलतोरुच्चै स्तन्वङ्गी स्तनयोरिव'	जयदेवः	चन्द्रालोकः
'साधर्म्यमुपमा भेदे'	श्री मम्मटः	काव्यप्रकाशः
'प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः, भूयोऽवयवसामान्य योगः सेहोपमा स्मृता'	भोजराजः	सरस्वतीकण्ठाभूरणम्
'उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेद तुल्यत्वे, उपमा'	रुय्यकः	अलङ्कारसर्वस्वम्
'यथाकथञ्चित्साधर्म्यमुपमा'	कर्णपूरः	अलङ्कारकौस्तुभः
'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः'	विश्वनाथः	साहित्यदर्पणः
'व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः, क्रियानिष्पत्तिपर्यन्त मुपमाऽलङ्कृतिस्तु सा'	अप्पयदीक्षितः	चित्रमीमांसा
'सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारक मुपमाऽलङ्कृतिः'	पण्डितराजजगन्नाथः	रसगंगाधरः
'यत्सादृश्य प्रतियोगितायाम्, (प्रसिद्धः) उपमेयताव— च्छेदकावच्छिन्नत्व स्वाश्रयमात्रवृत्ति स्वा नवच्छेदकधर्मसामा नाधिकर्ण्योभयाभावः सौपमा'	विश्वेश्वरः	अलङ्कारकौस्तुभः

लक्षणेष्वेषु प्रायशः समेषामाचार्याणां लक्षणान्यंशतोऽथवा कात्स्न्र्येन खण्डितान्याचार्यजगन्नाथैः। पण्डितराजोपज्ञसिद्धान्तानुसारं वाक्यार्थोपस्कारकसुन्दरसादृश्यात्मिकोपमा (अप्रधान) व्यंग्याऽपि भवितुं शक्नोति। 'नहि व्यंग्यत्वालङ्कारत्वयोरस्ति कश्चिद्विरोध' इति तदुक्तेः। एवमेव-सिद्धान्तविपिने नानावीथ्यवलम्बिनों ग्रन्थकारा दरीदृम्यन्ते। एतद्विषयविस्तरस्तु परस्ताद्दर्शयिष्यते।

अर्थालङ्कारेषुपमा-प्रवेशः

साचेयमुपमा शैलुषीव चित्रभूमिकाभेदाद् विविधव्यपदेशं भजन्ती नृत्यन्ती च काव्य रङ्गे निजाभिनयविदां सहृदयानां हृदयानि रञ्जयति। प्रायशः सर्वत्रार्थालङ्कारेषु सादृश्यस्यानुस्यूतत्वात्। ऋते सादृश्यात्केऽप्यर्थालङ्काराश्चमत्कृतिं जनयितुं न प्रभवन्ति। तथाहिः—

इदं सादृश्यं क्वचिन्मुख्यार्थस्य साक्षादुपस्कारकम्, क्वचिच्चोपस्कारकान्तरोपस्करण द्वारा। तत्र साक्षादुपस्कारकं यथाः—'इन्दुरिव मुख' मित्यत्र सादृश्यवर्णनं मुखोत्कर्षरूप व्यंग्यस्य तद् द्वारा रसस्य साक्षादुपस्कारकम्। एवं—

"न केवलं भांति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनीसैव नितम्बिनीव,
यावाद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः"

इत्यनन्वये स्वस्य स्वेन वर्ण्यमानं सादृश्यं बाधितं सत् द्वितीयसतीर्थ्यव्यवच्छेदरूपं व्यंग्यं प्रकाशयति।

तथैवोपमेयोपमायाम् :—

"कमलेवमतिर्मतिरिवकमला तनुरिवविभाविभेव तनुः,
धरणीवधृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति तस्य"

इत्यत्र मतिकमलयोः, तनुविभयोः, धृतिवरण्योश्च मिथः क्रमशः स्पृहणीयत्व, प्रचितत्व, विस्तृतत्वरूपं प्रकृतकवितान्तर्गत 'सततं विभाति' पदद्वारा सामान्याकरतयोच्यमानं साधर्म्यं तृतीयसब्रह्मचारिव्यवच्छेदकरूपं व्यंग्यं व्यञ्जयति।

प्रतीपे च :—

"त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्रसदृशोविधुः"

इत्यादौ वक्त्रलोचनयोः प्रतियोगित्वविधया वर्ण्यमानं सादृश्यम्मुखनयनयोरुत्कर्षमभिव्यनक्ति।

"पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः॥"

इति तुल्ययोगितोदाहरण आवेदनक्रियाख्यस्साधारणो धर्मो विरहानुभावत्वेन प्रकृतानां विरहिणी वदन, हृदय, वपुषां सादृश्यं बोधयन् व्यङ्ग्य-विप्रलम्भोपस्कारकः।

दीपकस्थलेऽपि :—

"कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम्
कुलवालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्सेऽमृतानाम्"

इत्यत्र स्पर्शाक्षमत्वरूपस्साधरणो धर्मः कुलवालिकास्तनकृपणधनादिकयोः प्रकृताप्रकृतयोः सादृश्यम् बोधयन् कुलवालिकाप्राशस्त्यात्मकस्य व्यङ्ग्यस्योपस्कारको वरीवर्ति।

एवमेव :—

"पंकजं पश्यतः कान्तामुखं मे गाहते मनः" इति स्मरणे

"अयं प्रमत्तमधुपस्त्वन्मुखं वेत्ति पंकजम्' इति भ्रान्तिमति पंकजं वा सुधांशुर्वेत्यस्माकन्तु न निर्णय इति ससंदेहे च सादृश्यं क्रमशः स्मृति, भ्रान्ति, संदेहानामुत्थापकं सत् प्रकृतस्य नायिकाऽननस्योत्कर्षरूपं व्यङ्ग्यं प्रकाशयति। अतश्च सादृश्यस्यपरम्परया व्यङ्ग्योपस्कारकत्वं साधितम्भवति।

इदमेव सादृश्यं क्वचिल्लक्षणयाऽप्युपलब्धम्भवति।

तद्यथा :—

'स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः स्वर्द्रुः कालः शत्रुभिरैक्षिस' इत्याद्युल्लेखोदाहरण एक एव राजा कामः, कल्पशाखी, कालरूपश्चावलोकित इति कथनेन राजनि कामादीनाम्बाधितत्वेन तत्सदृशे लक्षणा स्वीक्रियते। ततश्च लक्षणाघटकसादृश्यमेव क्रमशः सौन्दर्यशालित्व, वहुप्रदत्व, रिपु संहारकत्वरूपं व्यङ्ग्यार्थं समुपस्करोति।

"अयं हि धूर्जटिः साक्षाद्येन दग्धाः पुरः क्षणात्" इति रूपके

"प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा" इति परिणामे च

वर्णितोऽभेदोऽपि बाधितः सन् तत्सदृशं लक्षयतीति लक्षणाघटकमेव सादृश्यं प्रकृत-योर्भूपनयनयोर्वर्णनीयावस्थात उत्कर्षरूपं व्यङ्ग्यं विशदीकरोति।

पूर्वोक्तरीत्यैव :—

"पश्यनीलोत्पलद्वन्द्वान्निःसरन्ति शिताः शराः"

इत्यतिशयोक्तावपि शर-नीलोत्पलयो स्तत्सदृशे लाक्षणिकत्वाल्लक्षणाघटकं सादृश्यं लोचनयोः कटाक्षाणाञ्च सौन्दर्यशालित्वं तीक्ष्णत्वरूपं व्यङ्ग्यार्थमभिव्यनक्ति।

"नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्" इति-अपन्हुतौ

"त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्वुजन्मनोः" इति निदर्शनाया मपि क्रमशः सुधांशु-नीलाम्वुजयो र्लक्षणया स्वसदृशार्थोपस्थापकत्वाल्लक्षणाघटकमेव सादृश्यं प्रेयसीमुखनेत्रयुगलगतोत्कर्षरूपं व्यङ्ग्यमुपकरोति।

एतादृशस्थलेषु लक्षणाघटकसादृश्यस्य व्यङ्ग्यार्थोपस्कारकत्वं निखिलविचक्षणसम्मत-मिति नास्त्यत्र संशयलवः।

क्वचिच्च गम्यं सादृश्यं व्यङ्ग्यार्थोपकारकम्भवति। तद्यथा :—

"त्वमेव कीर्त्तिमान् राजन् विधुरेव हि कान्तिमान्" इति दृष्टान्ते

'विद्याहृद्याऽपि सावद्या विना विनयसम्पदम्' इति विनोक्तौ

"पल्लवतः कल्पतरोरेप विशेषः करस्य—ते वीर !"

भूषयति कर्णमेकः परस्तु कर्णं तिरस्कुरुते' इति व्यतिरेके

लब्ध्वा तव वाहुस्पर्शं यस्याः सकोऽप्युल्लासः

"जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्ज्वला दुर्वला ननु सा" इति समासोक्तौ

"मधुरं मधु तस्माच्च सुधा तस्याः कवेर्वचः" इति सारे च

गम्यमानमेव सादृश्यं तत्तदर्थानुपस्करोति।

तथा हि :—

(प्रथमस्थले) श्वेतत्वेन कीर्तिकान्त्योः, (द्वितीये) यथा लोके विनयसम्पदा शौर्यादिगुणाः शोभन्ते तथा विद्याऽपीति रीत्या विद्यागुणयोः, (तृतीये) रक्तत्व कोमलत्वादिभिः करपल्लवयोः, (चतुर्थे) विशेषण बलात्कान्ता-जयलक्ष्म्योः, (पंचमे च) एक शब्दोपात्तत्वबलेन मध्वादीनां गम्यं सादृश्य मौज्वल्योत्कर्षादिरूपानर्थानुपस्करोतीति सूक्ष्मैक्षिकया निभालितमास्ते। तदिदं सादृश्यं, प्रतियोगिविधयाऽपि व्यङ्ग्यार्थोपकारकम्भवति।

तद्यथा :—

"कोवेद गोपशिशुकः शैलमुत्पाटयेदिति" इति असम्भवे

"हृदि स्नेहक्षयो नाऽभूत्स्मरदीपे ज्वलत्यपि" इति विशेषोक्तौ च

लौकिकशिशुदीपसादृश्याभावप्रदर्शनेन सादृश्यस्य प्रतियोगिविधयैव कामोद्दीप्त्यद्भुतपौरुषरूप व्यङ्ग्यार्थोपस्कारकत्वमस्ति। रीत्याचानयोपमाया अलङ्कारान्तरघटकता विद्वत्कौतुकाय साधिता भवति।

———

साधना के रूप

गोपाल भट्ट
अनुसंधानसहायक, संगीतशास्त्र-विभाग

परमात्मा का स्वरूप ब्रह्माण्ड के अणु-अणु में व्याप्त विभु नाम से बतलाया गया है; वह सौन्दर्यनिधि और सत् चित् एवं आनन्दस्वरूप कहा गया है। अनादिकाल से मानव की यह चेष्टा रही है कि वह उस परमेश्वर के केवल 'अनुभवैकगम्य' स्वरूप के रहस्य को जाने तथा उसके रहस्योद्घाटन का कुछ सूत्र पा जाय; निदान उसने उसके स्वरूप की उत्कृष्टतम कल्पना की, उसने अपने हृद्गत भावों को कविता की तुकों में सरस वचनावली का चोला पहनाया और काव्य की रचना की। उस परमेश्वर के स्वरूप एवं उसके वैभव की इस गुण-कथा को उसने ऊँचे-नीचे मध्य, मन्द्र और तार स्वरों में किसी एक गति विशेष के साथ गाना प्रारंभ कर दिया और उस भाव-प्रधान काव्य के गायन में वह खो गया। यह उसकी आनन्दाराधाना ही कालान्तर में हमारे एक गम्भीरचिन्तन का विषय बन गई, जिसे हम संगीत की साधना कहते हैं। सौन्दर्यानुभूति की इस टोह में मनुष्य ने मकानों की भित्तों पर, पत्थरों पर, कपड़े और कागजों पर, पर्वतों की गुफाओं के भीतर रंगों के साथ कूँची चलाकर मनस्तल पर उठे भावों की उत्कृष्टतम कल्पना को साकार रूप दिया। संसार के प्रत्येक क्षेत्र में भावुक मानव-हृदय ने जो-जो भी कला के सुन्दरतम प्रतीक उपस्थित किये, उनमें भारतीय साधना अपना अन्यतम स्थान रखती है। इसके मूल में उसकी अध्यात्मचेतना कार्य करती रही है। इसी कारण यह साधना परम लौकिक होते हुए भी अलौकिक बन गई और एक दिव्य प्रेरणा देते रहने में सदियों के बीत जाने पर भी नित नवीन, नित नूतन एवं नित प्रेरक बनी हुई है।

इसी सौन्दर्य कल्पना के प्रत्यक्षीकरण में भावुक मानव-हृदय ने जहाँ-जहाँ भी अवसर पाया, कला के उत्कृष्ट नमूने खड़े किये और इस पर उसने तन, मन और धन सब कुछ लुटा दिया।

भवन-निर्माण में इसी सौन्दर्य-प्रदर्शन की रुचि ने नगण्य-सी वस्तु पत्थर, ईंट, चूना एवं गारा के सम्मिश्रण से कला के अन्यतम रूप उपस्थित किये, जिन्हें देखकर आज का प्रबुद्ध कलाकार भी आश्चर्य से चकित है। सौन्दर्योपासना के ये रूप भावुक मानव हृदय के सतत् जागरूक और ईश्वर के सत्, चित्, आनन्द स्वरूप की उपासना की ओर संकेत करते रहने की हमें प्रेरणा देते हैं; यह तथ्य भूलने का नहीं। पत्थर, लोहा, ताँबा, पीतल एवं जस्ता जैसी जड़ वस्तुओं से भी मनुष्य ने ऐसी दिव्य सुन्दर मूर्त्तियाँ बनाई हैं कि मानो वे सजीव-सी हों। विभु परमात्मा की ये शिवात्मक मूर्त्तियाँ आनन्दायक और उदात्त मनोभावों की समाराधना और उपासना की निधि हो गई हैं जिसके बल पर हमारी सारी आराधरा-सरणि दिव्य हो गई।

सौन्दर्योपासना की इन बहुमुखी चेष्टाओं को हम ललित कलाओं के नाम से जानते हैं। वाणी से उस परब्रह्म परमात्मा का गुण-गान काव्य-कला के रूप में आया, उस गुणगान का सुस्वरों के आरोहावरोह में ललित-विन्यास और वर्ण-सन्दर्भ एक विशिष्ट गति (लय) के साथ गायन

के रूप में प्रकट हुआ। अनेकानेक वाद्यों पर यही स्वर-विन्यास वादन का रूप लेकर आया और विविध वाद्यों के सहयोग से विशिष्ट हाव-भाव प्रदर्शन (भ्रूचालन एवं अंगचालन) रूप विविध गतियों के लालित्यपूर्ण प्रदर्शन एवं नृत्य के रूप में संगीत कला के सम्पूर्ण अंग को लेकर उपस्थित हुआ। इसी तरह चित्रकला, स्थापत्य एवं मूर्त्तिकला इसी भावुक मानव-हृदय के ललितमय रूप के प्रकाशन हैं जो इस मानव-हृदय से उद्भूत होकर दिव्य आराधना की वस्तु बन गये।

कला की साधना के आधारों पर विचार करते हुए यह देखने में आता है कि कलाकार ने विश्व की विचित्रता और उसके नियामक तत्व परमेश्वर के परम रहस्यमय स्वरूप के परखने में किस कोटि की भाव-भूमि को अपना आधार बनाया है। विविध द्वन्द्वमय जीवन-संघर्षों के घात-प्रतिघातों के बीच उठने वाली अनन्त भाव-तरङ्गों को जो कलाकार अधिक सहृदयता से पहचान सका होगा और उन द्वन्द्वों के घात-प्रतिघातों में जो अपने आपको जनसाधारण के बीच रख सका होगा, वही भावुक साधक उत्कृष्ट साधना का स्वरूप खड़ा कर सका होगा। अतः कला के उपासक का सबसे पहला एवं परम आवश्यक गुण है कि वह सौन्दर्योपासक हो; दूसरे वह शेष सृष्टि के प्रति कल्याण-कामना को लेकर साधना-पथ पर अग्रसर हुआ हो। आदिकाव्य श्रीमद्रामायण के रचयिता व्याध महर्षि वाल्मीकि काममोहित क्रौंच पक्षियों के युग्म में से एक पर बाण लगने पर उसकी तड़फन पर शोक-द्रवित होकर जिस समवेदना के स्वर में करुणामयी वाणी से अपना हृदयोद्गार प्रकट कर उठे; वही संसार का प्रथम काव्य-गीत सिद्ध हुआ। करुणरस-प्रधान आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण का यह श्लोक संसार का सबसे प्रथम काव्य-प्रणयन था :

"मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।"

जिसमें मनुष्य की क्या पशु-पक्षियों तक के कल्याण की कामना उसकी साधना का बीजरूप था। आचार्य मम्मट ने काव्यकला के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए कहा है :

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।

काव्य की रचना यश के लिए, अर्थ प्राप्ति के लिए, संसार में समाज के सभी वर्गों के साथ व्यवहार चलाने के ज्ञान के लिए एवं शेष समाज का सृष्टिमात्र के शिवेतर की क्षति यानी कल्याण की कामना के लिए होती है। काव्य से तुरंत परम आनंद की सृष्टि होती है और पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार सब प्रकार से अपने पति के आनन्द की कामना से दुःख-सुख में उसके हित की बात के रूप में सलाह देती है उसी प्रकार काव्य की साधना से उपरोक्त फल प्राप्त होते हैं। यह तो रही काव्य-रचना के प्रयोजन की बात; किन्तु कला की साधना में 'यशसे' 'अर्थकृते' 'शिवेतरक्षतये' एवं 'सद्यः परनिर्वृतये' नामक तत्त्व तो स्पष्ट रीति से दीख ही पड़ते हैं। अधिक गम्भीरता से विचार करने पर विद्वान् लोग 'व्यवहारविदे' और 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' तत्त्वों की सिद्धि भी इन कला-साधनाओं से प्राप्त कर सकने का आधार देख सकते हैं। स्पष्ट ही है कि उत्कष्ट कला की साधना साधक के हृदय की तल्लीनता का प्रतिफल होती है और उसी से उसे उत्कृष्ट कोटि का आनन्द प्राप्त होता है उसी से वह सहृदयों को भी आनंदित

करने की पूर्ण क्षमता रखता है। इस साधना में उसे यश मिलता ही है सहृदयों के द्वारा उसे धन की प्राप्ति भी होती ही है। 'सद्यः परनिवृति' स्वयं कलाकार को अपनी उत्कृष्ट कला से होती ही है फिर सहृदयों को क्यों नहीं होती होगी, उदाहरण के लिए जयदेव, सूर, तुलसी, मीरा, नरसी, त्यागराज, कबीर, नानक के काव्य-गान और भजनोपदेशों को ले लीजिये। उनका स्वान्तःसुखाय ही गायन कीजिये। आज भी युगों के बीत जाने पर भी उनके उपदेश तुरंत उसी आनंद कोटि पर पहुँचा देते हैं, जिनका प्रयोग उन्होंने अपने समय में किया था। काव्य का 'शिवेतरक्षतये' जो प्रयोजन है उसे सुन्दर स्वरलहरी में कहने पर 'सद्यः फलति गान्धारी' के आधार पर कितना तुरंत कल्याणकारी प्रभावमय होता हैं; कहने की आवश्यकता नहीं, समझने से ही ज्ञात होता है।

कला-साधना के इस प्रयोजन को जान लेने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर आये कि जिस भावुक-हृदय में सृष्टि के प्रति जितनी कल्याणकारी भावनाएँ होंगी और वह जिस भाव-साधनाके आधार पर शब्द-ब्रह्म की उपासना करता हुआ वाणी के विलास-स्वरूप काव्य की रचना में सौन्दर्य-निधि परमात्मा के उस सत्-चित्-आनंद स्वरूप-वर्णन तथा उसके स्वान्तः सुखाय गायन की साधना करता है और 'शिवेतरक्षतये' जनजन कल्याण की कामना उसका ध्येय होता है, तब उसकी साधना कितनी दिव्य एवं मंगलमयी होती है यह कहने की आवश्यकता नहीं।

काव्यकार एवं गायक की इस साधना के समकक्ष ही चित्रकार की साधना है। वह भी कला के जिस उत्कृष्टतम सौन्दर्यमय स्वरूप की कल्पना को परम स्वाभाविक रूप में साकार करता है वही साधना का चरम उत्कृष्ट रूप है। संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि भवभूति रचित 'उत्तररामचरित' नाटक में सीता के मन में अपने पुराने वन-जीवन की स्मृति हो आने पर पुनः वन-दर्शन की जो इच्छा प्रकट हुई, उसके फलस्वरूप जिस चित्र प्रदर्शन की योजना हुई यह कितनी सजीव थी। चित्रकार कोई भी रहा हो किन्तु काव्यमयवर्णन से ज्ञात है कि चित्रकार राम के वन-जीवन को चित्रित करने में पूर्ण सफल सिद्ध हुआ। श्रीमद्भागवतादि पुराणों में बाणासुर की पुत्री उषा को स्वप्न में दीखे अपने भावी-पति के दर्शन से उसको प्राप्त करने की जो चिन्ता उठी, उसे उसकी सहेली चित्रलेखा ने किस प्रकार दूर किया। चित्रलेखा ने प्रथम तो संसार भर के प्रसिद्ध सुन्दर राजाओं के चित्र लिखे; इतिहास प्रसिद्ध सुन्दर पुरुषों के चित्र बनाये; किन्तु सभी के प्रति उषा ने असन्तोष प्रकट किया; निदान श्रीकृष्ण का चित्र सामने आते ही उषा कुछ सहमी, चतुर चित्रलेखा उषा के मन के भाव को समझ गई, उसने श्रीकृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न का चित्र बनाया। उषा ने तुरंत लज्जावश नेत्र नीचे कर लिये और अवगुण्ठन से उस चित्र की ओर भावमयी मुद्रा से देखने लगी। चित्रलेखा चतुर थी, उसने तुरंत ही प्रद्युम्न-पुत्र अनिरुद्ध का चित्र बनाया। उषा तुरंत उछल पड़ी और चित्र को अपने हृदय से लगा लिया। कथानक पौराणिक है किन्तु तथ्य यह है कि कलाकार कितना यथार्थ चित्रण में पटु है और अपनी सहेली की मन की व्यथा को दूर करने में कितनी तत्पर है। उसकी साधना कितनी सजीव और शिवेतरक्षति-परक है; अतः ज्ञात है कि कला की साधना कितनी कल्याण-कामना के लक्ष्य को अपने भीतर रखे हुए है जिसका उद्घाटन कलाकार अपनी साधना से करता है। अतः कलाकार का क्या लक्ष्य हो? क्या ध्येय हो? यह बतलाना अवशिष्ट नहीं रह जाता।

रही अब लोकरंजन की बात। जब कला की साधना उपर्युक्त स्तर पर होती है तब वह अन्यान्य सहृदयों को तो आनंदित करती ही है। कला-साधना के आधारभूत तत्त्वों के समझने में यदि हम तनिक भी उदासीनता कर जायेंगे और परम लौकिक व्यवहार रूप ही हमारा ध्येय रह जायगा तब न तो हम अपनी साधना में ही सिद्धि प्राप्त कर पायेंगे और न ही उस साधना का लक्ष्य ही प्राप्त हो सकेगा। मानव-हृदय के अन्तस्तल पर अनन्तर उठी भाव-तरंगों के व्यक्तीकरण एवं परम रहस्यमय उस सौन्दर्य-निधि परमात्मा के रहस्य ज्ञान की जिज्ञासा में बहुमुखी साधनाओं में लीन इन कला-साधकों के लक्ष्य एक ही हैं किन्तु साधनाएँ अलग-अलग हैं। उन के बीच अनुस्यूत 'सूत्रे मणिगणाः इव' की तरह एक ही भाव है। यदि इस साधना का यह लक्ष्य नहीं है तब तो योगीराज भर्तृहरि के शब्दों में हम मनुष्य होते हुए भी केवल घास-पात न खाने वाले पशु-सदृश ही जीवविशेष हैं, जिनके विषय में उन्होंने कहा है :

"साहित्य-संगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥"

यहाँ साहित्य (काव्य-साहित्य) एवं संगीत कला का नाम देने से यही तात्पर्य नहीं है कि काव्य शास्त्ररसज्ञ एवं संगीतरसमाधुर्य के उपासक ही पशु संज्ञा में जाने से बचे हैं। अन्य मनुष्य पशु या पशुवत् हैं। तात्पर्य यह है कि जो वास्तव में भावुक हैं रसज्ञ हैं परमात्म-तत्व एवं आत्म-तत्व के ज्ञाता हैं और उस सत्-चित्-आनंद स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति-साधना में निमग्न है और शेष सृष्टि की कल्याणकामना से आनन्दानुभव एवं रसास्वादन करने की चेष्टा में किसी विशिष्ट कला को अपना माध्यम (साधन) बनाये हुए है, वे ही अपने मानव जीवन की युक्ति-युक्त सिद्धि प्राप्त करते हैं। शेष चाहे वे कितने ही उन्नत एवं वैभव-सम्पन्न क्यों न हों; जिनके जीवन में सरसता नहीं, भावुकता नहीं, जीवन के संघर्षों के द्वन्द्वमय घात-प्रतिघात जिनके हृदय को द्रवित नहीं कर सके या कर सकें, वे क्या भर्तृहरि की भाषा में मनुष्य-कोटि की गणना के जीव हैं, अर्थात् नहीं। कविवर बिहारीलाल ने ऐसे ही सरस-भावुक विदग्धजनों को ही संसार-सिंधु के पार जाने वाला माना है और जो तन्त्रीनाद, कवित्त एवं सरस राग के आस्वादक नहीं रहे हैं; वे मानों उस संसार-सिंधु में बिना डूबे हुए ही डूब गये, जिनके उद्धार का कोई साधन नहीं सूझ पड़ता—

"तन्त्रीनाद कवित्त-रस सरस राग रतिरंग।
अनबूढ़े बूढ़े तरे जे बूढ़े सब अंग॥"

इस सरस-साधना को पुण्यवान लोग ही अपनी आराधना का विषय बनाते एवं उससे लाभान्वित होकर श्रेय-प्रेय की युक्तियुक्त उपलब्धि करते हैं।

———

काव्यप्रकाशोत्कर्षहेतूपादानम्

गोपराजु राम
शोध छात्र, साहित्य विभाग, प्रा० वि० एवं ध० संकायः

नियतिकृतनियमरहिता मित्यादि मङ्गलाचरणश्लोके काव्यप्रकाशकारैर्ब्रह्मनिर्मितेः कविनिर्मितौ वैलक्षण्यं व्यञ्जनाव्यापारेण प्रदर्शितं तस्मात् व्यङ्ग्यान्तरमप्यस्माभिः निःसार्यते यत् काव्यप्रकाशगता—लङ्कारप्रपञ्चोऽन्यालङ्कारिकप्रपञ्चेभ्यो विलक्षण इति। इदमेव हि वैलक्षण्यं काव्यप्रकाशमुत्कर्षयति। कि तद्वैलक्षण्यमिति चेदुच्यते तथाहि।

भरतमुनिनिर्मितेऽलङ्कारप्रपञ्चे काव्यस्य प्रयोजनं ब्रह्मानन्द एव। दण्डयभिमते लोकव्युत्पत्तिमात्रमेव, वामन सम्मते दृष्टादृष्टत्मकमेव, वाग्भटीये यशः एव। मम्मट निर्मितेत्वलङ्कारप्रपञ्चे काव्यस्य बहूनि फलानि। न केवलं यशः, ब्रह्मास्वादो वा, अपि तु धनलाभः व्यवहारज्ञानप्राप्तिः अमङ्गलनाशः उपदेशावाप्तिश्चेति मिलित्वा षट्प्रयोजनानि। अत एवाभिधेयस्य प्रयोजनानि निरूपयद्भिः काव्यप्रकाशकारैरुक्तम् :—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥" इति

अपि च काव्यकारणविषयेऽपि मम्मटीयेऽलङ्कारप्रपञ्चे महद्वैलण्यमवलोक्यते। यतो हि मम्मटाभिमतऽलङ्कारप्रपञ्चे काव्यं शक्तिनिपुणताभ्यासैर्मिलित्वा जातं सदुपहासास्पदं नैति। भामहाद्यभिमतालङ्कार प्रपञ्चे तु व्यस्तैः प्रतिभाव्युत्पत्यभ्यासैः समुद्भूतं सत्काव्यमुपहासास्पदमेति। आनन्दवर्धनाचार्यदण्डयोरभिमतेलङ्कारप्रपञ्चे केवल प्रतिभयैव समुदितं सत्काव्यं जनरञ्जकं नैव भवति। यद्यपि प्रतिभाया कारणत्वं दण्डिना यथोररीकृतं तथा मम्मटेनापि। व्यत्पत्यभ्यासयोः काव्यं प्रति कारणत्वं भामहेन यथाङ्गीकृतं तथा मम्मटेनापि स्वीकृतम्। परन्तु वैलक्षण्यमत्रैव वर्तते यन्मम्मटीयेऽलङ्कार प्रपञ्चे ते त्रयो मिलित्वा काव्यं प्रति कारणत्वं भजन्ते। अत एवोक्तं मम्मटै :—"इति हेतुस्तदुद्भव" इति। अनेनेदं द्योत्यते यत्काव्यप्रकाशकाराः यस्य कस्यापि कार्यस्य केवलमेकस्यैव कारणत्वं न, अपि तु मिलितानां कारणत्वमभ्युपगच्छन्तीति। एवं च काव्यं प्रति प्रतिभादीनां प्रत्येकतः कारणत्वं न, अपि तु मिलित्वैवेति मम्मटस्य सिद्धान्तः।

किं च भामहनिर्मितेऽलङ्कारप्रपञ्चे काव्यस्य स्वरूपं केवल शब्दार्थसाहित्यमेव। दण्डिनिर्मिते तस्मिन् काव्यं नामेष्टार्थव्यवच्छिन्नपदसमूहात्मकं स्फुरदलङ्कारयुक्तं दोषाभावयुतं च वाक्यमेव। रुद्रटेन तु काव्यस्य स्वरूपं केवलशब्दार्थयुगलरूपत्वेनैवाभ्यधायि। वामनेन तु स्वीयालङ्कारप्रपञ्चे काव्यं गुणालङ्कारयुक्त शब्दार्थसाहित्यरूपेण चित्रितम्। आनन्दवर्धनाचार्यैर्यद्यपि काव्यस्वरूप विवेचनाय ध्यानं न दत्तम् तथापि "शब्दार्थ शरीरं तावत्काव्य" मिति ध्वन्यभाववादिमतोपस्थापन प्रस्तावे यदुक्तं तस्मादिदमेव प्रतीयते यच्छब्दार्थ शरीरमेव काव्यमिति तेषामभिमतम्। भोजेन तु "निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दती"ति काव्यस्रूवपमभाणि।

मम्मटीयकाव्यस्वरूपे इदमेव वैलक्षण्यं यदलङ्काररहितमपि शब्दार्थसाहित्यं काव्यपदवाच्यं भवतीति। अत एवोक्तं तैः 'तददोषौ सगुणौ शब्दार्थावनलङ्कृती पुनः क्वापीति।

वामनान्ता येऽलङ्कारिका आसन् ते काव्यविभागं साधारणतः गद्यपद्य गद्यपद्योभयमयरूपेणैव कृतवन्तः। तेषांसमये अलङ्कार प्रपञ्चो नैव विस्तृतिमगमदित्यत्रेदमेव प्रमाणम्। वामनोत्तरं ध्वनिकारेण तु काव्यमुत्तममध्यमाधमभेदेन विभक्तम्। मम्मटेनापि स एव विभागोऽवलम्बितः किं च यथाऽनन्दवर्धनाचार्याणां मते चारुत्वोत्कर्षापकर्षकृतः काव्यविभागः तथा मम्मटमते व्यंग्यस्यातिशयानतिशय कृतः स इति काव्यविभागे ध्वनिकारच्छायाऽत्र प्रतिभाति तथापि ध्वनिकारैर्गद्य काव्यस्यापि निवेशः कृतः मम्मटेन तु नतथेति वर्तते वैलक्षण्यमत्रापि।

अपि च मम्मटाप्प्राक्तनालङ्कारिकाः काव्यस्यात्मानं वाच्यरूपेणैव निरूपितवन्तः। यथा भरतमुनि "तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः। न हि "सादृते कश्चित्पदार्थो वर्तत" इतिकाव्यात्माः वाच्यायितम्। ततोऽलङ्कारसंप्रदाय प्रवर्तकेन भामहेनापि काव्यात्मऽलङ्कारः वाच्यतयैव निरूपितम्। "काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षत" इति। ततः परं वामनाचार्येणापि "रीतिरात्मा काव्यस्ये"ति काव्यस्यात्मा रीतिर्वाच्यरूपेणैव प्रतिपादि। तदनु वक्रोक्तिजीवितकारेणापि "वक्रोक्तिः काव्यजीवित"मिति वाच्यरूपेणैव काव्यात्मा निरूपितम्। औचित्य संप्रदाय प्रवर्तकेन क्षेमेन्द्रेण" "औचित्यस्य चमत्कार कारिणश्चारुचर्वणे। रसजीवित भूतस्य विचारं कुरुतेऽधुनेति" वाच्यरूपेणैत्र काव्यात्मानिरूपितम्। किं बहुनाऽऽनन्दवर्धनाचार्येण ध्वनिसिद्धान्तस्थापकेन "काव्यस्यात्मा ध्वनि"रिति वाच्यतैव काव्यात्माभिहितः। एभ्यः संप्रदायप्रवर्तकेभ्योऽऽचार्येभ्यः मम्मटे ईदृशं वैलक्षण्यं वरिवर्तियत् काव्यात्मा ध्वनिरेवेति व्यञ्जना व्यापारेणैव प्रकटीकृतम्। आनन्दवर्धनाचार्यैर्यन्नकर्तुं शक्तं तन्मम्मटेन कृतमिति ध्वनिकारानन्दवर्धनान्महद्वैलक्षण्यं वर्तत इत्यत्र न कोऽपि सन्देहः।

मम्मटैः स्वपूर्ववर्त्याचार्याणां संप्रदायाः केचित् व्यञ्जनाव्यापारेण प्रत्याख्याताः। स्वाभिमतोऽपि पक्षः व्यञ्जनयैव प्रकटीकृतः। तथाहि।

तदोदोषावित्यादि काव्यलक्षणे "ऽनलङ्कृती पुनः क्वापी" त्यनेनालङ्कारसंप्रदाय निरासः।

"सगुणावित्यनेन रीतेः संप्रदायान्तरत्व निरासः।
अदोषावित्यनेनौचित्यस्य संप्रदायान्तरत्व निरासः।"

गुणानां रसधर्मत्वात् गुणप्रस्तावेन रसोऽपि तत्राभिव्यज्यते। स एव काव्यस्यात्मेति व्यङ्ग्य मर्यादयोक्तम्।

अन्येषामलङ्कारप्रपञ्चे ये ये काव्यात्मतयाविद्यन्ते तेषु ध्वन्यतिरिक्ताः सर्वे जीवात्मभूताएव। परमात्मा तु ध्वनिः। न च यथा जीवात्मनाशोत्तरं परमात्मप्राप्तिरिति शास्त्रे सिद्धान्तस्त थाऽत्रेति वाच्यम्, रीत्यादीनां परमात्माभिव्यञ्जकत्वात्।

अन्यत्रकाव्यप्रपञ्चे दशसंख्याकैस्ततोऽधिकैर्वा शब्दगुणै रर्थगुणैश्च रस उपस्क्रियते। मम्मटीयालङ्कारप्रपञ्चेतु त्रिभिरेव शब्दगुणैः, नार्थगुणैरपि, रस उपस्क्रियत इति महद्वैलक्षण्यम्। अत एवोक्तं मम्मटेन "त्रयस्ते न पुनर्दश" इति।

अन्येषामलङ्कारप्रपञ्चे काव्यं यदि दुष्टंस्यात्तत्सर्वथा परित्यज्यते। मम्मटीयेत्वस्मिन् न तथा, अपितूत्तमकोटावपि निवेश्यते। यथा—"न्यक्कारोह्ययमेवे"त्यादि। अत्र "एवोक्तमत्र शब्दरचना विपरीता कृतेति वाक्यस्यैव दोषो न वाक्यार्थस्येति। अत्र वाक्यार्थः रौद्ररस ध्वनिः। तस्य व्यंग्यविशिष्ट वाच्यवाचिभिः पदैः सङ्करः। विभावादिरूपतायामस्य इत्यादिकं रौद्रमेव पुष्णाति।

अन्येषामलङ्कारप्रपञ्चे काव्यशोभाकराः अल्पशोभाकराः बह्वोऽलङ्कारा वर्तन्ते। अत्र तु केवल काव्यशोभाकरा एव। तेऽपि द्वाषष्ठिमिताः। नतोऽधिका इत्यत्रापि वैलक्षण्यम्।

अपि च वक्रोक्तेरन्यत्र केवलमर्थालङ्कारत्वमेव अत्र तु शब्दालङ्कारत्वमपि। पुनरुक्त-वदाभासस्यान्यत्र शब्दालङ्कारत्वम्, अत्रतूभयांलङ्कारत्वम्।

मम्टात्प्राक्तनाचार्याणां स्वतन्त्रसिद्धान्त भूतानां ग्रन्थानां विषयाः काव्यप्रकाशे प्रकरण-विषयतया स्वीकृताः। यथा भरतमुनि पाद निर्मितिरससिद्धान्तस्थापकं नाट्यशास्त्रं रस-प्रकरणे स्वीकृतम्। अभिनवगुप्ताचार्यपाद विरचितलोचनमपि रसप्रकरणे स्वीकृतम्।

अलङ्कारप्रकरणे कुन्तकनिर्मितं वक्रोक्तिजीवितं स्वीकृतम्।

महिमभट्टविरचितं व्यक्तिविवेकोऽपि ध्वनिसिद्धान्त स्थापन प्रकरणे खण्डनविषयतया स्वीकृतः।

अपि च मम्मटात्प्राक्तनालङ्कारिकग्रन्थेषु स्थूलरूपेणैव प्रकृतविषयः प्रतिपादितः। प्रायस्ते विचारहीनाश्च। काव्यप्रकाशस्तु युक्त्या स्वोक्तिमुपपादयतां सूक्ष्मं च विषय-माविष्कुर्वतां मम्मटाचार्याणां कठिनोऽयं निबन्धः प्रतिपाद्यंशे नितरामुत्कर्षमादधाति।

किं च काव्यप्रकाशे बह्वो गुणाः वर्तन्ते। कोऽप्यश्लीलार्थः न प्रतिपादितः। नापि लक्षणाया अलङ्काराणां च निरर्थकचमत्कारकारिणो बह्वः भेदाः प्रदर्शिताः। वामनवाग्भटा-द्यनालोचिता व्यञ्जनावृत्तिः व्यंग्यार्थश्च सोपपत्ति सविस्तरञ्च न्यरूपि। दोषाश्च वामन-दण्डि वाभट भोजदेवादि कृताननेकान् निबन्धानपेक्ष्य समीचीनतयात्र निरूपिताः। वामनोक्त दशगुणानां स्वाभिमतगुणदोषाभावयोरन्तर्भाव्य सुष्टुयुक्तिकौशलं प्रादर्शि प्रायशः उत्कृष्टा एवालङ्कारा निरूपिताः। लिपेः सारवत्तापिविद्यते।

एतत्सर्वं समालोच्यैव माणिक्यचन्द्रेणोक्तम् :—

"सर्वालङ्कृति भालभूषणमणौ काव्यप्रकाशे मया।
वैधेयेन विधीयते कथमहो सङ्केतकृत्साहसमिति।"

———

अवतार-निरूपणम्

रामेश्वर प्रसाद त्रिपाठी
बी० ए० द्वितीय वर्ष, कला संकाय, का० हि० वि० वि०

अव्यक्तरूपस्य व्यक्तरूपेण प्रादुर्भावः अवतारपदेन गृह्यते। परमकारुणिकः पूर्ण-ब्रह्मपरमात्मा सर्वेषु जीवेषु कृपां कृत्वा लोककल्याणाय मर्त्यलोके अवतारं धत्ते। अवताराणां सत्ता श्रीमद्भागवते, गीतायाम्, वाल्मीकिरामायणे, तुलसीकृतरामचरितमानसे, उपनिषत्सु तथा महाभारतेऽपि सम्यक् रूपेण दर्शिताऽस्ति।

"सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि,
तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय,
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च॥
को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्,
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति,
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥" (श्री मद्भागवतम्)

ब्रह्मा स्वयमेव कथयति यत् हे प्रभो! देवेषु, ऋषिषु, मानवेषु, पशुपक्षिषु तथैव जल-चरादिषु योनिषु अजन्मनो भवतः ये अवताराः, ते असत्पुरुषाणां मदमथनाय तथा सत्पुरुषा-णामुपरि अनुग्रहाय भवन्ति। हे परमात्मन् भवान् एव सर्वव्यापकः अस्ति। यदा त्वम् योगमायायाः विस्तारं कृत्वा क्रीडां करोषि तदा त्रिलोक्याम् भवतः लीलाविधिं तत्समयञ्च कोऽपि न जानाति।

श्रीमद्भागवते देवकीदृष्टौ दिव्यात्मचतुर्भुजरूपप्रदर्शनपूर्वकं शिशुरूपेण प्राकट्यम् प्रतीयते। यथा—

"उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शंखचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥
इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः संपश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥" (भागवतम्)

अतः तस्य जन्म मानवानुरूपं देवक्याः गर्भात् नाऽभूत्। सः स्वयमेव उत्पन्नः। गीतायामपि भगवता श्रीकृष्णेन उक्तम्—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥" (गीता)

भगवत उत्पत्तिः प्रतियुगं समयानुसारेण भवति। एकस्मिन्नेव युगे अनेकानि जन्मानि अपि लब्धानि। यदा आवश्यकता भवति तदैव जन्म भवति। यदा अर्जुनः भगवतः अवतार-विषये जिज्ञासते, ईश्वरः स्वसर्वज्ञतां मत्वा कथयति—

"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।।" (गीता)

अत्र जिज्ञास्यते—ईश्वरः सर्वजन्मवेत्ता सर्वज्ञः, जीवोऽपि कथन्न तथा ? अत्र स्वयमेव भगवता उच्यते गीतायाम्—

"वेदाऽहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन् ।।" (गीता)

भूत-भविष्य-वर्तमानकालस्य ज्ञाता ईश्वरः एवास्ति । जीवस्य ऐहिकजन्मनोपि भूत भविष्यवर्तमानविषयाणां सम्यक् ग्राहकत्वं न भवति । पुनश्च भगवदवतारविषये पृष्टवन्तम् अर्जुनं प्रति श्री कृष्णेन उक्तम्—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।" (गीता)

पुनः जिज्ञास्यते—यदा ईश्वरः अजन्मा अव्ययात्मा तथा भूतानामीश्वरः अस्ति तदा तस्य उत्पत्तिः कथम् ?

यद्यपि ईश्वरस्य उत्पत्तिविनाशौ न भवतः तथापि अज्ञानिनां कृते तस्यापि जन्ममृत्यू भवतः इति साधारण्येन प्रतिभाति । अपम् अभिप्रायः यत् सर्वे तस्य अवतारं न जानन्ति । यदा सः मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंहादि रूपेण प्रादुर्भवति तदैव उत्पत्तिः; यदा तस्य रूपस्य अन्तर्धानं तदा विनाश इति मन्यन्ते । यदा सः तदअवतारे दिव्यं वपुः धारयित्वा मानवोचितां पद्धतिमाश्रयति तदा साधारणवुद्ध्या मन्वानाः अज्ञानिनः तं तिरस्कुर्वन्ति । ते न जानन्ति यत् ईश्वरः साक्षात् पूर्णब्रह्मपरमात्मा एव जगतः कल्याणाय अस्मिन् रूपे प्रकटीभूय दिव्यलीलां करोतीति । एका जिज्ञासा—"ईश्वरः एव प्रकृतिमधिकृत्य योगमायया प्रकटीभवति" इति कथनस्य को अभिप्रायोऽस्ति ? अयम् अभिप्रायोऽस्ति यत् जीवाः प्रकृतिवशाः सन्तः स्वस्वकर्मानुसारं उच्चावचयोनिषु जन्म लभन्ते तदनुरूपं सुखदुःखे चाप्यनुभवन्ति । ईश्वरस्तु असङ्गतया कर्मफलभाग् न भवति । ईश्वरः स्वप्रकृतिं वशीकृत्य समयानुसारेण दिव्यलीलां कर्तुं रूपं धारयति जीवः मातुः योन्याः शरीररूपेण बहिः आगच्छति पुनः विकासं प्राप्नोति । भगवतः सर्वशक्तिमत्त्वात् अवतारः कथम् ? भगवान् सर्वं कर्तुं समर्थोऽस्ति । जीवेषु दयां कृत्वा स्वरूपदर्शनेन, भाषणेन, स्पर्शेन च सुगमतया तदुद्धराय कृपालुर्भगवान् अवतरति ।

यथा—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।" (गीता)

भगवतः शरीरं पञ्चभूतात्मकं न वा ? कर्मप्रेरितजन्म स न लभते । स सर्वथा-कालकर्मभ्यामतीतः । कर्मणः स्थितिः मायायामेवाऽस्ति । ईश्वरः मायातीतः अस्ति । कर्मणः स्पर्शोऽपि तम् न भवति । गीतायां भगवतोक्तम्—

"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स वध्यते ।।" (गीता)

भगवतः शरीरं न, पञ्चभूतात्मक मपितु चिन्मयमेव। यदि योगी स्वयोगबलेन अन्तर्हितो भवति पुनः तस्मिन्नेव रूपे प्रत्यावर्तते तदा परमात्मनः अन्तर्धाने तथा प्राकट्ये किमाश्चर्यम्। महर्षिणा पतञ्जलिना अपि उक्तम्—

"कायरूपसंयमात्तद ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशः संप्रयोगे अन्तर्धानम्"

वाल्मीकिरामायणे वर्णितमस्ति यत् श्री रामचन्द्रस्य स्वर्गगमनकाले ब्रह्मा समस्तैः देवैः सह सरयूतीरस्य गोप्रतारघट्टे आयातः प्रार्थयामास भगवन्तं स्ववैष्णवे देहे प्रवेशनाय। तस्य प्रार्थनां स्वीकृत्य भगवान् सर्वैश्वर्यैः सह वैष्णवशरीरे प्राविशत्।

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥ (वाल्मीकि रामायणम्)

रामचरितमानसे अवतारप्रसङ्गः—

यदा श्री रामलक्ष्मणौ महर्षिणा विश्वामित्रेण सह धनुर्यागं द्रष्टुं जनकपुरीमगच्छताम् तदा जनकः श्री रामस्य स्वरूपं दृष्ट्वा विदेहः अभूत्। यथा—

"मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ विदेह विदेह विसेखी।
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि सब त्यागा॥"

महाभारतेऽपि अवतारसत्तायाः वर्णनमस्ति। महाभारतयुद्धसमाप्तेरनन्तरं यदा श्रीकृष्णः द्वारकां प्रत्यावर्तमानः मार्गे महामुनिमुत्तङ्कं दृष्टवान् तदा मुनिः श्री कृष्णोपरि क्रुद्धः अभूत् यद् ईश्वरस्य सर्वशक्तिमत्त्वात् कौरवपाण्डवदलयोः कथन्न संधिः सञ्जाता। मुनिः शापाय उद्यतोऽभूत्। भगवान् श्री कृष्णः प्रसन्नो भूत्वा अकथयत् यत् तपःप्रभावात् कोऽपि मम पराभवं कर्तुं समर्थो नास्ति। धर्मस्थापनाय अहमेव सृष्टिकर्ता विष्णुः, पालनकर्ता ब्रह्मा, विनाशकर्ता शंकरोऽपि। अस्मिन् काले अहम् मनुष्योस्मि मानवाचरणं करोमि। अतः अहम् कौरवाणां समीपं गत्वा सन्धिकरणाय अनुनयं विनयञ्च अकरवम् परन्तु मोहान्धः दुर्योधनः किमपि न श्रुतवान्। भयादपि ते न विचलिता अभवन्। अतो युद्धे कौरवपक्षिणः सर्वे योद्धारः कालमुखे प्राविशन्। इदम् श्रुत्वा मुनेः ज्ञानचक्षुः उद्बुद्धमभूत्। श्री कृष्णः तं मुनिं विश्वरूपमदर्शयत्।

केनोपनिषदि अपि वर्णनमस्ति यत् एकदा परब्रह्म परमात्मा देवासुरसंग्रामे देवानां विजयमकारयत्। सर्वे देवा मदमत्ता अभवन्। यक्षरूपेण भगवान् तेषाम् पुरत उपस्थितो भूत्वा अहंकारनिष्कासनाय विचारितवान्। मायामोहिता देवाः तं न अजानन्। भगवतः स्वरूपं तेनैव ज्ञातं भवति यः भक्तिमार्गमनुसरति। इन्द्रः यक्षस्य परिचयाय अग्नि तथा वायुं प्रैषयत्। ते असमर्था आसन्। स्वयं देवराज इन्द्रः पार्वत्याः संकेतानुसारेण अजानात् यत् यक्षः ब्रह्म एवा सीत्।

एभिः वर्णनैः स्पष्टमस्ति यत् ईश्वरावतारशरीरं मायिकं न भवति। अवताराणां जन्मानि कर्माणि अलौकिकानि भवन्ति। यथा "जन्म कर्म च मे दिव्यं" इति गीतायाम् भगवता निरूपितम्।

साधकः स्वेच्छया ईश्वरस्य साकारं निराकारं वा, सगुणं निर्गुणं वा रूपं भजते। तस्य परमात्मनः असंख्यैः दिव्यैः गुणैः सम्पन्नस्य सगुणसाकारस्वरूपस्य ध्यानं यदि क्रियते तदा

अत्युत्तमम् । इदम् ध्यानमेव भगवतः पुरुषोत्तमस्य समग्ररूपस्य ध्यानमस्ति । संसारे तेन समो दृष्टान्तो नास्ति एतद् बोधनाय । यथा जलं रसरूपे प्रकटितं भवति तथैव निर्गुणं निराकारं ब्रह्म भक्तानां प्रेम्णा तथा भावनया विज्ञानानन्दमयः सगुणसाकाररूपे प्रकटितो भवति । यस्मिन् काले भगवान् प्रकटितो भवति तत्पूर्वमेव साधकस्य शरीरस्य बहिर्भागे अन्तर्भागे च मनसि, बुद्धौ, इन्द्रियेषु शान्तेः, समतायाः, आनन्दस्य चातिशयो भवति ।

निर्गुणसाकारस्वरूपस्य द्वौ भेदौ स्तः । एकः मायाविशिष्टः द्वितीयस्तु मायातीतः । यत् मायातीतं रूपं तस्मिन् सत्वरजस्तसामभावोऽस्ति । येन रूपेण संसारे सः अवतरति तथा दृष्टिगोचरो भवति तत् मायाविशिष्टं रूपं भगवतः । वास्तविकं मायातीतं रूपं सर्वेषां दृष्टिगोचरं न भवति । यथा—

"नाऽहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।" (गीता)

परब्रह्मपरमात्मनः अंशावतारो ब्रह्मा, अंशांशावतारा मरीचिवशिष्ठादयः, आवेशावतारः वृद्धब्राह्मणकलावतारः नारदः, पूर्णावतारः श्री रामचन्द्रः तथा परिपूर्णावतारः श्री कृष्णः आसीत् । सत्ययुगे भगवान् नृसिंहावताररूपेण प्रह्लादस्य रक्षणं दुराचारकृतोपद्रवेभ्यः अकरोत् । त्रेतायुगे रामावतारः रावणविनाशाय, द्वापरयुगे कृष्णावतारः कंसमर्दनायाभृत् । कलौ भगवत् बुद्धस्य अवतारोऽभूत् अग्रे च कल्क्यवतारो भविष्यति । भगवतः श्रीकृष्णस्य दशावतारा :—

"वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते ।
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः" ।।

[गीतगोविन्दम्]

परम्परा और प्रतिभा

मैनेजर पाण्डेय
शोध छात्र, हिन्दी विभाग

परम्परा विकासोन्मुख जीवन्त मूल्यों के सातत्य का बोध है। परम्परा का सम्बन्ध केवल अतीत से नहीं है, बल्कि इसकी रेखा अतीत से चलकर वर्तमान में समायी हुई है। अतीत परम्परा की पृष्ठभूमि है और वर्तमान उसका प्रस्तुत चित्र। संस्कार अतीत के ही नहीं, वर्तमान के भी होते हैं तभी युग जीवन से युगातीत जीवन का सामंजस्य स्थापित हो पाता है। परंपरा में अतीत की ऐतिहासिक चेतना समाविष्ट है, परंपरा एक ऐतिहासिक बोध है जो अतीत के व्यतीत का नहीं, उसकी वर्तमानता का बोध है। बहुधा समसामयिक रचनाकार अपने साहित्य के अतीत में एक प्रकार के परंपरा बोध के लिए प्रत्यावर्तित होते हैं।

जब कलाकार की प्रतिभा समसामयिक संदर्भ में विवेचित होगी तो उसकी स्थिति वर्तमान में ही होगी। वैयक्तिक प्रतिभा वर्तमान की होती है परन्तु किसी राष्ट्र के साहित्य के अतीत की सामूहिक प्रतिभा ही वर्तमान के लिए परम्परा बन जाती है। प्रतिभा स्वयं भी पूर्णत: वैयक्तिक नहीं होती; क्योंकि उसमें प्रतिभाशाली की प्रवृत्ति ही नहीं, उसके परिवेश का भी अंश होता है। प्रतिभा द्वंद्वज होती है, वह व्यक्ति-चेतना और युग-चेतना के द्वंद्व तथा सामंजस्य से विकसित होती है।

व्यक्तित्व के विधायक तत्वों का विभाजन जब प्रवृत्ति और परिवेश में किया जाता है तब यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति की प्रवृत्ति स्वयं परिवेश—संयोजन की देन है। व्यक्ति की सहज विशिष्टता और सामाजिक परिवेश के सांस्कृतिक तत्वों के सचेत संयोजन से ही विशिष्ट व्यक्तित्व का विकास होता है। यद्यपि यदा-कदा संयोजन के इन दो स्तरों—सहज या प्रकृतिमूलक तथा सचेत या सांस्कृतिक में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, किन्तु कलाकार के लिए दोनों का संतुलन आवश्यक है। व्यक्ति के लालित्य बोध को जागृत करने के लिए सांस्कृतिक संयोजना अनिवार्य है। युंग ने संकल्पित चिंतन की चर्चा की है जिससे चिंतन विवेक सम्पन्न होता है और सचेत यथार्थ-ज्ञान समृद्ध भी। संकल्पित चिंतन वैज्ञानिक चिंतन है और वह सामाजिक चेतना का द्योतक है। कॉडवेल ने युंग के 'संकल्पित चिंतन' के आधार पर ही 'संकल्पित बोध' की धारणा की व्याख्या की है।[1] कॉडवेल के अनुसार जब हम अपने बोध को औचित्य, आत्मबोध, सौंदर्य और आदर्श की ओर प्रेरित करते हैं तो 'संकल्पित बोध' की स्थिति होती है। जिस प्रकार संकल्पित चिंतन विवेक अनुशासित होता है और सत्य के सामाजिक निकष को स्वीकार करता है, उसी प्रकार 'संकल्पित बोध' अनुभूति अनुशासित होता है और सौंदर्य तथा शिवत्व के सामाजिक निकष को स्वीकार करता है। व्यक्तित्व के इस विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि परंपरा संचित सामूहिक चेतना है और प्रतिभा वैयक्तिक चेतना, जिसके

[1] Christopher Candwell : "Illusion and Reality", P. 191.

मूल में संकल्पित चिंतन और संकल्पित बोध का अस्तित्व है। सामूहिक चेतना अपनी अभिव्यक्ति के लिए वैयक्तिक चेतना का आश्रय लेती है। जब सामूहिक चेतना का वैयक्तिक चेतना से सम्पर्क होता है तब दोनों चेतनाएँ अपनी-अपनी विशिष्टताएँ छोड़ कर सामान्य बन जाती हैं और कलाकार के व्यक्तित्व के माध्यम से अभिव्यक्त होकर अपनी संप्रेषणीयता में लोक-चेतना का रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार परंपरा और प्रतिभा का सम्बन्ध पूरक क्रिया-प्रतिक्रिया का होता है। लेकिन कभी-कभी संकुचित अर्थ में परम्परावादी प्रतिक्रियावादी बन जाता है जब कि प्रतिभा मौलिकता और नवीनता को प्रश्रय देने के कारण क्रांतिकारिता का पक्ष लेती है। "एक सफल सजग कवि के लिए, चाहे वह परंपरा-वादी हो या क्रांतिकारी, यह आवश्यक है कि वह अपने परिवेश के अनुरूप अपनी संवेदन-शीलता का नवीनीकरण करे।"[१] एक सच्चे कलाकार के लिए परंपरा में आस्था का होना आवश्यक है लेकिन परंपरावाद के प्रति आग्रह अनपेक्षित है। परंपरा का बोध और उसमें आस्था से प्रतिभा का संवर्द्धन होता है किन्तु परंपरावाद का मोह प्रतिभा को कुंठित करता है। प्रतिभा का विरोध परंपरा के सजीव, विकासोन्मुख और उसके स्वस्थ रूप से नहीं है बल्कि रूढ़ि से है, इसलिए परंपरा की सुरक्षा के प्रति आग्रह महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि परंपरा की वृद्धि, उसके सर्जन और विकास का प्रयास महत्वपूर्ण है। जो परंपरा प्रयोग और प्रगति को प्रश्रय नहीं देती, वह आत्मघात कर लेती है तथा उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। प्रयेक प्रयोग, जो प्रतिभा की देन है कालान्तर में परंपरा बन जाता है। इसलिए प्रयोग की प्रेरणा देने में असमर्थ परंपरा और नवीन परंपरा को स्थापित करने में असमर्थ प्रयोग दोनों ही निरर्थक हैं।

परंपरा का जो अंश हमें संस्कार देता है और संस्कार भी ऐसा जिसमें उदारता हो, जो समूचे व्यक्तित्व में उदात्त चेतना समाहित करने के साथ आत्मपरक पृथकत्व को बनाये रखे, वही महत्वपूर्ण है। निश्चय ही अपनी भाषा और साहित्य की परंपरा के प्रति दृढ़ श्रद्धा से असंपृक्त समर्पण से ही सच्चा साहित्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार काव्य की रचना प्रक्रिया में परंपरा का अर्थ है अतीत का अनुभव और परिवेश का अर्थ है वर्तमान का अनुभव तथा प्रतिभा है इन दोनों के ग्रहण, धारण, संशोधन और समन्वित अभिव्यक्ति की शक्ति।

किसी साहित्य या कला की परंपरा का इतिहास एक पृष्ठभूमि है जिसमें नवीन सृजन की संभावना होती है। नवीन प्रयोगों की संभावनाओं से सम्पन्न रचना अपनी परंपरा की एक नई कड़ी होती है। युग बोध से सम्पन्न कलाकार पूर्ववर्ती संवेदनशीलता को नवीन अर्थ देता है, "पुराने में नई जान डालता है और कभी-कभी पुरानी जान को नई काया देता है"[२] और पुराने शब्दों में नया अर्थ भरता है, क्योंकि विनोबा के शब्दों में "पुराने शब्दों में नया अर्थ भरने का प्रयास वैचारिक क्रांति की प्रक्रिया है।" इस प्रकार वह अपनी प्रतिभा के सहारे परंपरा का संरक्षक भी है तथा सर्जक भी। परंपरा की चेतना से साहित्य के विकास में नई दृष्टियों का समाहार होता है और जीवन की विवेचना अनेक दिशाओं से

---

[1] Herbert Read : "The Philosophy of Modern Art", P. 21.

[२] 'अज्ञेय' : 'सूरज का सातवां घोड़ा' की भूमिका से।

आती हुई किरणों की भांति संवेदन बिन्दुओं पर केन्द्रीभूत होकर जीवनगत सत्य को अनुप्राणित करती है। रचनाकार की प्रतिभा परंपरा की चेतना के कारण पूर्वकाल की विशिष्ट अनुभूतियों से अपनी अनुभूति का समन्वय और संतुलन प्रस्तुत करती है।

प्रतिभा नवीनता के प्रति आग्रहशील है और वह रचनाकार की स्वतंत्रता का कायल है क्योंकि सृजन स्वतंत्रता में ही संभव है। प्रतिभाशाली परम्परा को तोड़ता है, उसका पुनर्सृजन करता है और उसे सँवारता भी है। चूँकि मानव प्रज्ञा सतत नई अनुभूतियों से अनुप्राणित होती रहती है इसलिए जीवन और उसकी व्यापकता से संवद्ध काव्य प्रतिभा सीमा बद्ध नहीं रह सकती। "जीवन का प्रत्येक क्षण उसे नयी अनुभूति देता है, नयी प्रेरणा-शक्ति देता है, नया स्वर, नये लय और नये प्रतिविम्ब, प्रतीक, शब्द और रचना-शक्ति का ओज उसमें विकसित होता रहता है इसलिए प्रतिभाशाली कलाकार परंपरा की रुढ़िवादी व्यंजना को कभी ग्रहण नहीं कर सकता।"[१]

प्रतिभा अगर एक दैवी शक्ति है, नैसर्गिक प्रवृत्ति है, पूर्व जन्म का संस्कार है, आत्म-शक्ति का प्रकाशन है, व्यक्ति मानस की विशेष संकेंद्रित अवस्था है तो उसकी स्थिति परिवेश और परंपरा निरपेक्ष है, किन्तु अगर वह एक विकासशील मानसिक शक्ति है, चेतना का उत्कर्षित रूप है और व्यक्ति चेतना और युग चेतना के द्वन्द्व-सामंजस्य से प्रस्फुटित होने वाली रचना शक्ति है तो वह निश्चय ही परंपरा सापेक्ष है। 'प्रतिभा है' यह एक बात है और प्रतिभा विकसित है, विकासोन्मुख है या अविकसित है यह एक दूसरी स्थिति है। प्रतिभा का विकासशील स्वभाव उसकी परिवेशगत अनुभव सापेक्ष स्थिति का द्योतक है। प्रतिभा अगर सहजात शक्ति है या संस्कार है तो संस्कार में भी व्यक्ति का अपना और उसके समाज का अतीत सुरक्षित रहता है, क्योंकि संस्कार ज्ञानजन्य स्मृति ही है। प्रत्येक समाज की संवेदनशीलता और सौंदर्यानुभूति उसकी कला परंपरा में सुरक्षित रहती है इसलिए परम्परा प्रतिभा के विकास का कारण तत्व है। यही कारण है कि प्रतिभाशाली के लक्षणों की चर्चा करते हुए 'अज्ञेय' ने लिखा है—"अथक श्रम सामर्थ्य और अध्यवसाय, बहुमुखी क्रियाशीलता, प्राचुर्य, चिर जाग्रत, चिर निर्माणशील कल्पना, सतत जिज्ञासा और पर्यवेक्षण, देश काल या युग सत्य के प्रति सतर्कता, परंपरा ज्ञान, मौलिकता और आत्म विश्वास"[२] के सक्रिय रचनात्मक समुच्चय से ही एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व विनिर्मित होता है। इस प्रकार परंपरा प्रतिभा के मूल में भी निहित है और उसकी विकास प्रक्रिया में भी। प्रतिभा के निर्माण में परंपरा के दो रूप हो सकते हैं :१— संस्कार के रूप में जीवित परंपरा और २— परिवेश से अर्जित परंपरा।

---

[१] लक्ष्मीकान्त वर्मा : 'प्रयोग, प्रगति और परम्परा', आलोचना, १७ पृष्ठ २३।

[२] 'अज्ञेय'—'सूरज का सातवां घोड़ा' की भूमिका से।

पूर्वमध्ययुगीन अरब लेखकों द्वारा बौद्धधर्मसम्बन्धी विवरण

डॉ० जय शंकर मिश्र,
इतिहास विभाग, का० हि० वि० वि०

बौद्ध धर्म के विषय में पूर्वमध्ययुगीन अरब लेखकों ने भी सूचनाएं दी हैं, जो अत्यन्त संक्षिप्त और प्रक्षिप्त होते हुए भी उल्लेखनीय हैं। इनसे तद्‌युगीन भारत के धार्मिक स्वरूप तथा वैविध्य पर नया प्रकाश पड़ता है। यह सही है कि उनके ये विवरण केवल सूचना मात्र हैं। परन्तु इनका ऐतिहासिक महत्त्व है कि उस काल के अरब बुद्धिजीवियों को भारतीय धर्मों के जानने के प्रति अगाध रुचि थी तथा उन्हें भारतीय धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म की भी जानकारी थी। इन विवरणों में सबसे महत्वपूर्ण विवरण अलबीरूनी[१] (९७३ ई०–१०४८ ई०) का है जो महमूद गजनी का दरबारी लेखक था। उसने भारतीय धर्मों पर विस्तार से लिखने का प्रयास किया है। यद्यपि उसके काल में हिन्दू धर्म ही भारत में व्याप्त था। बौद्ध धर्म अपेक्षाकृत नाममात्र के लिए ही था और उसके अनुयायियों की संख्या बहुत कम थी।

बौद्ध धर्म, सिद्धान्त और मत के विषय में अलबीरूनी ने जो कुछ भी लिखा है, वह अबू-अल-अब्बास अलेरान शहरी[२] की पुस्तक से। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म-दर्शन की कोई अन्य पुस्तक उसे नहीं मिली थी। विभिन्न धर्मों के इतिहास पर अबू-अल-अब्बास ने अलबीरूनी के पूर्व एक बृहत् ग्रंथ की रचना की थी। 'कालगणना' पर लिखी गई अपनी पुस्तक में अलबीरूनी ने उसके धर्मपुस्तक से उद्धरण दिये है।[३] अलबीरूनी लिखता है, "मैंने बौद्ध ग्रंथ कभी नहीं पाया और न कभी किसी बौद्ध को ही जाना जिससे मैं उसके विषयगत सिद्धान्तों को जान पाता। मैं जो कुछ भी उनके बारे में जानता हूँ, वह केवल अलेरान शहरी की पुस्तक से।"[४]

गौतम बुद्ध और उनके अनुयायियों के सिद्धान्त की ओर संकेत करता हुआ अलबीरूनी कहता है कि "मैंने सुना है कि बुद्धोदन अपने अनुयायियों, शमनिय से बोलते हुए उन्हें सम्बोधित करता है, बुद्ध, धर्म, संघ, जैसे ये थे ज्ञान, धर्म, और अज्ञान।"[५]

अलबीरूनी ने बौद्धों के लिए 'शमनिय' शब्द का प्रयोग किया है। उसके पहले के अरब लेखकों ने भी बौद्धों को 'शमनिय' नाम से अभिहित किया है। उसके पूर्ववर्ती अरब-लेखकों ने बौद्ध धर्म और उसके विस्तार और प्रचार के विषय में सम्यक सूचनाएँ दी हैं।

---

१ Mishra J. S., Albiruni's Stay and Travel in India, Journal of Indian History, Kerala, Vol. XLIV, Pt. II, No 131, pp. 518-28.

२ अबू-अल-अब्बास अलेरान शहरी ने धर्मों का इतिहास लिखा था। अरुबीरूनी इस लेखक की पुस्तक को बहुत पहले (१००० ई०) से जानता था क्योंकि उसने अपनी कालगणना की पुस्तक में इसके उद्धरण दिये हैं, Sachau, Chronology of Ancient Nations, pp. 208, 211.

३ वही।

४ Sachau Albīruni's India, Vol. I, p. 249.

५ वही, पृ० ४०।

हम्जा अस्फहानी (३५० हि० = ९६१ ई०) ने लिखा है कि "दुनिया में पहले दो ही धर्म या सम्प्रदाय थे, एक समनियन और दूसरे केल्डियन (केल्डिया वाले)। समनिय पूरब के देशों में थे। उनमें से कुछ बचे हुए लोग अब भी कहीं-कहीं भारत में और चीन में हैं। खुरासान वाले इनको बहुवचन नें 'शमनाम' और एकवचन में 'शमन' कहते हैं।"[१]

इस कथन से कहीं अधिक स्पष्ट नदीम (३७५ हि = ९८५-८६ ई०) का कथन है। वह लिखता है कि "मैंने एक खुरासानी के हाथ का लिखा हुआ लेख पढ़ा था, जिसने खुरासान के पुराने समय की और फिर अपने समय की बहुत-सी बातें लिखी थीं। वह एक नियमावली के रूप में थी। उसमें लिखा था कि समनिय के पैगम्बर (मत प्रवर्त्तक) का नाम 'बोज आसफ' था और पुराने समय में इस्लाम के पहले ट्रांस काकेशिया के लोग इसी धर्म के अनुयायी थे। 'समनिय' शब्द संस्कृत के 'श्रमण' से निकला है। ये लोग संसार में रहने वाले, सभी लोगों और धर्मों के माननेवालों से अधिक उदार होते है। इसका कारण यह है कि इनके पैगम्बर 'बोज आसफ' ने इनको यह बतलाया कि सबसे बड़ा पाप जो नहीं करना चाहिए और जिसका मनुष्य को कभी विश्वास न रखना चाहिए, यह है कि कोई अपने मुँह से 'नहीं' न कहे। ये लोग इसी उपदेश पर चलते है और 'नहीं' कहना इनकी दृष्टि में 'शैतान' का काम है और इनका धर्म 'शैतान' को दूर करना है।"[२]

'बोधिसत्व' को इसने 'बोज असफ' लिखा है तथा 'श्रमण' को 'शमनिय'। निश्चय ही बौद्ध धर्म का आधार उदारवादी और सरल दृष्टिकोण था, जिसके कारण प्राचीन काल में अनेकानेक सुदूर देशों में अपने सिद्धान्तों और उपदेशों को फैला सकने में समर्थ हुआ।

अलबीरूनी के पूर्ववर्ती अरब लेखक यह भलीभाँति जानते थे कि बौद्ध धर्म का प्रचार कहाँ-कहाँ है। खुरासान और ट्रांस काकेशिया के बौद्ध धर्मानुयायियों को ही नहीं बल्कि वे चीन के बौद्ध धर्म को भी जानते थे। भारत और चीन का भ्रमण करने वाला अरब यात्री सुलेमान (२३७ हि = ८३७ ई०) ने लिखा है कि 'चीन के धर्म का मूल भारत में है और चीन वाले कहते हैं कि हमारे लिए बुद्ध की मूर्तियाँ भारत ने ही बनाईं। इन दोनों देशों के लोग पुनर्जन्म का सिद्धान्त तो मानते हैं, पर दूसरी साधारण बातों में भेद रखते हैं।"[३]

अलबीरूनी के अनुसार "पूर्वकाल में खुरासान, पर्सिस, इराक, मौसल तथा सीरिया के ऊपर का सीमावर्ती प्रदेश बौद्ध धर्मानुयायी थे।"[४] किन्तु अरथुस्त्र द्वारा 'मग' धर्म के प्रवर्तन से तदनन्तर इस्लाम के प्रचार से बौद्ध धर्म शिथिल पड़ गया। अतः "बौद्ध उन देशों से निकाल दिये गए और वे बल्ख से पूर्व के देशों में जा बसे।"[५]

---

[१] तारीख मुलकुल (बर्लिन), पृ० ७, देखिए, अरब और भारत का सम्बन्ध, पृ० १०९।

[२] इब्न नदीम, अलफेहरिस्त, पृ० ३४५; देखिए, अरब और भारत का संबंध, पृ० १८०।

[३] सुलेमान सौदागर का यात्राविवरण, पेरिस, १८११, पृ० ५७; देखिए, वही पृ० १८४।

[४] Albiruni's India, Vol. I, p. 21.

[५] वही।

बौद्ध भिक्षु आज गेरुए रंग का लाल वस्त्र धारण करते हैं। अलबीरूनी के समय में भी ये 'श्रमण' लाल वस्त्र ही पहनते थे।[१]

तत्कालीन भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव हिन्दू धर्म की तुलना में कम था। जहाँ-तहाँ बौद्ध विहार और चैत्य भी थे। यह सही है कि हिन्दू मंदिरों की अपेक्षा बौद्ध विहारों का निर्माण बहुत कम हुआ। उत्तर भारत में नालन्दा, विक्रमशिला, उदंतपुरी और मुंगेर के निकट बौद्ध विहार थे। दक्षिण में अमरावती बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र था। अभिलेखों से विदित होता है कि कुछ प्रसिद्ध बौद्ध विहार उत्तरी और पूर्वी बंगाल में थे। जगद्दल, सोमपुर, दवीभेट, विक्रमपुरी (ढाका), पट्टिकेरक (कोमिल्ल), पंडित विहार (चटगाँव) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। उत्तर प्रदेश में सारनाथ[२] और जेतवन[३] प्रमुख थे।

राजतरंगिणी से विदित होता है कि कश्मीर में अनेक विहार थे। दिद्दा, दूंददेवी भवन, चंकुण, रत्नदेवी, सुल्ल, बिज्ज, वितस्ता नदी के निकट के विहार अधिक प्रसिद्ध थे।[४] कश्मीरी मंत्री रिल्हण की पत्नी सुस्सला ने बौद्ध छात्रों के लिए विशाल कक्ष बनवाये थे।[५] महाकवि क्षमेन्द्र ने अपने 'दशावतार' ग्रंथ में महात्मा बुद्ध को एक अवतार के रूप में प्रतिष्ठित किया है[६] तथा 'बोधिसत्वावदानकल्पलता' में भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्मों से सम्बद्ध पारमितासूचक आख्यानों का पद्यबद्ध वर्णन किया है।[७]

विपुलश्री के नालन्दा अभिलेख से विदित होता है कि महेन्द्रपाल (९०० ई०) के चौथे वर्ष में बौद्ध विहार का जीर्णोद्धार कराया गया था।[८] लक्ष्मनसेन के पचासवें वर्ष में ब्राह्मण दामोदर ने गया में विहार बनवाया था।[९] वल्लभी के बौद्ध विहार का पता कथासरित-सागर से चलता है।[१०]

ऊपर के विवरण के विश्लेषण से स्पष्ट है कि पूर्वमध्ययुगीन भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव नाममात्र का था तथा फलस्वरूप तद्युगीन अरब लेखकों ने भी इसके प्रति कोई विशेष रुचि नहीं दर्शित की।

—:०:—

---

[१] वही, पृ० १५८।

[२] Epigraphia Indica, IX, 328.

[३] Ibid, XI, 24, Indian Antiquary, XVII 62.

[४] राजतरंगिणी, ७.१२१, ८ २४६, ५८०, ११७१-७२, २४०२, २४१०, २४१५, २४१७, २४३१, ३३१८, ३३४३, ३३४४ आदि।

[५] वही, ८·२४१५-१६, श्रीचङ्कुणविहारं या यातं नामावशेषताम्।
अश्मप्रासादवेश्मादिकर्मणा निर्ममेऽधुना॥
अरघट्टप्रबन्धान्धुच्छात्रशालादिकर्मभिः।
तस्याः सम्पूर्गतां पुण्यप्राकारा निखिला गताः॥

[६] Keath, A.B. : A History of Samskrit Literature, p. 159.

[७] बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २५१।

[८] Epigraphia Indica, XXI, 99, Verse 7,

[९] History of Bengal, Vol. I, p. 232.

[१०] कथासरित्सागर, ३२·४२-४३।

समाचार-पत्र और जनमत

गिरिजा शंकर सिंह

जिस प्रकार समाचार-पत्र समाज को प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार समाज भी समाचार-पत्रों को भी प्रभावित करता है। समाचार-पत्रों में प्रकाशित तथ्यों के प्रभाव से संबंधित विभिन्न विषयों पर विचार के पूर्व यह वांछनीय होगा कि अपने देश में समाचार-पत्रों का जिस ढंग से विकास हुआ है, उसके मौलिक ढाँचे की प्रारम्भिक रूपरेखा प्रस्तुत की जाय। देश के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक इतिहास के अंश के रूप में विकसित सामाजिक संस्थाओं के योगदान से यह ढाँचा प्रभावित है। सामाजिक संस्था के रूप में समाचार-पत्रों का मूल्यांकन करते समय उसके प्रभाव के बारे में विरोधाभास अनिवार्य है, क्योंकि समाचार-पत्रों को दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है—एक तो यह मनाफा कमाने का साधन और निजी उद्योग है, दूसरे ये संचार का ऐसा माध्यम है जिस पर सामाजिक आसूचनाओं के लिए जनता को उस पर निर्भर होना पड़ता है।

अन्य व्यवसायों तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं की ही भाँति भारतीय समाचार-पत्रों में गत अर्द्ध शतक में जो महान् परिवर्तन हुए हैं, उतने उसके पहले के इतिहास में कभी नहीं हुए। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों पर आंशिक या पृथक रूप में समाचार-पत्रों के प्रभाव की जो छाप पड़ी है, अलग-अलग से उनका तर्कसंगत तथा व्यवस्थित सर्वेक्षण कठिन है। समाचार-पत्रों के प्रभाव पर विवेचन, उनकी आलोचना तथा उनके समर्थन से यह समस्या और जटिल हो जाती है।

कुछ प्रमुख अपवादों के अतिरिक्त जब कभी समाचार-पत्रों का व्यापक अध्ययन किया गया, तब-तब या तो उसे अति महत्त्वपूर्ण अथवा महत्वहीन बताया गया है। अधिकतर प्रेक्षकों ने या तो अवैज्ञानिक ढंग से उसकी कटु आलोचना की है अथवा आवश्यकता से अधिक गुणगान किया है। जो यह जानते हैं कि समाचार-पत्र सामाजिक हलचलों के सूचना संग्रह के प्रमुख माध्यम हैं, उनकी इन अध्ययनों के प्रति विशेष रुचि रही है तथा उन्होंने उन्हें, अपवादों के साथ, स्वीकार भी किया है किन्तु पत्रकार के दृष्टिकोण से समाचार-पत्रों का जो सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक महत्व है, उसे मद्दे नजर रखते हुए समाचार-पत्रों के विभिन्न बिखरे हुए क्षेत्रों को श्रृंखलाबद्ध करने का न अभी तक कोई प्रयास हुआ और न जनमत के प्रभाव की समीक्षा एवं महत्व का मूल्यांकन किया गया।

जनमत

सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि जनमत का मतलब क्या है अथवा जनमत से हम क्या समझते हैं ? जनमत की प्रकृति, कार्य-प्रणाली अथवा प्रभाव पर विचार के समय कठिनाई उस समय उत्पन्न होती है जब कि जनमत संग्रह के प्रयास में प्रयुक्त साधनों अथवा माध्यमों को ही लोग 'मत' मान बैठते हैं और इस शब्द का प्रयोग कभी-कभी प्रत्येक व्यक्ति के विचारों अर्थात् किसी विषय पर प्रकट विचारों अथवा कही गई बातों के कुल योग के

लिए करते हैं। कभी-कभी बहुमत द्वारा प्रकट विचारों और उन विशिष्ट विचारों और भाषणों को, जो अन्य प्रकार के विचारों को दबा देते हैं अथवा अन्य प्रकार के विचारों से अधिक प्रभावशाली या दमदार होते हैं, **'जनमत'** समझ लिया जाता है।

जनमत के अभिव्यक्ति का सबसे सरल रूप उस समय दृष्टिगोचर होता है जबकि कोई भावना अनायास मस्तिष्क में उमड़ पड़ती है और उसका साक्षात्कार होने पर अथवा उसके बारे में किये गये कार्यों या कही गई बातों को सुनकर वह साधारण व्यक्ति के मुँह से निकल पड़ती है। किसी भी विषय पर 'कोई भी व्यक्ति (हर व्यक्ति नहीं) यही कहता है' यह जनमत का प्रारम्भिक और बुनियादी रूप है अर्थात् किसी घटना से उत्पन्न स्वाभाविक और सामान्य विचार अथवा इच्छा ही जनमत का प्रारम्भिक रूप है। किन्तु सरकार पर जनमत का प्रभाव पड़ने के पूर्व उसे कई स्थितियों से गुजरना पड़ता है। विभिन्न युगों और विभिन्न देशों के अनुसार ये स्थितियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं।

'जनमत' निर्धारण की प्रक्रिया

मान लीजिए, कोई व्यापारी सुबह के नाश्ता के समय समाचार-पत्र में पिछले दिन की घटनाओं को पढ़ता है। वह पढ़ता है कि भारत सरकार ने भारतीय उद्योगों के संरक्षण की नीति घोषित की है अथवा उत्तर-प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया है। इन घटनाओं की पसन्दगी अथवा नापसन्दगी के बारे में उसके मस्तिष्क में भावनायें उठेंगी। इन घटनाओं के संबंध में अपनी पहले की रुचि अथवा धारणाओं और वस्तुतः उनके संबंध में अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के आधार वह इन घटनाओं को या तो पसन्द करेगा अथवा नापसन्द करेगा। उन घटनाओं के सम्भाव्य परिणामों के बारे में उसके मस्तिष्क में अटकलबाजियाँ भी उत्पन्न होंगी। न तो वे भावनाएँ ही और न वे प्रत्याशाएँ ही सुविचारित तर्कों पर आधृत हैं—क्योंकि प्रातःकालीन जलपान के समय सोचने-विचारने के लिए हमारे व्यवसायियों के पास कोई समय नहीं है। उस समय उनके दिमाग पर केवल घटनाओं की छाप रहती है। उसके बाद उनकी आँखें उस समाचार के अग्रलेख अथवा सम्पादकीय टिप्पणी पर गड़ती हैं। अग्रलेख में यदि उनकी धारणाओं का समर्थन किया गया तो उनकी भावनाओं और प्रत्याशाओं को बल मिलता है और उसका उल्टा होने पर वे दुर्बल होती जाती हैं। वह अपने कार्यालय जाता है और वहाँ अपने दो-तीन परिचितों अथवा मित्रों से उन घटनाओं पर चर्चा करता है और यह तौलता है कि उसके दिमाग पर जो हल्की छाप है, उससे वे सहमत हैं अथवा नहीं। अपने कार्यालय में वह अपने साझेदारों से भी चर्चा करता है और अन्य अखबारों को उलट-पलट कर देखता है। उन चर्चाओं तथा अखबारों में कही गई बातों का उस पर और प्रभाव पड़ता है और दोपहर तक उसके दिमाग में वे धारणायें निश्चित **'मत'** का रूप लेने लगती हैं, जिनके आधार पर वह सरकार की घोषणा अथवा राष्ट्रपति शासन की या तो निन्दा करता है अथवा उन्हें पसन्द करता है। इस बीच अन्य व्यक्तियों विशेषकर उन पत्रकारों, जिनका काम ही है जनता के विचारों का पता लगाना, के दिमागों पर भी उसी प्रकार की प्रक्रिया होती रहेगी। सायंकालीन पत्र प्रातःकालीन पत्रों के विचारों अथवा मतों को संकलित कर जब प्रकाशित होंगे, उस समय उन घटनाओं के परिणामों की भविष्य-वाणी करने में उनमें और निश्चितता होगी। दूसरे दिन प्रमुख समाचार-पत्र ऐसे लेख

प्रकाशित करेंगे, जिनमें उन घटनाओं की स्वीकृति अथवा निन्दा और उनके परिणामों की भविष्यवाणी के संबंध में और निश्चित विचार सन्निहित होंगे। अब तक साधारण जनता के जो विचार अनिश्चित और अस्थिर थे, वे ठोस मत के रूप में परिवर्तित होने लगेंगे। जनमत की यह दूसरी स्थिति है। उसके बाद बहस, तर्क-वितर्क और मतभेद प्रारम्भ होते हैं। राष्ट्रपति शासन के समर्थक विरोधियों से तर्क-वितर्क करने लगते हैं। वे यह जानने की कोशिश करते हैं कि कौन उनके मित्र और कौन उनके शत्रु अथवा विरोधी हैं। दलीलें पेश कर जनता का अधिक से अधिक झुकाव अपने-अपने पक्ष की ओर करने का प्रयास किया जाता है। जिन व्यक्तियों के बारे में ऐसा समझा जाता है कि उनका अपना कोई मत नहीं है अथवा उनमें मत निर्धारण की कोई क्षमता नहीं है या मत निर्धारण के मामले में उतने जागरुक नहीं या दुर्बल हैं; उन्हें अपने पक्ष की ओर घसीटने का प्रयास किया जाता है; और जिन व्यक्तियों के बारे में ऐसा समझा जाता है कि उन पर कोई दाल नहीं गलेगी अथवा मत निश्चित करने के बारे में वे प्रौढ़ हैं या मजबूत दिमाग के हैं, उनके बारे में ऐसा प्रयास किया जाता है कि अपना वे कोई निश्चित पक्ष ग्रहण करें या किसी एक पक्ष की ओर हो जाँय अथवा तटस्थ या निष्क्रिय हो जाँय। यह तीसरी स्थिति है। जनमत चौथी स्थिति को उस समय प्राप्त होता है जब की काररवाई करना आवश्यक हो जाता है। जब किसी नागरिक को वोट देना होता है तो वह किसी पार्टी के सदस्य या मतदाता की हैसियत से वोट देता है। जिस पार्टी के प्रति वह निष्ठावान है उसका उस पर अंकुश रहता है और उसमें उत्पन्न संदेह तथा विकर्षण अथवा अनिच्छा को दूर करता है। मत-केन्द्रों तक व्यक्तियों को लाना, सड़क पर नये-नये बिछाये गये कंकड़ों पर स्टीम रोलर चलाने के समान है। जिस प्रकार स्टीम रोलर उबड़-खाबड़, इधर-उधर छितराये कंकड़ों को दबा कर समतल कर देता है उसी प्रकार परस्पर विरोधी अथवा छितराये विचार दब कर एक समान हो जाते हैं। एक बार वोट डाल देने पर ऐसा समझ लेना चाहिए कि उसने काररवाई कर दी है। अब उसकी एकमात्र दिलचस्पी यह रह जाती है जिस मत को वह कायम करना चाहता है उसका समर्थन किया जाय। मतदान के पूर्व मत कई प्रकार के रहते हैं किन्तु वोट डालने के बाद वे दो ही प्रकार के रह जाते हैं। उनमें से एक मत ऐसा होता है जिसकी विजय होती है और अन्य दूसरे मतों की पराजय हो जाती है। जिस प्रक्रिया से मत का निर्माण होता है उसकी जाँच करने पर यह पता चलेगा कि मतदान के लिए जाते समय किसी भी साधारण व्यक्ति के मत अथवा उसके छोटे से छोटे अंश का निर्माता वह स्वयं है। प्रारम्भ में उस पर जो छाप पड़ी थी वह धुँधली और शायद आकृतिहीन थी, बाद में जैसे-जैसे वह सुनता या पढ़ता गया, परस्पर संपर्क में आता गया उसके विचार ठोस और निश्चित होते गये। उससे बार-बार कहा गया कि कौन-सा मत ग्रहण करना चाहिए और क्यों करना चाहिए। बाह्य साधनों से उसके समक्ष दलीलें पेश की गईं और मतभेदों के आघात-प्रतिघात से उसके दिमाग में कोई मत ठूस दिया गया अथवा घर कर गया। यद्यपि वह समझता है कि वे मत उसके अपने हैं, तथापि यह मानना पड़ेगा कि उसके मत निर्धारण में उसके परिचितों का सबसे अधिक योगदान है क्योंकि वे भी उसी प्रकार का मत रखते हैं। हर व्यक्ति का किसी-न-किसी उक्ति अथवा मुहावरे या नारे या कथन में विश्वास रहता है और वह उसका

बार-बार प्रयोग करता रहता है क्योंकि उसकी धारणा है कि उसके पक्ष के हर व्यक्ति का उन उक्तियों आदि में विश्वास है। वास्तविकता यह है कि वह व्यक्ति जिस मत में विश्वास करता है उसका अल्पांश ही उसके अपने दिमाग की उपज है, उसमें से अधिकांश या बहुलांश का निर्माण तो एक दूसरे से मिलने-जुलने और उस जन समुदाय की, जिनमें व्यक्तिगत विचार या धारणा के आधार पर विशुद्ध व्यक्तिगत मत अथवा विश्वास की मात्रा कम ही होती है, सामूहिक काररवाई और धारणा या प्रभाव के कारण होता है।

जब कोई महत्वपूर्ण घटना होती है और उसके बारे में मत निर्धारण का सवाल उठता है तो उस घटना की किसी व्यक्ति के मस्तिष्क पर जो छाप पड़ती है, उसमें पहले से वर्तमान परम्पराओं, आचरणों या स्वभावों, सिद्धान्तों या रूढ़ियों का योगदान रहता है और उस समय तक उसके मत निर्धारण में वे ही सहायक होते हैं। किन्तु वे मुख्यतः प्रथम छाप उत्पन्न करने तक कारगर होती हैं और एक साथ ही अनेक व्यक्तियों के दिमाग को प्रभावित करती हैं। विभिन्न प्रकार के मत और स्वतंत्र मत उत्पन्न करने की उनमें क्षमता नहीं होती। साथी, नेता तथा समाचार-पत्र हर व्यक्ति पर जो प्रभाव डालते हैं उनके आगे उन्हें शीघ्र झुक जाना पड़ता है।

रूढ़िवादी जनतंत्रीय सिद्धान्त की यह धारणा है कि हर व्यक्ति को स्वयं अपने मत का निर्माण या निर्धारण करना चाहिए या स्वयं अपना कुछ मत रखना चाहिए अर्थात् देश को जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, देश के प्रशासन में किन सिद्धान्तों को लागू किया जाय और किन व्यक्तियों के हाथों में सरकार सौंपी जाय, उनके बारे में हर व्यक्ति का दलीलों पर आधृत अपना निश्चित मत होना चाहिए। किन्तु जनमत के प्रतिनिधियों या जनता के नेताओं से यदि पूछा जाय कि औसतन १०० में कितने ऐसे व्यक्ति हैं जिनमें मौलिक विचार या स्वतंत्र विचार के सर्जन की क्षमता है अथवा कितने व्यक्तियों में अपने निजी विचार या मत हैं। या कितने लोगों के राजनीतिक अथवा सामाजिक विश्वासों में यथार्थता या एकरूपता है तो पता चलेगा कि उनमें से ९८ व्यक्तियों में उसका सर्वथा अभाव है। वे किसी नेता या पार्टी अथवा गुटों के लिए अपनी पहले की रूचियों, अरूचियों, उक्तियों, नारों अथवा पूर्वाग्रहों द्वारा परिचालित होते हैं। ऐसी बात नहीं है कि वे ९८ व्यक्ति अच्छी दलीलों को ग्रहण करने में अक्षम हैं अथवा उनमें उन दलीलों को ग्रहण करने की इच्छा नहीं है। इसके विपरीत और विशेषकर श्रमजीवी वर्ग के बारे में यह सही है कि उनमें से कोई भी श्रोता उस समय प्रसन्न होता है जब कि उसके समक्ष ठोस दलील या तर्क पेश किये जाते हैं अथवा वह प्रसन्नतापूर्वक उन दलीलों को सुनता है। तथ्यों और विचारों से पूर्ण लेखों और परचों को वे उत्सुकता और रुचि के साथ पढ़ते हैं किन्तु असलियत यह है कि हर स्थान हर देश में मानव के बड़े समुदाय या अधिकांश व्यक्तियों में जीवन की रुचि के विषयों में सार्वजनिक समस्याओं को तीसरा या चौथा स्थान प्राप्त है और उन पर विचार करने में वे अपने अवकाश के तिहाई या चौथाई से अधिक समय व्यतीत नहीं करते। इसलिए जनता विचारों से अधिक भावनाओं द्वारा परिचालित होती है। ऐसा हो सकता है कि वे भावनायें कुछ व्यापक धारणाओं या तथ्यों तथा दलीलों या तर्कों की सामान्य श्रृंखला पर आधृत हों। न्याय, सम्मान और

शांति का प्रश्न उपस्थित होने पर यदि उनके सामने विभिन्न प्रकार के तथ्य उपस्थित कर दिये जांय तो भी अपना रुख ग्रहण करने में वे विवेक से अधिक भावनाओं का सहारा लेंगे।

एक ऐसे युग में जब कि राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण के माध्यम प्रतीक और भावनायें बन गई हैं और समाज की कार्यविधि या कारोबार तात्पर्यों या अभिप्रायों के सामूहिक प्रचार या तात्पर्यपूर्ण सामूहिक सम्पर्क पर आधृत हो गये हैं, जनमत और समाचार-पत्र का क्षेत्र वैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों और नागरिकों के लिए समान रूप से अध्ययन का केन्द्रीय विषय या महत्वपूर्ण विषय बन गया है। वह समय आ गया है जब कि सैद्धान्तिक और विद्वान् उसके मौलिक सिद्धान्तों या तथ्यों की व्यापक खोज करें और उस पर व्यावहारिक नियंत्रण के लिए उसमें जनता के सब सदस्य या हर व्यक्ति अधिकाधिक रुचि रखें।

समाज-विज्ञान के विषय में जनमत का क्षेत्र अपना वैचित्र्यपूर्ण विशिष्ट स्थान रखता है क्योंकि अभी तक इस क्षेत्र में बहुत कम विद्वानों ने विशेषज्ञता प्राप्त की है। वर्तमान औद्योगिक समाज में हर विषय के विशेष अध्ययन की जो व्यवस्था है उसके मानकीकरण के अनुसार सामाजिक आचरण से संबंधित विज्ञानों का हमने विभाजन कर दिया है। दुर्भाग्य या सौभाग्य से जनमत से संबंधित समस्याओं का अभी तक विशेष अध्ययन नहीं हो सका है। समाज वैज्ञानिकों में इन समस्याओं के प्रति रुचि जागरित हुई है तथा उन्होंने मिलकर इन समस्याओं के समाधान में योगदान किया है। हमारा विश्वास है कि जनमत के क्षेत्र पर तथा समाचार-पत्रों की भूमिका पर वैज्ञानिक अध्ययन हो सकता है क्योंकि नियंत्रित स्थितियों के अंतर्गत मानवीय आचरण तथा उसके विभिन्न पहलुओं के आँकड़े एकत्र किये जा सकते हैं। सामाजिक संस्थाओं और मानव के आचरण में जो वैचित्र्य और विभिन्नतायें हैं उनका अनुमान लगाया जा सकता है अथवा उन्हें कूता जा सकता है और उन पर प्रयोग किया जा सकता है।

———

परम्परा और आधुनिकता

डॉ० नन्दकुमार राय
लेक्चरर, हिन्दी विभाग

'परम्परा' और 'आधुनिकता' दो ऐसे शब्द हैं, जिनकी आत्यन्तिक चर्चा प्रायः हर साहित्य में उसके संक्रान्ति काल में हुआ करती है। 'नये' और 'पुराने' का यह झगड़ा बराबर से लगा रहता है। इसका मूल कारण यह माना जा सकता है कि हर व्यक्ति, चाहे वह 'नया' हो या 'पुराना', अपने 'अहं' के स्वतः अस्तित्व की सतत् कल्पना और चेष्टा किया करता है। यह 'अहं' व्यक्तित्व तथा रचनात्मक वैशिष्ट्य का ज्ञापक होता है। प्रायः हर समाज में पुराना व्यक्ति अपनी उम्र का लिहाफ ओढ़े; नये पर हुंफने का आदी हो जाता है और बात-बात में काल की दूरी में अर्जित अपने अनुभव की टेक्रात्मक चर्चा किया करता है। ऐसी विषम स्थिाति में नये व्यक्ति के लिए पृथक् घिरौंदा वनाकर अपना अभिनय करना स्वाभाविक (और कभी-कभार आवश्यक) सा हो जाता है। तात्पर्य यह कि 'परम्परा' से बेरहमी के साथ कटकर 'आधुनिकता' और प्रायोगिक नवीनता की आये दिन जो ज़ोरदर चर्चा होती है, उसका कुछ दायित्व तो नये लोगों से सम्बद्ध होता है, पर अधिकांश पुराने लोगों के कन्धे पर फेंका जाना चाहिए; क्योंकि पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी को प्रायः तरज़ीह नहीं दे पाती और उसी प्रकार फैशनपरस्त नयी पीढ़ी भी पुरानी पीढ़ी की सत्ता को न केवल अस्वीकार ही करती है, प्रत्युत कभी-कभी उसपर हावी भी हो जाना चाहती है। अतिरेक की स्थिति-द्वय के मूल में 'स्व' अथवा 'अहं' का केन्द्रीभूत व्यामोह ही माना जायगा।

'परम्परा' और 'आधुनिकता' शब्द सामान्य तौर पर दो अर्थों में प्रयुक्त किये जाते हैं। एक अर्थ केवल काल-सापेक्ष है और दूसरा, विचार व चिन्तन-सापेक्ष। 'परम्परा' का सम्बन्ध जहाँ काल की ऐतिहासिक शृंखलाओं से है, वहाँ 'आधुनिकता' नूतनता का समानार्थी है अर्थात् 'परम्परा' जहाँ वर्त्तमान से इतिहास (अथवा अतीत) को जोड़ती है, वहाँ 'आधुनिकता' इतिहास और अतीत से बेरहमी के साथ कटकर पृथक् होकर, वर्त्तमान अथवा नवीन की उद्घोषणा करती है। यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि हर युग की अपनी पृथक् 'आधुनिकता' होती है; क्योंकि उसका 'वर्त्तमान' अपना होता है—अपने विशिष्ट ढंग का होता है। किन्तु काल के गतानुगतिक निर्मम पैर उसे रौंद कर आगे निकल जाते हैं और उस पर 'अतीत' का 'लेव्ल' चिपका दिया जाता है। स्पष्ट है कि प्रायः हर युग का अपना वर्त्तमान होता है और पुनः उस पर आधृत आधुनिकता परिकल्पित होती है, जो बाद में ऐतिहासिक बोध की वस्तु होकर 'परम्परा' का रूप धारण कर लेती है। उदाहरण के लिए रीतिकालीन काव्य-धारा कभी 'आधुनिक' थी, पर आज की सबल वर्त्तमान आधुनिकता के सन्दर्भ में वह खासा रीतिपरक अथवा परम्परित ही मालूम होती है। इसी प्रकार छायावाद और प्रगतिवाद अभी हाल तक आधुनिक माने जाते रहे हैं, पर आज के क्षणवादी दर्शन ने उसे 'परम्परित'; अतः त्याज्य घोषित कर दिया है। इस प्रकार, निष्कर्ष यह हाथ लगता है कि इतिहास व (मुख्य रूप से) काल के प्रत्यावर्त्तन के कारण 'परम्परा' और 'आधुनिकता' का स्वर और भेद उठाया जाता है।

दूसरा और प्रमुख तात्विक अर्थ विचार व चिन्तन-सापेक्ष है, जिसके अनुसार 'परम्परा' और 'आधुनिकता' का प्रयोग प्रायः दो परस्पर विरोधी चिन्तन-दृष्टियों के लिए करते हैं। हर व्यक्ति सामान्यतः अपनी समसामयिक चिन्तन-दृष्टि और जीवन-दर्शन से प्रभावित होता है तथा दूसरी ओर पूर्वानुभव आदि के रूप में उसमें पुरातन संस्कार भी काम करते हैं। हर काल-खण्ड की अपनी आधुनिकता होती है। परम्परा का एक प्रवाह है—चिन्तन-दृष्टि और विधि का प्रवाह, जिसकी शुरुआत किसी-न-किसी प्रभूत प्रत्यय से होती है। एक ही विशिष्ट प्रत्यय जब दीर्घ काल-प्रवाह में संतरण करने लगता है, तब 'परम्परा' का निर्माण होता है और वैसी ही दशा में उसमें ऐतिहासिक अर्थ का नियोजन होता है। किसी भी प्रत्यय अथवा चिन्तन-दृष्टि की क्षिप्रता और भाव-संकुलता जब प्रच्छन्न हो जाती है, तब वे प्रत्यय 'आधुनिक' संदर्भ में भाव-बोध के लिए कारगर नहीं हो पाते। ऐसी ही संक्रमण की स्थिति में प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है।

'प्रयोग', वस्तुतः 'आधुनिकता' का प्रस्थान-बिन्दु है। 'परम्परा' जब जड़ीभूत और रूढ़ हो जाती है, तब उसमें निष्क्रियता आ जाती है, साथ ही काल की लम्बी दूरी तय करने के बाद जब वह मानवीय संवेदना को उकसाने में सक्षम नहीं हो पाती, तब 'नये प्रयोग' की आवश्यकता महसूस होने लगती है, और पुनः उसका प्रायोगिक संधान भी होता है। 'प्रयोग' की जहाँ 'नवीनता' होती है, वहीं उसे 'आधुनिकता' का समानार्थी और कभी-कभी तो उसे ही 'आधुनिक' (तक) मान लिया जाता है अर्थात् 'परम्परा' से इतर होकर जो मूल्यगत नवीन प्रयोग होते हैं, वे ही 'आधुनिक' कहलाते हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि कालांतर में जो भी 'प्रयोग' होते हैं, वे सभी के सभी वर्तमान संदर्भों और परिप्रेक्ष्य में ही। साथ ही, प्रायः सभी 'प्रयोग' 'परम्परा' के विरुद्ध होते हैं। फिर भी, 'प्रयोग' का 'परम्परा' से कोई लगाव नहीं होता; ऐसी बात नहीं; क्योंकि 'परम्परा' से ही प्रत्यय ('आइडियाज़') ठोस और संश्लिष्ट बनते हैं। अगर न भी बनें, तो इतना तो जरूर है कि 'प्रयोग' के लिए प्रयोक्ता (रचनाकार) 'परम्परा' से इतर होकर नयी जमीन तैयार करता है, किन्तु इसके लिए भी तो पूर्वागत परम्परा के ज्ञान की आवश्यकता होती ही है—और नहीं, तो ऐतिहासिक चेतना तो किसी-न-किसी रूप में कारगर ज़रूर होती है; अन्यथा 'प्रयोग' नूतन न होकर मात्र आवृत्तिपरक शेष रह जाय, जिसका प्रभाव 'शून्य' से कुछ अधिक संभव नहीं।

काल-प्रवाह के साथ ही चिन्ता और दर्शन का दौर भी परिवर्तित होता चलता है। 'प्रयोग' की आवश्यकता, वस्तुतः तब होती है, जब काल का युगवत् सम्बन्ध चिन्तन और जीवन-दृष्टि से रह नहीं जाता। दूसरी बात यह है कि नये सन्दर्भों के जुड़ने के बाद भी केवल पुरातन और 'परम्परित' बोध ही रूढ़िवत ढोये जाने लगते हैं, तब निश्चय ही उनमें जीवन्त तत्व नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में नये, चेतन और प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए यह अनिवार्यतः स्वाभाविक हो जाता है कि वह पुरातन संस्कारों, परम्परित रूढ़ियों और मूल्यहीन दृष्टियों को सर्वथा त्यागकर नये सिरे से जीवन-मूल्य की स्थापना और उसके विकास के प्रयोग के प्रति आग्रहशील हो। जहाँ वह इसके लिए सचेष्ट होता है, वहीं वह परम्परा-मुक्त होकर नये सन्दर्भों, नये परिवेश और नये जीवन-मूल्य से आबद्ध हो जाता है और फिर, उसे ही 'आधुनिक' नाम से अभिहित करते हैं। अद्यतन मानव के लिए

'मनुस्मृति' के नियमों का सर्वांशतः अनुकरण करना संभव नहीं हो सकता और न अन्ध-विश्वासों के प्रति आस्थावान होना ही है। विज्ञान के नये प्रयोग और अनुसंधान तथा दर्शन और मनोविज्ञान—विज्ञान के प्रत्यय, विचार और ठोस दृष्टिकोण आज उसकी चेतना और मनीषा को सुगबुगाने में अधिक सक्षम हो सकते हैं। अतः नये चिन्तन के प्रति विवेकपूर्ण प्रतिक्रिया और अपेक्षाकृत आग्रहशील होना आज के मानव की 'आधुनिकता' मानी जा सकती है।

'परम्परा'—रूढ़िग्रस्त व जड़ीभूत 'परम्परा को जहाँ नकार कर अथवा प्रयोग के माध्यम से उसे उरेहने की कोशिश की जाती है, वहाँ मूलतः जीवन-मूल्य और प्रत्यय ही आधार व प्रतिमान का काम करते हैं। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा ऐसी ही अनेक परिस्थितियाँ मनुष्य के विचारों को आन्दोलित और परिवर्तित करती हैं, जिसके फलस्वरूप उसकी चिन्तन-प्रणाली में भी अन्तर दीखने लगता है। मनुष्य कभी तो परिस्थितियों के अनुरूप अपना अभियोजन करता है और कभी-कभी परिस्थितियों को अपने अनुकूल परिवर्तित करने की चेष्टा करता है, हालां कि ऐसी चेष्टा के लिए उसे अत्यन्त संघर्ष—दैहिक व मानसिक संघर्ष (भी) करना पड़ता है। जहाँ परिस्थिति को वह नकारने या यूं कहें कि मोड़ने का उपक्रम करता है, वहाँ उसका 'प्रयोग' अत्यन्त प्रबल और सही अर्थ में 'आधुनिक' होता है : क्योंकि इसमें परम्परित रूढ़ियों के प्रति बौद्धिक विद्रोह अनिवार्यतः होता है।

'आधुनिकता' सामान्यतः दो प्रकार की होती है—एक, सामयिक व समकालीन और दूसरा, शाश्वत अथवा दीर्घकालीन। पहले प्रकार की अर्थात् सामयिक आधुनिकता में वर्त्तमान युग-बोध और भाव-बोध की अनुगूंज सुनाई पड़ती है, जब कि शाश्वत ढंग की आधुनिकता के अन्तर्गत जीवन के नैतिक, सांस्कृतिक अथवा ऐसे ही किसी महान् मूल्य का निदर्शन होता है। दूसरी बात यह है कि पहले प्रकार की आधुनिकता में समकालीन सन्दर्भों की क्षणवादी व्याख्या होती है, तो दूसरे प्रकार की 'आधुनिकता' टटके क्षण को अपने आप में समाहित करती है अर्थात् 'आधुनिकता' वर्त्तमान को पूर्णतः समेटकर भविष्योन्मुखी होती है। अद्यतन मानव की सबसे बड़ी समस्या और उसका युग-सत्य है—युद्ध की विभीषिकाओं की संवेदना, निराशा, कुंठा और संत्रास, जिसकी अभिव्यक्ति आज स्वाभाविक है। वैसे निराशा, कुंठा और संत्रास हमारे लिए यथार्थ-बोध भी हैं, किन्तु साहित्यकार चूंकि एक विशिष्ट परिष्कार के साथ जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में उसकी ज्ञप्ति करता है, अतः सामयिक बोध की भी अपनी 'आधुनिकता' होती ज़रूर है. फिर भी ये वस्तुतः अनुभूति के तत्व मात्र हो सकते हैं—मूल्य नहीं। शाश्वत ढंग की आधुनिकता में जीवन के प्रभूत तत्वों, नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक तत्वों की उद्भावना रहती है। इसीलिए ऐसे तत्वों से निष्पन्न 'आधुनिकता' दीर्घ काल तक प्रेषणीय और ग्राह्य मालूम पड़ती है, जब कि सामयिकता-प्रधान आधुनिकता दूध-भरे घड़े की बफ़ान की तरह बढ़-घट कर पुनः समाप्त हो जाती है।

सांस्कृतिक मूल्य बराबर स्थिर नहीं होता। मूल्यों की संघटना और उसके विघटन का उपक्रम हर काल-खंड में चलता रहता है। इसलिए हर युग की; यहाँ तक कि हर

देश की अपनी पृथक संस्कृति होती है। इसका मूल कारण देश और काल की परिस्थिति, चिन्तन-स्तर और परिवेश आदि माना जा सकता है। चूँकि मानव-मूल्य बदलता है, इसलिए 'संस्कृति' की भी विघटनपूर्ण संघटना होती है। उस परिवर्तन-क्रम के कारण समकालीन व सामयिक 'आधुनिकता' भी बदलती रहती है। अतः इससे सिद्ध यह होता है कि सही अर्थों में 'आधुनिकता' ठोस, स्थिर और जड़ात्मक न होकर प्रायः गत्यात्मक, परिवर्तित, प्रयोग-सम्मत, बौद्धिक संवेदनशील होती है।

———

Dr. U. C. NAG—A TRIBUTE

T. N. S.

Dr. Nag is no longer in the world of the mortals. To his innumerable friends, admirers and students his passing away on Friday, the 13th of December, 1968 would mean the end of a glorious tradition in the academic life of our universities. With his varied talents and an impressive personality that imparted an air of distinction to him even in large gatherings, he could have surely competed successfully for the coveted administrative service if only he had set his heart on it. But, then, he knew his destiny and would not play false with it for the glamour of administrative position or material success. He was a born teacher and a teacher in the real sense of the term is the maker of men. Teaching for him was not a profession but a mission. With a comparatively smaller number of students in the post-graduate classes about two decades ago, there were greater opportunities of intimate contact between the teachers and students and Dr. Nag left the mark of his noble personality on all those who had the privilege of coming close to him. Dignified in appearance as well as in conduct, he represented the noblest values of life and became to his students an ideal worthy of emulation. The link that his pupils forged with him during the period of their education did not snap even after their departure from the University. An evidence of their great love and respect for him was provided by the simple but solemn function they organised to celebrate their Guru's completion of twenty years' service in the Banaras

Hindu University in 1948. It was in a sense a family reunion reminiscent of the ancient guru-kula tradition.

Born in 1890, Dr. Nag took his M.A. degree in English from the Presidency College, Calcutta, in 1912. After serving a period of apprenticeship, so to say, in some reputed institutions like the Scottish Church College and the Vidyasagar College, he joined Dacca University as a lecturer in English in 1921. In 1925 he went to London University for research under Prof. Allardyce Nicoll, a scholar of established reputation in dramatic criticism. The subject of his Ph.D. dissertation was the nineteenth century poetic drama. A proof of the scholarly nature of Dr. Nag's work is provided by a number of references Prof. Nicoll makes to it in his volume on the English drama of this period.

He had not been at Dacca for more than a year after his return from London when Mahamana Pandit Madan Mohan Malviya, the illustrious founder of the Banaras Hindu University, invited him in 1928 to his own institution as the Professor and Head of the Department of English. In the material sense of the term the offer could not have been very alluring. The Banaras Hindu University, however, was the embodiment of a splendid vision and the man who had turned that vision into reality needed the help and cooperation of the best talents in the country. The thrill of working under Malviyaji for a purpose very much higher than that of mere bread-earning brought Dr. Nag to Banaras and he served the Banaras Hindu University for full twenty-two years in a spirit of total dedication. As his relationship with the University was based on a complete identity of values, he continued taking interest in its academic life even after his retirement in 1950. Only about three years back he made a generous donation of about a thousand books to the seminar library of the Department of English and this gift has proved an extremely valuable acquisition to the Department both from the point of view of post-graduate studies and research.

Literature, according to Dr. Nag, was a vital and dynamic aspect of human culture. To approach it in a purely academic
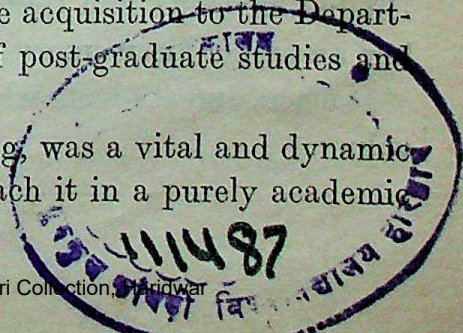
spirit was to lose sight of its grandeur and profundity on the plane of values. While he was as sensitive in his response to the aesthetic appeal of art as any connoisseur can be, his lectures on literature provided, in addition, a lucid and comprehensive view of the larger social life of the age. Whether he dealt with a major writer or a minor one, he would always present him in a wider historical perspective. Listening to him from day to day, one inevitably developed the concept of literature being a wholesome moral discipline.

For ten years, from 1940 to 1950, Dr. Nag was the Principal of the Central Hindu College, the oldest and the biggest unit of the Banaras Hindu University. With his punctilious sense of order and discipline, he gave a new orientation to its administration. Essentially human in his approach to the problems of students, he did not mind being tough when the occasion called for a firm handling of a case. All the same, he was never misunderstood by the student community which knew that his intention in being tough was to correct the erring and not to punish.

Dr. Nag was a brilliant teacher; but to listen to his informal talk among close friends too was an exhilarating experience. With his large fund of anecdotes and a refined sense of humour he could keep the attention of his hearers engaged for any length of time. He was full of information on an amazingly wide range of subjects and even his informal chat proved to be of great educative value.

By a strange coincidence he was born on Vasant Panchami which happens to be the foundation day of the Banaras Hindu University and died on the day the University community was preparing to celebrate the birth anniversary of Malviyaji. He formed part of a glorious tradition in the history of the Banaras Hindu University and though death has removed him from the human scene, his memory will continue to inspire generations of teachers and students who believe in the sanctity of academic values.

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

१. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।

२. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोमुखी उन्नति करना।

३. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-संपदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प-कलादि संबंधी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।

४. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTS OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit Literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India,

2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches,

3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country : and

4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.